ISBN: 978-93-80282-62-6

बौद्ध दर्शन प्रस्थान प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

CUTS SARNATH 2015

विविध ग्रन्थमाला - 4

बौद्ध दर्शन प्रस्थान

(द्वितीय संस्करण)

ग्रन्थकार

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

केन्द्रीय तिब्बती अध्ययन विश्वविद्यालय
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द - 2558 खीस्ताब्द - 2015

MISCELLANEOUS SERIES - IV

BAUDDHA DARŚANA PRASTHĀNA

(2nd Edition)

Author

Prof. R. S. Tripathi

CENTRAL UNIVERSITY OF TIBETAN STUDIES
SARNATH, VARANAṢI

B.E. 2558 **C.E. 2015**

MISCELLANEOUS SERIES - IV

Chief Editor: Prof. L. N. Shastri
Publication In-charge: Dr. Pema Tenzin

1st **Edition:** 550 Copies, 1997
2nd **Edition:** 500 Copies, 2015

Price Hardback ₹ 310.00
Paperback ₹ 230.00

Published by:
Central University of Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221007 (India)

ISBN: 978-93-80282-61-9 HB
978-93-80282-62-6 PB

Printed at Sattanam Printers, Pandeypur, Varanasi

विविध ग्रन्थमाला - 4

बौद्ध दर्शन प्रस्थान

(द्वितीय संस्करण)

ग्रन्थकार

प्रो॰ रामशंकर त्रिपाठी

केन्द्रीय तिब्बती अध्ययन विश्वविद्यालय
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द - 2558 खीस्ताब्द - 2015

विविध ग्रन्थमाला - 4

प्रधान सम्पादक : प्रो॰ एल॰ एन॰ शास्त्री
प्रकाशन प्रभारी : डॉ॰ पेमा तेनजिन

प्रथम संस्करण : 550 प्रतियाँ, 1997
द्वितीय संस्करण : 500 प्रतियाँ, 2015

मूल्य : सजिल्द ₹ 310.00
अजिल्द ₹ 230.00

प्रकाशक :
केन्द्रीय तिब्बती अध्ययन विश्वविद्यालय, सारनाथ, वाराणसी-221007

ISBN : 978-93-80282-61-9 HB
978-93-80282-62-6 PB

मुद्रक : सत्तनाम प्रिन्टर्स, पाण्डेयपुर, वाराणसी

प्रकाशकीय

(द्वितीय संस्करण)

"बौद्ध दर्शन प्रस्थान" नामक ग्रन्थ भारतवर्ष एवं सम्पूर्ण विश्व में ख्याति प्राप्त पद्मश्री से समलङ्कृत विश्वविद्यालय के शोध विभाग के प्रो॰ रामशंकर त्रिपाठी जी के अमूल्य योगदान का सुपरिणाम है। विशेषकर यह ग्रन्थ हिन्दी में लिखा गया है, जो विद्वानों एवं जनसामान्य जिज्ञासुओं के लिये एक श्रेष्ठतम उपहार है।

इस ग्रन्थ में बौद्ध दर्शन के चार प्रमुख प्रस्थानों की विस्तृत व्याख्या है, यथा— वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक। इनके अनेक अवान्तर भेदों का भी समावेश ग्रन्थ में किया गया है। हिन्दी भाषा में इस प्रकार के विशिष्ट एवं गम्भीर सामग्रियों से युक्त बौद्ध दर्शन का परिचयात्मक ग्रन्थ अत्यन्त दुर्लभ है। गुरुप्रवर द्वारा भरसक प्रयास से तिब्बती स्रोतों का भी उपयोग किये जाने से ग्रन्थ का महत्त्व और अधिक हो गया है। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण सन् 1997 में प्रकाशित किया गया और कई वर्षों से इस ग्रन्थ की समस्त प्रतियाँ भी समाप्त हो चुकी हैं।

आज इस अमूल्य ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण का विनीत जिज्ञासुओं के सामने प्रकाशन करते हुये अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। मैं इस ग्रन्थ के रचयिता पद्मश्री प्रो॰ रामशंकर त्रिपाठी का अभिनन्दन करते हुये आभार प्रकट करता हूँ। साथ ही प्रकाशन अनुभाग के सम्बद्ध सहयोगियों का भी इसके सुचारुपूर्ण प्रकाशन के लिये धन्यवाद एवं आभार व्यक्त करता हूँ।

सारनाथ
2 अप्रैल 2015

प्रो॰ लोसंग नोरबु शास्त्री
निदेशक

प्रकाशकीय

विद्वानों और जिज्ञासुओं के समक्ष संस्थान द्वारा प्रकाशित 'बौद्ध दर्शन-प्रस्थान' नामक ग्रन्थ प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष का अनुभव हो रहा है । इस ग्रन्थ के लेखक बौद्धदर्शन के प्रामाणिक यशस्वी विद्वान् तथा संस्थान के शोध-आचार्य प्रो० रामशङ्कर त्रिपाठी हैं ।

ज्ञात है कि बौद्ध दर्शन के चार प्रसिद्ध प्रस्थान हैं, यथा—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक । इनके अनेक अवान्तर भेद भी हैं । यद्यपि ये सभी भगवान् बुद्ध के वचनों के ही आधार पर आविर्भूत एवं विकसित हुए हैं, फिर भी इनकी व्याख्याएं परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं । इसलिए ये पृथक् दर्शन-प्रस्थान के रूप में मान्य है ।

इन चारों दर्शन-प्रस्थानों में बाह्यार्थता-निर्बाह्यार्थता, ज्ञान साकारता-निराकारता, स्वतः प्रामाण्य-परतः प्रामाण्य आदि प्रायः सभी दार्शनिक मुद्दों पर परस्पर पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप में पुष्कल चर्चा हुई है, जिस तरह छह वैदिक दर्शनों में परस्पर पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप में इन पर चर्चा हुई है । फलतः भारतीय दर्शन और विशेषतः बौद्ध दर्शन समृद्ध और परिपूर्ण हुए हैं ।

हिन्दी में बौद्ध दर्शनों का परिचय देनेवाला यद्यपि यह एक नातिविस्तृत ग्रन्थ है, फिर भी इसमें ऐसी विशिष्ट एवं गम्भीर सामग्री दी गई है, जो इस तरह के अन्य ग्रन्थों में प्रायः दुर्लभ है । लेखक ने तिब्बती स्रोत का भी भरसक उपयोग किया है, जिससे इसके द्वारा बौद्धदर्शनविषयक तिब्बती ज्ञान का भी यथासम्भव प्रामाणिक परिचय मिलता है ।

बौद्ध दार्शनिक विचारों के ज्ञान के लिए यह एक उपयोगी ग्रन्थ है—ऐसा मैं समझता हूँ । एतदर्थ मैं प्रो० त्रिपाठी को साधुवाद देता हूँ ।

संस्थान के प्रकाशन अनुभाग से सम्बद्ध कार्यकर्ताओं को भी मैं साधुवाद देता हूँ, जिन्होंने कम्प्यूटर द्वारा मुद्रण से लेकर प्रकाशन तक की सुचारु व्यवस्था की है ।

भवतु सर्वमङ्गलम्

एस० रिन्पोछे
निदेशक

पूर्व-वाक्

अपने संकल्पित कार्य को सम्पन्न होते देख सम्बद्ध व्यक्ति को जो प्रसन्नता और सन्तोष की अनुभूति होती है, उसका शब्दों में ठीक-ठीक वर्णन नहीं किया जा सकता । प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना का मैंने बहुत पहले संकल्प लिया था । सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में अध्ययन और अध्यापन के काल में ऐसे ग्रन्थ की कमी खटक रही थी । इधर बौद्ध धर्म और दर्शन के जिज्ञासुओं की संख्या भी बढ़ी है । वे एक ऐसे ग्रन्थ की माँग बराबर करते रहते थे, जिसमें बौद्ध दर्शन के सभी प्रस्थानों का परिचय दिया गया हो और जो हिन्दी में हो । यद्यपि कुछ ग्रन्थ ऐसे थे, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि ही उनमें प्रमुख थी, दार्शनिक दृष्टिकोण गौण । इसका कारण भी था, वह यह कि मूल संस्कृत में अध्ययन-सामग्री की कमी थी, साथ ही, परम्परागत ज्ञान का अभाव । सन् १९५९-६० में चीन के अनैतिक, अमानवीय और क्रूर आक्रमण से त्रस्त होकर परम पावन दलाई लामा अपने अनेक अनुयायियों के साथ भारत आ गये । भारत सरकार के आर्थिक सहयोग से कुछ विद्वान् और छात्र संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हुए । सौभाग्य से उनसे हमारा सम्पर्क हुआ, जो आज तक बना हुआ है । विभिन्न दार्शनिक मुद्दों पर विचार-विमर्श के दौरान तिब्बत में सुरक्षित परम्परागत ज्ञान का हमें लाभ हुआ, विशेषतः भोटदेश के महापण्डित, अद्वितीय मनीषी आचार्य चोंखा-पा जी की रचनाओं से ।

भगवान् बुद्ध की यह विशेषता रही है कि उन्होंने सभी लोगों को हमेशा अनुभव में आने वाले दुःख की समस्या से अपना चिन्तन प्रारम्भ किया, न कि रहस्यात्मक आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म आदि किन्हीं गूढ और विवादग्रस्त तत्त्वों से । उन्होंने कहा कि ऐसे रहस्यात्मक प्रश्नों में उलझ कर सम्मुख उपस्थित दुःख की समस्या को आँख-ओझल करना बुद्धिमानी नहीं है । किसी व्यक्ति-विशेष का दुःख भी उनकी चिन्ता का विषय नहीं था, अपितु वे उस व्यापक नियम की खोज में थे, जिससे दुःख उत्पन्न होते हैं । उस नियम को जानने पर ही यह सम्भव था कि दुःख से छुटकारा पाया जा सके ।

इस सिलसिले में वे अनेक लोगों से मिले, उनसे विचार-विमर्श किया, अनेकविध साधनाएं भी कीं, किन्तु अन्त में अपने ही तरीके से उन्हें समाधान सूत्र प्राप्त हुए, जिसे 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहते हैं । वैशाख पूर्णिमा की रात्रि में उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुलोम-प्रतिलोम साक्षात्कार किया । इसके द्वारा वे जान सके कि कैसे संसारचक्र प्रवर्तित होता है और कैसे उससे मुक्त हुआ जा सकता है । प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान ही 'बोधि' है । इसके ज्ञान के अनन्तर ही वे 'बुद्ध' कहलाए ।

जो ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया और जिस मार्ग से किया, दु:खनिरोध के उस मार्ग को बाहर-भीतर बिना कुछ छिपाए यावज्जीवन वे उसका निरन्तर उपदेश देते रहे । इसे ही 'धर्मचक्रप्रवर्तन' कहते हैं । महापरिनिर्वाण से कुछ समय पूर्व उन्होंने सभी भिक्षुओं को अपने पास बुलाया और कहा कि आप लोगों में जिस किसी को भी कुछ विमति या आशंका हो तो पूछ लो, बाद में आपके मन में ऐसा न हो कि शास्ता के जीवित रहते हम उनसे पूछ न सकें, अब किससे पूछें । कोई भी भिक्षु कुछ भी पूछने के लिए नहीं उठा । इसका तात्पर्य यह था कि उनके शिष्यों में सभी कम से कम स्रोत-आपन्न अवश्य थे ।

उन्होंने अपने भिक्षुओं को किसी भी ग्रन्थ को या गुरु के वचन को अन्तिम-प्रमाण मानने से इन्कार किया तथा किसी भी तत्त्व की अन्तिम सत्ता मानने से मना किया । यहाँ तक कि अपने वचन को भी प्रमाण न मानने की उन्हें सलाह दी । इस तरह उन्होंने व्यक्ति के स्वयं विवेक को मान्यता प्रदान की । किसी का अनुकरण या अनुसरण करने वाला व्यक्ति कभी भी स्वतन्त्र एवं अज्ञात तत्त्व का साक्षात् द्रष्टा नहीं हो सकता । उनका कहना था कि सभी पदार्थ सापेक्ष है, निरपेक्ष सत्य कुछ भी नहीं होता । ऐसा कहकर उन्होंने व्यक्ति के ज्ञान को कहीं भी अवरुद्ध नहीं किया और उसे (ज्ञान को) नि:सीम, असक्त, अप्रतिहत एवं व्यापक होने का अवसर प्रदान किया । ऐसा ही ज्ञान 'बुद्धत्व' कहलाता है । बुद्ध जैसा व्यक्तित्व दुर्लभ है । सारी मानव जाति को उन पर गर्व है, विशेषत: इस जम्बूद्वीप के निवासियों को ।

बुद्ध के उपदेशों के आधार पर बाद में विकसित वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक—इन चारों दर्शनों का उनके अवान्तर भेदों के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ में संक्षेप में, किन्तु सूक्ष्मता और गम्भीरता के साथ साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है । साथ ही, प्रारम्भ में भगवान् बुद्ध और उनकी शिक्षाओं के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया गया है । बौद्धधर्म में बाद में विकसित १८ निकायों के स्वरूप एवं सिद्धान्तों का निरूपण इस ग्रन्थ की विशेषता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है । ये सभी अठारह निकाय हीनयान के अन्तर्गत माने जाते हैं और ये महायान को बुद्धवचन मानने पर नाना प्रकार के आक्षेप देते हैं । उन सभी आक्षेपों का उल्लेख इस प्रकरण में किया गया है । विस्तृत भूमिका में हमने महायान का स्वरूप और महायान को बुद्धवचन मानने में जो आक्षेप दिये गये थे, उन सबका यथासम्भव परिहार करने का प्रयास किया है । साथ ही, सभी प्रमुख दार्शनिक मुद्दों पर जो बौद्धदर्शनों में आपसी मतभेद हैं, उन्हें एक ही स्थान पर प्रतिपादित करने की कोशिश की है । अन्तिम अध्याय में महायान साहित्य, प्रमुख आचार्य एवं उनकी रचनाओं का संक्षेप में निरूपण प्रस्तुत किया गया है । इस तरह ग्रन्थ को हमने अपनी ओर से परिपूर्ण एवं प्रामाणिक बनाने का प्रयास किया है । फिर भी इसकी उपादेयता का मूल्याङ्कन विद्वज्जन ही करेंगे । यदि इसके अध्ययन से किसी व्यक्ति में बौद्ध दर्शनों से सम्बद्ध थोड़ा भी ज्ञान एवं रुचि उत्पन्न हो सके तो हम अपने प्रयास को सफल समझेंगे । त्रुटियों की सम्भावना हमेशा रहती है, यदि विद्वज्जन इसकी त्रुटियों की ओर ध्यान दिला सकें या अपने बहुमूल्य सुझाव दे सकें तो हम आभारी होंगे और अगले संस्करण में अपनी त्रुटियों को सुधारने और सुझावों को समाविष्ट करने का प्रयत्न करेंगे ।

रामशङ्कर त्रिपाठी

सर्वदृष्टिप्रहाणाय यः सद्धर्ममदेशयत् ।
अनुकम्पामुपादाय तं नमस्यामि गौतमम् ।।

(नागार्जुन, मूलमूध्यमिककारिका, २७:३०)

भूमिका

जागतिक विविध दुःखों के दर्शन से तथागत शाक्यमुनि भगवान् बुद्ध में सर्वप्रथम महाकरुणा का उत्पाद हुआ । तदनन्तर उस महाकरुणा से प्रेरित होने की वजह से 'मैं इन दुःखी प्राणियों को दुःख से मुक्त करने और उन्हें सुख से अन्वित करने का भार अपने कन्धों पर लेता हूँ और इसके लिए बुद्धत्व प्राप्त करूंगा'—इस प्रकार का उनमें बोधिचित्त उत्पन्न हुआ । इसके बाद उन्होंने अनन्त काल तक अनेक जन्मों में छह या दस पारमिताओं की साधना द्वारा अनन्त पुण्य और ज्ञान सम्भार का अर्जन किया । उन पुण्य और ज्ञान सम्भारों द्वारा उन्होंने समस्त क्लेश और ज्ञेय आवरणों का समूल प्रहाण कर सम्यक् सम्बुद्धत्व प्राप्त किया । तदनन्तर विभिन्न रुचि, अध्याशय, इन्द्रिय और क्षमता वाले विनेय जनों के कल्याण के लिए उपायकुशल भगवान् बुद्ध ने उनकी पात्रता के अनुसार विभिन्न प्रकार की देशनाएं कीं । अनेक धर्मचक्रों का प्रवर्तन किया ।

उनकी देशनाएं तीन पिटकों और तीन यानों में विभक्त की जाती हैं । सूत्र, विनय और अभिधर्म-ये तीन पिटक हैं तथा श्रावकयान, प्रत्येकबुद्ध यान और बोधिसत्त्व यान—ये तीन यान हैं । श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान को हीनयान और बोधिसत्त्वयान को महायान कहते हैं ।

श्रावकयान—जो विनेय जन दुःखमय संसार-सागर को देखकर तथा उससे उद्विग्न होकर तत्काल उससे मुक्ति की अभिलाषा तो रखते हैं, किन्तु तात्कालिक रूप से सम्पूर्ण प्राणियों के हित और सुख के लिए सम्यक् सम्बुद्धत्व की प्राप्ति का अध्याशय (इच्छा) नहीं रखते—ऐसे विनेय जन श्रावकयानी कहलाते हैं । उनके लिए प्रथम धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हुए भगवान् ने चार आर्यसत्य और उनके अनित्यता आदि सोलह आकारों की देशना की और इनकी भावना करने से पुद्गलनैरात्म्य का साक्षात्कार करके क्लेशावरण का समूल प्रहाण करते हुए अर्हत्त्व की और निर्वाण की प्राप्ति का मार्ग उपदिष्ट किया ।

प्रत्येकबुद्धयान—श्रावक और प्रत्येकबुद्ध के लक्ष्य में भेद नहीं होता । प्रत्येकबुद्ध भी स्वमुक्ति के ही अभिलाषी होते हैं । श्रावक और प्रत्येकबुद्ध के ज्ञान में और पुण्य संचय में थोड़ा फर्क अवश्य होता है । प्रत्येकबुद्ध में केवल ग्राह्यशून्यता का बोध होता है, ग्राहकशून्यता का नहीं । पुण्य भी श्रावक की अपेक्षा उनमें अधिक होता है । प्रत्येकबुद्ध उस काल में उत्पन्न होते हैं, जिस समय बुद्ध का नाम भी लोक में प्रचलित नहीं होता । वे बिना आचार्य या गुरु के

ही, पूर्वजन्मों की स्मृति के आधार पर अपनी साधना प्रारम्भ करते हैं और प्रत्येकबुद्ध-अर्हत्त्व और निर्वाण पद प्राप्त करते हैं । इनकी यह भी विशेषता है कि ये वाणी के द्वारा धर्मोपदेश नहीं करते तथा संघ बनाकर नहीं रहते । अर्थात् एकाकी विचरण करते हैं ।

बोधिसत्त्वयान—जो विनेय जन सम्पूर्ण सत्त्वों के हित और सुख के लिए सम्यक् सम्बुद्धत्व प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसे विनेय जन बोधिसत्त्वयानी कहलाते हैं । उन लोगों के लिए भगवान् ने बोधिचित्त का उत्पाद कर छह या दस पारमिताओं की साधना का उपदेश दिया तथा पुद्गलनैरात्म्य के साथ धर्मनैरात्म्य का भी विभिन्न युक्तियों से प्रतिवेध कर क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों के प्रहाण द्वारा सम्यक् सम्बुद्धत्व की प्राप्ति के मार्ग का उपदेश किया । इसे महायान भी कहते हैं ।

महायान की व्युत्पत्ति—**'यायते अनेनेति यानम्'** अर्थात् जिससे जाया जाता है, वह 'यान' है । इस विग्रह के अनुसार मार्ग, जिससे गन्तव्य स्थान तक जाया जाता है, 'यान' है । अर्थात् यान-शब्द मार्ग का वाचक है । **'यायते अस्मिन्निति यानम्'** अर्थात् जिसमें जाया जाता है, वह भी 'यान' है । इस दूसरे विग्रह के अनुसार 'फल' भी यान कहलाता है । फल ही गन्तव्य स्थान होता है । इस तरह यान-शब्द फलवाचक भी होता है । **'महच्च तद् यानं महायानम्'** अर्थात् वह यान भी है और बड़ा भी है, इसलिए महायान कहलाता है ।

महायान का महत्त्व—यह यान इसलिए बड़ा (महा) है, क्योंकि इसमें सात महत्त्व (बड़प्पन) होते हैं । महायानसूत्रालङ्कार में उन्हें इस प्रकार दर्शाया गया है :

आलम्बनमहत्त्वं च प्रतिपत्तेर्द्वयोस्तथा ।
ज्ञानस्य वीर्यारम्भस्य उपाये कौशलस्य च ।।
उदागममहत्त्वं च महत्त्वं बुद्धकर्मणः ।
एतन्महत्त्वयोगाद्धि महायानं निरुच्यते[1] ।।

अर्थात् आलम्बनमहत्त्व आदि सात महत्त्वों के कारण यह यान 'महायान' कहलाता है । वे इस प्रकार हैं : (१) आलम्बन महत्त्व,

१. द्र०-महायानसूत्रालङ्कार (गुणाधिकार) ५९-६० का० पृ० १६४ (मिथिला इन्स्टीच्यूट संस्करण १९७०) ।

(२) प्रतिपत्ति महत्त्व, (३) ज्ञान महत्त्व, (४) वीर्यारम्भ महत्त्व, (५) उपायकौशल महत्त्व, (६) समुदागम महत्त्व एवं (७) बुद्धकर्म महत्त्व ।

१. आलम्बन महत्त्व—बोधिसत्त्व यान अनन्त सूत्रों तथा शास्त्रों से सम्पन्न है । ऐसा नहीं है कि वह सीमित सूत्र आदि से युक्त हो । कहने का अभिप्राय यह है कि बोधिसत्त्व श्रावकयान से सम्बद्ध सूत्रों, प्रत्येकबुद्धयान से सम्बद्ध सूत्रों तथा बोधिसत्त्वयान से सम्बद्ध सूत्रों—इन सभी सूत्रों का श्रुत, चिन्ता और भावना द्वारा विधिवत् अभ्यास करते हैं, जिससे कि वे समस्त जीवों के या नाना अधिमुक्ति एवं रुचि वाले सत्त्वों के हितार्थ यथायोग्य उपदेश कर सकें । फलतः कोई भी सूत्र या शास्त्र बोधिसत्त्व के लिए हेय नहीं होता । इसीलिए बोधिसत्त्व अपरिमित सूत्रों का अध्ययन करते हैं । हीनयान में तो सीमित सूत्र ही ग्राह्य होते हैं । महायान से सम्बद्ध सूत्रों एवं शास्त्रों को वे त्याज्य समझते हैं ।

२. प्रतिपत्ति महत्त्व—प्रतिपत्ति का अर्थ साधना है । प्रतिपत्ति दो हैं, यथा—१. स्वार्थ प्रतिपत्ति एवं २. परार्थ प्रतिपत्ति । बोधिसत्त्वयान में परार्थ (परहित) अर्थात् समस्त जीवों को बुद्धत्व प्राप्त कराना बोधिसत्त्वों का प्रमुख उद्देश्य होता है । यह उनका परम कर्त्तव्य होता है । इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि बोधिसत्त्व पहले स्वयं बुद्धत्व प्राप्त कर लें, तभी वे दूसरों को बुद्धत्व प्राप्त कराने में समर्थ होंगे । फलतः उनकी साधना में दो दृष्टियाँ होती हैं, यथा— (१) समस्त जीवों को बुद्धत्व प्राप्त कराना । यह 'परार्थ प्रतिपत्ति' कहलाती है । तथा (२) इसके लिए पहले स्वयं बुद्धत्व प्राप्त करना । यह 'स्वार्थ प्रतिपत्ति' कहलाती है । हीनयान में न तो परार्थ का महत्त्व है, न स्वार्थ ही पूर्णरूपेण सिद्ध होता है । ज्ञेयावरण का प्रहाण नहीं करने से उन्हें वैशारद्य आदि अनन्त बुद्धगुणों की प्राप्ति नहीं होती ।

३. ज्ञानमहत्त्व—बोधिसत्त्व यान में पुद्गलनैरात्म्य ज्ञान एवं धर्मनैरात्म्य-ज्ञान— इन दोनों का बड़ा महत्त्व है । दोनों नैरात्म्यों में से धर्मनैरात्म्य अत्यन्त सूक्ष्म एवं दुर्बोध होता है । धर्मनैरात्म्य ज्ञेयावरण का प्रतिपक्ष होता है और उसके द्वारा सर्वावरणों का प्रहाण करके सर्वज्ञता की सिद्धि होती है । इसी कारण धर्मनैरात्म्य बोधिसत्त्वों का परम भाव्य (भावना करने योग्य) होता है । हीनयान में धर्मनैरात्म्य का कुछ भी महत्त्व नहीं होता । फलतः उनका मुख्य भाव्य पुद्गलनैरात्म्य मात्र होता है, जिससे क्लेशावरण का प्रहाण कर वे अर्हत्त्व प्राप्त करते हैं ।

४. **वीर्यारम्भ महत्त्व**—बोधिसत्त्व का उद्देश्य अल्पकाल में सिद्ध नहीं किया जा सकता, अपितु अनेक कल्पों तक निरन्तर सोत्साह प्रयत्न करने से ही लक्ष्यसिद्धि होती है । हमारे भगवान् शाक्यमुनि गौतम बुद्ध अनेक जन्मों पूर्व एक बार सुमेध पण्डित के रूप में उत्पन्न हुए थे । उसी जन्म में उनमें बोधिचित्त (बुद्धत्व प्राप्ति की दृढ़ इच्छा) उत्पन्न हुआ था । उस सुमेध पण्डित की भाँति कोई व्यक्ति वीर्यशाली (सोत्साह प्रयत्नरत) हो तो तीन असंख्येय कल्पों में बुद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है । इससे कम प्रयत्नशील होगा तो बुद्धत्व प्राप्त करने में ४, ५ या उससे अधिक कल्प लग सकते हैं । इतने कालपर्यन्त बोधिसत्त्व बड़े उत्साह के साथ जगत्-कल्याण के लिए अपनी साधनाविधि का अभ्यास करते रहते हैं । हीनयानी आदि तो इतना सुनकर ही भयभीत होने लगते हैं । वे तो अपने दुःखों के उपशम के लिए कुछ जन्मों तक प्रयत्न करने का साहस ही जुटा पाते हैं ।

५. **उपायकौशल महत्त्व**—बोधिसत्त्वयान में साधना की बड़ी कुशलता होती है । बोधिसत्त्व सांवृतिक दृष्टि से कामराग आदि अधिकांश क्लेशों का प्रहाण नहीं करते, अपि तु वे उन्हें परार्थ की सिद्धि के लिए मार्ग के रूप में परिणत कर देते हैं । पारमार्थिक दृष्टि से तो उनकी दृष्टि में कोई प्रहाण करने योग्य क्लेश होते ही नहीं, क्योंकि सभी हेय और उपादेय असत् होते हैं । कामराग आदि का प्रहाण नहीं करने पर भी बोधिसत्त्व या उनके चित्त उन क्लेशों से संक्लिष्ट नहीं होते । क्योंकि वे राग आदि को मार्ग के रूप में परिणत कर देते हैं तथा उनकी शून्यता को यथावत् जानते हैं । अतएव आचार्यों ने '**संसारापरित्यागासंक्लेशतः**' का प्रयोग किया है । अर्थात् न संसार का परित्याग करना और न उसके मलों से लिप्त होना । ऐसा नहीं है कि बुद्धावस्था में संसार उपस्थित रहता हो ।

६. **समुदागम महत्त्व**—बोधिसत्त्वयान की साधना की वजह से दस बल, चार वैशारद्य तथा अष्टादश आवेणिक बुद्धधर्मों की सिद्धि होती है । हीनयानी साधना से तो केवल मोक्ष ही प्राप्त किया जा सकता है ।

७. **बुद्धकर्म महत्त्व**—बोधिसत्त्वयान द्वारा जगत्कल्याणार्थ विविध चरित्र दिखलाए जा सकते हैं । ये चरित्र अनेकविध हैं । उनमें अभिसम्बोधि चरित्र, महापरिनिर्वाण चरित्र आदि द्वादश चरित्र प्रमुख हैं[१] । इन चरित्रों के प्रदर्शन से

भिन्न-भिन्न रुचिवाले सत्त्वों का हितसम्पादन किया जाता है । हीनयानी साधक दूसरे सत्त्वों को उनके अध्याशय के अनुसार चरित्र नहीं दिखला सकते । फलतः वे उनका उद्धार नहीं कर पाते और नाना अधिमुक्ति वाले सत्त्वों को अपने धर्म की ओर आकृष्ट नहीं कर पाते । बोधिसत्त्वयान की यह विशेषता है कि वह सभी प्रकार की रुचिवाले सत्त्वों को तदनुरूप देशना द्वारा अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है ।

महायान का उद्भव एवं विकास

भारत के धार्मिक एवं सांस्कृतिक जगत् में महायान का उद्भव एक अभूतपूर्व एवं क्रान्तिकारी घटना है । यह बुद्धशासन में एक नूतन परिवर्तन है । महायान के उद्भव से पूर्व बौद्ध, बौद्धेतर सभी दर्शनों में मोक्ष या निर्वाण ही परम पुरुषार्थ एवं जीवन का लक्ष्य माना जाता रहा है । पुरुषार्थ चार धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष या दो अभ्युदय एवं निःश्रेयस माने जाते हैं । इनमें मोक्ष या निःश्रेयस ही सर्वश्रेष्ठ हैं । आत्यन्तिक दुःख-विमुक्ति या सुखावाप्ति ही मोक्ष का स्वरूप है । यह मोक्ष नितान्त व्यक्तिगत होता है ।

महायान की विशेषता उसकी लोकपरायणता, समाजोन्मुखता एवं प्राणि-सेवा है । एक महायानी प्राणिमात्र को दुःखों से मुक्त एवं सुखों से समन्वित करना चाहता है । इस महान् उद्देश्य के सामने वह व्यक्तिगत मोक्ष को रसहीन एवं तुच्छ समझता है । लोक (संसार) के दोषों से लिप्त न रहते हुए संसार का त्याग न करना, उसका व्रत है । इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह जन्म-जन्मान्तर पर्यन्त संसार में रहने को बुरा नहीं समझता । यहाँ तक कि वह स्वेच्छया नरक में भी जाता है । उसका जन्म कर्म-क्लेशवश नहीं, अपितु स्वेच्छया दूसरों के कल्याण के लिए होता है । वह न तो लोक के दोषों से दूषित होता है और न संसार को छोड़कर निर्वाण में प्रविष्ट होता है, यही अप्रतिष्ठितनिर्वाण है और यही उसका लक्ष्य है । भव (संसार) और शम (निर्वाण) दोनों अन्त (कोटियाँ) हैं और महायानी बोधिसत्त्व इन दोनों का परिवर्जन कर मध्य में अर्थात् अप्रतिष्ठित निर्वाण में स्थित रहता है तथा यही बुद्धत्व भी है ।

---

१. द्वादश चरित्र इस प्रकार हैं—१. तुषित क्षेत्र से च्युति, २. मातृकुक्षि में प्रवेश, ३. लुम्बिनी उद्यान में अवतरण, ४. शिल्पविद्या में नैपुण्य एवं कौमार्योचित ललित क्रीडा, ५. रानियों के परिवार के साथ राज्यग्रहण, ६. वृद्ध, रोगी आदि चार निमित्तों को देखकर ससंवेग प्रव्रज्या, ७. नैरंजना के तट पर लगातार छह वर्षों तक कठोर तपस्या, ८. बोधिवृक्ष के मूल में उपस्थिति, ९. मारसैन्यदमन, १०. वैशाख पूर्णिमा के दिन सम्यक् संबोधि की प्राप्ति, ११. धर्मचक्र प्रवर्तन तथा १२. महापरिनिर्वाण ।

प्राणि-मात्र को दुःखों से मुक्त करने का संकल्प एक बहुत बड़ी प्रतिज्ञा है । एक व्यक्ति को या अपने परिवार को दुःख से मुक्त करना भी दुःसाध्य होता है, तब समस्त प्राणियों को मुक्त करना तो अत्यन्त कठिन है । अतः बोधिसत्त्व अपने में योग्यता और सामर्थ्य अर्जित करने का प्रयास करता है । पूर्ण योग्यता और पूर्ण सामर्थ्य की अवस्था ही बुद्धत्व है । अतः अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह बुद्धत्व प्राप्त करना चाहता है । बुद्धत्व उसके लिए साध्य नहीं, अपि तु साधन है । साध्य तो प्राणि-मात्र की दुःखों से मुक्ति ही है ।

बुद्धत्व की प्राप्ति का साधन भी महायान में सत्त्वों के दुःखों के निवारण के लिए आत्मसमर्पण को या लोकसेवा को ही बताया गया है । बुद्धत्व की प्राप्ति महायान का लक्ष्य है, अतः उसकी प्राप्ति के लिए लोकसेवार्थ अपने को समर्पित करके वह कोई एहसान नहीं करता । जो सत्त्व उसकी सेवा ग्रहण करते हैं, उसके प्रति वह कृतज्ञता का भाव एवं विनम्रता का भाव रखता है कि उसने बुद्धत्व-प्राप्ति की साधना में उसकी सहायता की है । इस तरह उस (महायानी) में इस सेवा की वजह से न तो अभिमान या उच्चता का भाव पैदा होता है और न सेवा-ग्रहण करनेवाले में हीनता का भाव । फलतः बोधिसत्त्व की सेवा अन्य लोगों की सेवा से भिन्न है ।

बुद्धत्व-प्राप्ति की साधना में संलग्न व्यक्ति बोधिसत्त्व कहलाता है । वे भी बुद्धत्वप्राप्ति के प्रति दृष्टिभेद के कारण तीन प्रकार के होते हैं । एक वे हैं, जो सब प्राणियों को दुःख से मुक्त करने के बाद स्वयं बुद्धत्व प्राप्त करना चाहते हैं । ऐसे बोधिसत्त्वों को गोप(ग्वाले) के समान बोधिसत्त्व कहते हैं । जैसे गोप सभी पशुओं को गोशाला से निकाल कर अन्त में स्वयं निकलता है और सबको गोशाला में प्रविष्ट करके स्वयं अन्त में प्रवेश करता है । यह बोधिसत्त्व भी उसी प्रकार का है । दूसरे प्रकार के बोधिसत्त्व वे हैं, जो सभी सत्त्वों के साथ-साथ बुद्धत्व प्राप्त करना चाहते हैं । ऐसे बोधिसत्त्वों को नाविक के समान बोधिसत्त्व कहते हैं । जैसे नाविक नाव में सवार सभी यात्रियों के साथ स्वयं भी नदी पार करता है, उसी प्रकार यह दूसरे प्रकार का बोधिसत्त्व भी है । तीसरे प्रकार के बोधिसत्त्व वे हैं, जो सबसे पहले स्वयं बुद्धत्व प्राप्त कर लेते हैं और उसके बाद अन्य लोगों को बुद्धत्व-प्राप्ति में सहायता करते हैं । ऐसे बोधिसत्त्व को राजा के समान बोधिसत्त्व कहते हैं । जैसे राजा कहीं प्रस्थान करते हैं तो राजा ही सबसे पहले गन्तव्य स्थल पर पहुँचते हैं और उनके सचिव आदि उनके बाद में । उसी तरह यह तीसरे प्रकार का बोधिसत्त्व पहले बुद्धत्व प्राप्त करता है । अतः यह राजा की तरह कहा जाता है ।

राजा की तरह बोधिसत्त्व का पहले बुद्धत्व प्राप्त करना इसलिए भी आवश्यक है, जिससे कि लोगों में बुद्धत्व के प्रति विश्वास उत्पन्न हो सके । वे यह जान सकें कि बुद्धत्व प्राप्त व्यक्ति कैसा होता है तथा यह भी कि बुद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है, यह केवल आदर्शमात्र नहीं है । हमारे शाक्यमुनि गौतम बुद्ध इसके उदाहरण हैं । इन्होंने राजा की तरह पहले बुद्धत्व प्राप्त किया है ।

हीनयान और महायान—प्रायः कहा जाता है कि वैभाषिक और सौत्रान्तिक दर्शन हीनयानी तथा योगाचार और माध्यमिक महायानी दर्शन हैं । इसमें कुछ सत्यांश होने पर भी दर्शन-भेद यान-भेद का नियामक कतई नहीं होता, अपितु उद्देश्य-भेद या जीवनलक्ष्य का भेद ही यानभेद का नियामक होता है । उद्देश्य की अधिक व्यापकता और अल्प व्यापकता ही महायान और हीनयान के भेद का आधार है । यहाँ 'हीन' शब्द का अर्थ 'अल्प' है, न कि तुच्छ, नीच या अधम आदि, जैसा कि आजकल हिन्दी में प्रचलित है । महायान का साधक समस्त प्राणियों को दुःख से मुक्त करके उन्हें निर्वाण या बुद्धत्व प्राप्त कराना चाहता है । वह केवल अपनी ही दुःखों से मुक्ति नहीं चाहता, बल्कि सभी की मुक्ति के लिए व्यक्तिगत निर्वाण से निरपेक्ष रहते हुए अप्रतिष्ठित निर्वाण में स्थित होता है । जो व्यक्ति व्यक्तिगत निर्वाण प्राप्त करता है, वह भी कोई छोटा नहीं, अपि तु महापुरुष होता है । इतना सौभाग्य भी कम लोगों को प्राप्त होता है । बड़े पुण्यों का फल है यह । प्रायः सभी बौद्धेतर दर्शनों का भी अन्तिम लक्ष्य स्वमुक्ति ही है । अतः यह लक्ष्य कम श्रेष्ठ नहीं है, फिर भी अपने निर्वाण को स्थगित करके सभी प्राणि-मात्र की दुःखों से मुक्ति को लक्ष्य बनाना और उसके लिए प्रयास और साधना करना, अवश्य ही अधिक श्रेष्ठ है ।

ऊपर कहा गया हैकि दर्शनभेद से यानभेद नहीं किया जाता, इसीलिए कतिपय बौद्ध विद्वानों के मतानुसार एक ऐसा व्यक्ति भी हो सकता है, जिसने पहले महायान में प्रविष्ट होकर धर्मनैरात्म्य का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया हो और बाद में महायान से च्युत होकर हीनयान में प्रविष्ट हो गया हो । ऐसा व्यक्ति हीनयानी होते हुए भी शून्यता को जाननेवाले धर्मनैरात्म्यज्ञान से युक्त हो सकता है । क्योंकि वह व्यक्ति यद्यपि बोधिचित्त से भ्रष्ट होने के कारण महायान से च्युत हो गया है, तथापि उसके धर्मनैरात्म्य ज्ञान अर्थात् महायान दर्शन से च्युत होने का कोई कारण उपस्थित नहीं है । इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकरुणा, बोधिचित्त, पारमिताओं की साधना और शून्यता दर्शन महायान के मूल हैं ।

महाकरुणा—दुःख करुणा का आलम्बन होता है तथा दुःख को सहन नहीं कर पाना इसका आकार होता है । एक करुणावान् व्यक्ति किसी दुःखी प्राणी को चुपचाप देख नहीं सकता, अपि तु उस दुःख को हटाने के लिए यथाशक्ति प्रयास प्रारम्भ कर देता है । इसलिए करुणा कोई सामान्य दयाभाव नहीं, अपि तु चित्त की सक्रिय अवस्था है । दुःख भी दुःख-दुःख , विपरिणाम दुःख एवं संस्कारदुःख के भेद से तीन प्रकार के होते हैं । विविध प्रकार की शिरोवेदना आदि शारीरिक वेदनाएं दुःख-दुःख हैं । वर्तमान में सुखवत् प्रतीत होने पर भी परिणाम में दुःखदायी धर्म विपरिणाम दुःख कहलाते हैं । सभी अनित्यों से वियोग दुःखप्रद होता है, इसलिए सभी अनित्य धर्म संस्कार-दुःख है । करुणा इन तीनों प्रकार की दुःखताओं से प्राणिमात्र को मुक्त करने की सक्रिय अभिलाषा है । करुणा भी प्रारम्भ में 'सत्त्वालम्बना' होती है । अर्थात् प्राणियों को और उनके दुःखों को आलम्बन बनाती है । किन्तु भावना के बल से विकसित होकर बाद में 'धर्मालम्बना' हो जाती है । बौद्ध दर्शन के अनुसार पुद्गल की सत्ता नहीं होती, वह जड और चेतना का पुञ्जमात्र होता है, फिर भी दुःखी होता है, क्योंकि उसमें इस स्थिति (धर्मता) का अज्ञान होता है । ऐसे सत्त्वों को दुःखों से मुक्त करने की अभिलाषा 'धर्मालम्बना' करुणा होती है । वस्तुतः प्रज्ञा द्वारा विचार करने पर सभी धर्म निःस्वभाव (शून्य) होते हैं । वस्तुतः सभी सत्त्व और उनके दुःख भी निःस्वभाव ही हैं, फिर भी अर्थात् शून्यता का अवबोध रखते हुए भी करुणावश बुद्ध एवं बोधिसत्त्व दुःखी प्राणियों के दुःख को दूर करने का प्रयास करते हैं । उनकी ऐसी करुणा 'निरालम्ब' करुणा कहलाती है ।

बोधिचित्त—बोधिचित्त ही महायान में प्रवेश का द्वार होता है । बोधिचित्त के उत्पाद के साथ व्यक्ति महायानी और बोधिसत्त्व कहलाने लगता है तथा बोधिचित्त से भ्रष्ट होने पर महायान से च्युत हो जाता है । **'बुद्धो भवेयं जगतो हिताय'** (अद्वयवज्रसंग्रह कुदृष्टिनिर्घातन, पृ० ६) अर्थात् सभी प्राणियों को दुःखों से मुक्त करने के लिए मैं बुद्धत्व प्राप्त करूँगा-ऐसी अकृत्रिम अभिलाषा 'बोधिचित्त' कहलाती है । इस प्रकार बुद्धत्व महायान के अनुसार साध्य नहीं, अपितु साधनमात्र है । साध्य तो समस्त प्राणियों की दुःखों से मुक्ति ही है । बोधिचित्त भी प्रणिधि और प्रस्थान के भेद से द्विविध होता है । ऊपर जो बुद्धत्व प्राप्ति की अकृत्रिम अभिलाषा को बोधिचित्त कहा गया है, वह 'प्रणिधि-बोधिचित्त' है । इसके उत्पन्न हो जाने पर साधक महायान-संवर ग्रहण करके ब्रह्मविहार, संग्रहवस्तु एवं पारमिता आदि की साधना में प्रवृत्त होता है, यह 'प्रस्थान-बोधिचित्त' कहलाता है । शास्त्रों में प्रणिधि-बोधिचित्त का भी विपुल फल और महती अनुशंसा वर्णित है ।

पारमिताओं की साधना— पारमिताएं दस होती हैं, किन्तु उनका छह में भी अन्तर्भाव किया जाता है । दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान एवं प्रज्ञा- ये छह पारमिताएं हैं । उपायकौशल पारमिता, प्रणिधान पारमिता, बल पारमिता एवं ज्ञान पारमिता— इन चार को मिलाकर पारमिताएं दस भी होती हैं । शास्त्रों में अधिकतर छह पारमताओं की चर्चा ही उपलब्ध होती है । इन छह पारमिताओं में छठवीं प्रज्ञापारमिता ही 'प्रज्ञा' है तथा शेष पाँच पारमिताएं 'पुण्य' कहलाती हैं । इन पाँचों को एक शब्द द्वारा 'करुणा' भी कहते हैं । प्रज्ञा और करुणा ये दोनों बुद्धत्व प्राप्ति के उत्तम उपाय हैं । अभ्यास या भावना के द्वारा विकास की पराकाष्ठा को प्राप्त कर ये दोनों बुद्धत्व अवस्था में समरस होकर स्थित होती है । प्रज्ञा और करुणा की यह सामरस्यावस्था ही बुद्धत्व है । त्रिकायात्मक बुद्धत्व की प्राप्ति, बिना इन पारमिताओं के, सम्भव नहीं है । धर्मकाय, सम्भोग काय और निर्माणकाय-- ये तीन काय हैं । बुद्धत्व की प्राप्ति के साथ इन तीन कायों की प्राप्ति होती है । महायान के पारमितानय के अनुसार अभ्यास द्वारा प्रज्ञा विकसित होते हुए अन्त में बुद्ध के ज्ञान धर्मकाय के रूप में परिणत हो जाती है । किन्तु सम्भोग और निर्माण कायों की प्राप्ति पुण्य अर्थात् शेष पाँच पारमिताओं के बल से ही होती है । इसीलिए बोधिसत्त्व बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए तीन असंख्येय कल्प पर्यन्त ज्ञान और पुण्य सम्भारों का अर्जन करता है ।

अकेली प्रज्ञा पारमिता से बुद्धत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं होती और न तो प्रज्ञा के बिना शेष पारमिताओं से भी बुद्धत्व की प्राप्ति सम्भव है । अपितु इन दोनों से ही बुद्धत्व प्राप्ति सम्भव होती है । प्रज्ञापारमिता के बिना शेष पारमिताएं अन्धी होती हैं । उनसे निर्वाण नगर में प्रवेश सम्भव नहीं होता । अतः चक्षु के समान प्रज्ञापारमिता का होना आवश्यक है । अकेले प्रज्ञापारमिता भी लंगड़ी होती है । उसके द्वारा भी निर्वाण नगर में प्रवेश सम्भव नहीं होता । जैसे अन्धा और लंगड़ा— दोनों पुरुष मिलकर अभिलषित स्थान पर पहुँचते हैं । अर्थात् अन्धे पुरुष के कन्धे पर लंगड़ा पुरुष बैठकर राह दिखाता है और दोनों गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाते हैं । इसी उपमा द्वारा प्रज्ञा और शेष पारमिताओं द्वारा बुद्धत्व लक्ष्य की प्राप्ति को समझना चाहिए ।

दानपारमिता की भावना के अवसर पर प्रज्ञा द्वारा देय वस्तु, दाता और प्रतिग्राहक तीनों को जब शून्य समझ कर भी दान किया जाता है, तब इसे त्रिकोटिपरिशुद्ध दान कहा जाता है । त्रिकोटिपरिशुद्ध होने पर ही दान दानपारमिता होता है और वही दानपारमिता बुद्धत्व की आवाहक अर्थात बुद्धत्व

को प्राप्त कराने वाली होती है । शील आदि पारमिताओं की त्रिकोटिपरिशुद्धता भी इसी प्रकार जानना चाहिए ।

शून्यता— लौकिक, लोकोत्तर, संस्कृत, असंस्कृत सभी धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं । अर्थात् वे अपने अस्तित्व के लिए अन्य हेतु और प्रत्ययों पर अपेक्षित है । अर्थात् उनका अस्तित्व अपने बल पर (स्वतः) नहीं है । अर्थात् परनिरपेक्ष अस्तित्व नहीं है । वे स्वनिर्भर नहीं है, अर्थात् वे सापेक्ष हैं । यही परनिरपेक्ष नहीं होना या स्वनिर्भर नहीं होना ही उनकी प्रकृति है और यही शून्यता है । यह शून्यता सभी धर्मों का धर्म है । इसे ही धर्मता, शून्यता, तथता, भूतकोटि और परमार्थ सत्य कहते हैं । सभी सापेक्ष धर्म संवृतिसत्य हैं । शून्यता या परमार्थ सत्य के ज्ञान से सभी धर्मों की सापेक्षता या संवृतिसत्यता का स्पष्ट परिज्ञान हो जाता है ।

इस शून्यता का साक्षात्कार प्रज्ञा द्वारा होता है । प्रज्ञा भी पहले श्रुतमयी होती है । अर्थात् शास्त्रों, आगमों आदि के स्वाध्याय और गुरु के उपदेश के श्रवण से इसका उत्पाद होता है । तदनन्तर श्रवण द्वारा ज्ञात तत्त्व का विविध और विपुल युक्तियों द्वारा चिन्तन किया जाता है, इसे चिन्तामयी प्रज्ञा कहते हैं । चिन्तन के द्वारा शून्यता का सन्देहरहित निर्धारण होता है । तदनन्तर उस चिन्तामयी प्रज्ञा द्वारा निश्चित शून्यता की भावना की जाती है, इसे भावनामयी प्रज्ञा कहते हैं । भावना जब प्रकर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तब शून्यता का साक्षात्कार होता है और यही साक्षात्कार दर्शनमार्ग कहलाता है । तब साधक पृथग्जनत्व का प्रहाण कर 'आर्य' कहलाने लगता है तथा महायान की प्रथम भूमि में प्रविष्ट हो जाता है । तदनन्तर दर्शनमार्ग द्वारा दृष्ट तत्त्व की पुनः पुनः भावना की जाती है । यही भावनामार्ग है । भावनामार्ग द्वारा साधक दूसरी से दशम भूमि तक गमन करता है । दशम भूमि के अन्त में वज्रोपम समाधि होती है, जिसके द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञेयावरण का भी प्रहाण होता है और यही अशैक्ष मार्ग होता है । इसी के दूसरे क्षण में त्रिकायात्मक बुद्धत्व की प्राप्ति होती है और यह समन्तप्रभा नामक बुद्धभूमि होती है । भूमियों के उत्तरोत्तर अधिरोहण के क्रम में क्लेशों और ज्ञेय आवरणों का क्रमशः प्रहाण तथा उत्तरोत्तर गुणों की प्राप्ति एवं वृद्धि होती रहती है । अन्त में बुद्ध की सर्वाकार-वरोपेत सर्वाकारज्ञता की प्राप्ति होती है ।

महायान का प्रादुर्भाव— महायानी बौद्ध परम्परा समस्त महायान सूत्रों को निःसन्दिग्ध रूप से बुद्धवचन मानती है । यद्यपि महायान सूत्रों की बुद्धवचनता के बारे में प्रारम्भ से ही विवाद रहा है । ज्ञात है कि जिस प्रकार पारमितायान से सम्बद्ध महायानी वाङ्मय तथागत के परिनिर्वाण के बाद जम्बूद्वीप भारतवर्ष में सामान्यतया प्रचलन में नहीं रहा, यद्यपि वह देवलोक और नागलोक में विद्यमान रहा, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट तन्त्र वाङ्मय भी सार्वजनिक रूप से भारत में प्रचलित नहीं था । आचार्य नागार्जुन आदि महापण्डितों ने जिस प्रकार महायानसूत्रों का पुनः प्रकाशन किया, उसी प्रकार बौद्ध तन्त्रों को भी धीरे-धीरे प्रकाशित किया । इसीलिए परम्परानुयायी प्रायः सभी महायानी आचार्य समस्त महायानसूत्रों और तन्त्रों को निःसन्दिग्ध रूप से बुद्धवचन मानते आए हैं । कालक्रम में इनमें कोई प्रक्षेप आदि नहीं हुए, यह निःसन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता ।

जब नागार्जुन आदि महाचार्यों ने इनका भारत में पुनः प्रचलन किया, तभी से अन्य स्वयूथ्य स्थविरवाद आदि अठारह निकायों के महापण्डितों ने उन्हें बुद्धवचन मानने से इन्कार कर दिया । उन्होंने कहा कि जिन महायानसूत्रों में अर्हत् की की निन्दा, बोधिसत्त्वों की बुद्ध से भी अधिक प्रशंसा, प्रव्रजितों द्वारा गृहस्थ लोगों को भी प्रणाम करना, आनन्तर्य पाप कर्मों से भी विशुद्धि एवं भगवान् बुद्ध का लीला के लिए पृथ्वी पर अवतरण जैसी बातें उल्लिखित हों, वे महायानसूत्र बुद्धवचन कदापि नहीं हो सकते । साथ ही महायानसूत्रों में धर्मकाय को नित्य माना गया है, यह 'सभी संस्कार अनित्य हैं', इस सर्वमान्य सिद्धान्त के विपरीत है । उन महायानसूत्रों में जो तथागतगर्भ और आलयविज्ञान वर्णित है, वह 'आत्मा' को मानने जैसा है, यह भी 'सभी धर्म अनात्मक हैं'— इस सिद्धान्त से विपरीत है । महायानसूत्रों के अनुसार बुद्ध निर्वाण के बाद भी उसमें विलीन नहीं होते, अपितु अप्रतिष्ठित निर्वाण में स्थित होते हैं, यह भी 'निर्वाण शान्त है'— इस सर्वनैकायिक सिद्धान्त से विपरीत है । इन सिद्धान्तों के प्रतिपादक महायानसूत्र कैसे बुद्धवचन हो सकते हैं ।

अपि च, समस्त बुद्धवचन सूत्र, विनय एवं अभिधर्म— इन तीन पिटकों में संगृहीत हैं । राजगृह की प्रथम संगीति में संगीतिकारों ने महायानसूत्रों का किसी भी पिटक में संग्रह नहीं किया तथा अठारह बौद्धनिकायों में से किसी में भी महायानसूत्र संगृहीत नहीं हैं, फलतः वे बुद्धवचन नहीं हैं ।

उनका कहना है कि वस्तुतः वे महायानी उच्छेदवादी चार्वाकों की भाँति हैं, क्योंकि उनके सूत्रों में बुद्ध, धर्म, संघ अर्थात् त्रिरत्न, चार आर्यसत्य, कर्म और

उसके फल की सत्यतः सत्ता नहीं मानी जाती । वे उन सभी धर्मों को निःस्वभाव या शून्य मानते हैं । फलतः ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों की वंचना करने के लिए ये महायानसूत्र मार आदि किसी के द्वारा उपदिष्ट हैं ।

आचार्य भावविवेक द्वारा प्रणीत तर्कज्वाला आदि ग्रन्थों में महायानसूत्रों के बुद्धवचन न होने के पक्ष में जो ऊपर तर्क दिये गये हैं, उनको तथा अन्य अनेक दोषारोपणों को पूर्वपक्ष में रख कर उनका साङ्गोसाङ्ग विधिवत् निराकरण किया गया है । इसके अलावा आचार्य नागार्जुन के ग्रन्थों में, आर्य मैत्रेयनाथ के महायानसूत्रालङ्कार में, आचार्य शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार एवं आचार्य भावविवेक के मध्यमकहृदय आदि ग्रन्थों में पूर्वपक्ष का निराकरण करके महायानसूत्रों की सविधि बुद्धवचनता युक्तिपूर्वक सिद्ध की गई है । इन सबका तत्तद् ग्रन्थों में अवलोकन करना चाहिए ।

महायानसङ्गीति— आचार्य धर्ममित्र आदि अनेक भारतीय विद्वानों के मतानुसार संगीतिकारों ने भी महायानसूत्रों की पृथक्संगीति नहीं मानी, अपि तु महाकश्यप, आनन्द एवं उपालि द्वारा ही महायानसूत्रों का भी संगायन हुआ है— ऐसा उन्होंने माना है । परन्तु आचार्य भावविवेक ने अपनी तर्कज्वाला में उपर्युक्त मत का निराकरण करते हुए निम्नलिखित रूप से अपना मत प्रस्तुत किया है :

''जब राजगृह के विपुलगिरि में भगवान् बुद्ध के सामान्य सूत्रों का संगायन हो रहा था, उसी समय विमलसम्भवगिरि पर समन्तभद्र, मञ्जुश्री, गुह्यकाधिपति वज्रपाणि, मैत्रेयनाथ आदि बोधिसत्त्वों द्वारा महायानसूत्रों का सङ्गायन हो रहा था तथा उसी समय वज्रपाणि द्वारा समस्त तन्त्रों का भी सङ्गायन किया गया ।''

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने 'भारत यात्रा का विवरण' नामक ग्रन्थ में निम्नलिखित विवरण प्रस्तुत किया है :

''जहाँ पर महाकाश्यप ने सभा की थी, उसी स्थान से पश्चिमोत्तर में एक स्तूप है, जहाँ पर आनन्द सभा में बैठने से वर्जित किये जाने पर चले गये थे और जहाँ एकान्त में बैठकर उन्होंने अर्हत्पद प्राप्त किया था । यहीं से लगभग २० ली जाकर पश्चिम दिशा में एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है । इस स्तूप पर एक बड़ी भारी सभा (महासंघ) पुस्तकों (त्रिपिटक) का संग्रह करने के लिए हुई थी । जो लोग काश्यप की सभा में सम्मिलित नहीं हो पाये थे, वे सब साधक और अर्हत् करीब एक लाख व्यक्ति उस स्थान पर आकर एकत्र हुए और उन्होंने

कहा कि जब तथागत भगवान् जीवित थे, तब हम लोग एक स्वामी के अधीन थे, परन्तु अब समय पलट गया, धर्म के अधिपति का परिनिर्वाण हो गया, इसलिए हम लोग भी बुद्ध के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करेंगे और एक सभा करके पुस्तकों (बुद्धवचनों) का संग्रह करेंगे । इस सभा में ....सूत्रपिटक, विनयपिटक, अभिधर्मपटिक, फुटकर पिटक (प्रकीर्णक) और धारणीपिटक इन पाँचों पिटकों का संगायन किया गया । इस सभा में सर्व साधारण और महात्मा (श्रावक और बोधिसत्त्व) दोनों सम्मिलित थे । इसलिए इस सभा का नाम बृहत्-सभा (महासंघ) रखा गया[१] ।''

महायानसूत्रों की बुद्धवचनता

यद्यपि अठारह निकायों की परम्परा महायान सूत्रों को बुद्धवचन मानने के पक्ष में नहीं थी और ऊपर उन्हें बुद्धवचन नहीं मानने के पक्ष में अनेक तर्क दिये गये हैं । यह विरोध अत्यन्त प्राचीनकाल से ही प्रचलित था और आज भी विद्यमान है । ऐसा प्रतीत होता है कि जब एक बार भारतवर्ष में महायानसूत्र विलुप्त हो गए और आर्य नागार्जुन प्रज्ञापारमिता आदि सूत्रों को नागलोक से पुनः जम्बूद्वीप में लाए तथा उनके आधार पर उन सूत्रों के प्रज्ञा-पक्ष को माध्यमिक दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया तो सभी विपक्षी बौद्धों ने एक स्वर से उनका विरोध किया और कहा कि माध्यमिक दर्शन उच्छेदवादी है, जो बुद्ध, धर्म, संघ, आर्यसत्य आदि को शून्य के रूप में प्रतिपादित करता है और कहा कि ये सूत्र बुद्धवचन नहीं हो सकते । या तो उन्हें नागार्जुन ने गढ़ लिए हैं या लोगों की वंचना के लिए मार ने उनका प्रणयन किया है ।

यही कारण है कि नागार्जुन ने उन सूत्रों को बुद्धवचन सिद्ध करने का अथक प्रयास किया और बाद के दिग्गज पण्डितों ने भी अपनी-अपनी रचनाओं में उन्हें बद्धवचन के रूप में सिद्ध किया है ।

अब हम उन्हीं आचार्यों के अनुसार महायान को बुद्धवचन सिद्ध करने का और पूर्वपक्ष द्वारा प्रदत्त युक्तियों का निरास करने का अतिसंक्षेप में प्रयास कर रहे हैं ।

महायान बुद्धवचन हैं, क्योंकि वह युक्ति और आगमों से सिद्ध है । जैसे श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान बुद्धवचन हैं, वैसे ही महायान भी बुद्धवचन है ।

१. द्र०- (ह्वेनसांग कृत 'भारत यात्रा का विवरण' (हिन्दी अनुवाद) पृ० ३१३ (आदर्श हिन्दी पुस्तकालय ४९२ इलाहाबाद- १९७२) ।

बुद्धवचन एकमात्र वही हो सकता है, जो युक्तिसंगत हो । भगवान् युक्तिहीन वचन नहीं बोलते, जैसे युक्तिहीन होने से उच्छेदवाद बुद्धवचन नहीं है । जैसे श्रावकयानी और प्रत्येकबुद्धयानी अनित्यता, दु:खता, अनात्मता, शून्यता और चार आर्यसत्यों का अधिगम करते हैं, वैसे महायानी भी उनका बोध करते हैं । इतना अधिक है कि महायानी दु:ख आदि सत्यों का निराकार, निरालम्ब और समता में अधिगम करते हैं, जिसकी वजह से वे ज्ञेयावरण का भी प्रहाण करने में सक्षम होते हैं, जबकि श्रावक और प्रत्येकबुद्ध उसका प्रहाण नहीं कर पाते । ज्ञेयावरण के प्रहाण के लिए ही विशेषत: महायान का प्रादुर्भाव हुआ है, क्योंकि उसके बिना बुद्धत्व प्राप्ति असम्भव है ।

आचार्य नागार्जुन का कथन है कि शून्यता का प्रतिपादन हीनयानी पिटकों में भी हुआ है, अत: शून्यता बुद्ध का असली अभिप्राय है, जैसे मूलमाध्यमिक शास्त्र में उक्त है :

कात्यायनाववादे च अस्ति नास्तीति चोभयम् ।
प्रतिषिद्धं भगवता भावाभावविभाविना[1] ।।

पुनश्च रत्नावलि में बड़े विस्तार से आर्य नागार्जुन ने महायान को बुद्धवचन सिद्ध किया है । वे बड़े अफसोस के साथ कहते हैं कि जिस महायान में भगवान् ने बोधिसत्त्वों के लिए पुण्यसम्भार और ज्ञानसम्भार का निर्देश किया है, उस महायान की मोह और द्वेष से ग्रस्त लोग निन्दा करते हैं । वे कहते हैं कि यह सब वे अज्ञान की वजह से ही करते हैं, यथा :

बोधिसत्त्वस्य सम्भारो महायाने तथागतैः ।
निर्दिष्टः स तु संमूढैः प्रद्विष्टैश्चैव निन्द्यते[2] ।।

अपि च,

पुण्यज्ञानमयो यत्र बुद्धैर्बोधेर्महापथः ।
देशितस्तन्महायानमज्ञानाद् वै न दृश्यते[3] ।।

आर्य मैत्रेयनाथ का कहना है कि यदि महायान बुद्धवचन नहीं होता, अपितु किसी अन्य के द्वारा कथित होने से सद्धर्म में विघ्न करने वाला होता तो

१. नागार्जुन, द्र०- मूलमाध्यमिककारिका, १५:७ ।
२. नागार्जुन, द्र०- रत्नावलि, ४:६७ [मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन- १९६०] ।
३. नागार्जुन, द्र०- रत्नावलि, ४:८३ [मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन- १९६०] ।

भगवान् ने अनागत भय की आशंका से उसका अवश्य व्याकरण (भविष्य कथन) किया होता । किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया, इसलिए वह अवश्य बुद्धवचन है । यह महायान और श्रावकयान दोनों एक ही काल (समकाल) में प्रवृत्त हैं । ऐसा नहीं है कि वह बाद में आविर्भूत हुआ हो । महायान अत्यन्त उदार (विस्तृत, व्यापक) एवं गम्भीर है । यह तार्किकों का अगोचर है । यदि किसी अन्य ने संबोधि प्राप्त करके कहा है तो उसका बुद्धवचन होना सिद्ध है, क्योंकि बुद्ध वही है, जो संबोधि प्राप्त है । यदि महायान है तो वह बुद्धवचन ही है, क्योंकि अन्य महायान नहीं है । यदि महायान नहीं है तो श्रावकयान भी नहीं हो सकता, क्योंकि महायान (बुद्धयान) के बिना बुद्ध का उत्पाद सम्भव नहीं है । महायान की भावना से सभी निर्विकल्प ज्ञान उत्पन्न होते हैं, जो सभी क्लेशों के प्रतिपक्ष होते हैं । इसका शब्दानुसारी अर्थ नहीं होता, अपि तु तात्पर्यार्थ का ग्रहण किया जाता है । अत: अबुद्धवचन होने का दोष नहीं है[1] । इस तरह आर्यमैत्रेयनाथ ने महायान को बुद्धवचन सिद्ध करने के लिए महायानसत्रालङ्कार में पूरा एक अधिकार लिखा है । बुद्धवचन होने का यह सामान्यतया लक्षण है कि जो सूत्र में अवतरित होता है, विनय में दिखलाई देता है और जो धर्मता (तथता=शून्यता) का विरोधी नहीं होता, वह बुद्धवचन है । आर्य असङ्ग का कहना है कि महायान में यह पूरा लक्षण घटित होता है । महायानसूत्रों में यह अवतरित है । विनय में दिखलाई देता है तथा उदार और गम्भीर होने से धर्मता का भी विरोधी नहीं है[2] । इस बात को आर्य मैत्रेयनाथ ने निम्न पंक्तियों में प्रकट किया है ...

स्वकेऽवतारात् स्वस्यैव विनये दर्शनादपि ।
औदार्यादपि गाम्भीर्यादविरुद्धैव धर्मता[3] ।।

ज्ञातव्य है कि महायानी हीनयान और महायान दोनों सूत्रों को बुद्धवचन मानते हैं, जबकि हीनयानी महायानसूत्रों को बुद्धवचन नहीं मानते । आचार्य शान्तिदेव कहते हैं कि यदि महायान बुद्धवचन के रूप में असिद्ध है तो आपका हीनयान कैसे सिद्ध है ? यदि आप कहें कि हमारा हीनयान (हीनयान और महायान) दोनों द्वारा सिद्ध है, जबकि आपका महायान ऐसा नहीं है, क्योंकि हम

१. आदावव्याकरणात् समप्रवृत्तेरगोचरात् सिद्धेः ।
भावाभावेऽभावात् प्रतिपक्षत्वाद् रुतान्यत्वात् ।।
द्र०- महायानसूत्रालङ्कार, महायानसिद्धयधिकार ।
२. यत्सूत्रेऽवतरति, विनये सन्दृश्यते, धर्मतां च न विलोमयति, बुद्धवचनस्येदं लक्षणम् । द्र०- असङ्ग, महायानसूत्रालङ्कार, महायानसिद्धमधिकार ।
३. द्र०- महायानसूत्रालङ्कार, महायानसिद्धमधिकार ।

उसे बुद्धवचन नहीं मानते । इस पर आचार्य कहते हैं कि हमारे द्वारा हीनयान को बुद्धवचन नहीं मानने के पहले वह दोनों द्वारा कहाँ सिद्ध था[१] । अध्याशयसंचोदनसूत्र में उल्लिखित है कि चार कारणों से किसी आगम को बुद्धवचन मानना चाहिए, यथा— (१) उसे अर्थ (हित) से युक्त होना चाहिए, अनर्थ से नहीं, (२) उसे धर्म से युक्त होना चाहिए, अधर्म से नहीं, (३) उसे क्लेशों का प्रहाण करनेवाला होना चाहिए, बढ़ाने वाला नहीं, (४) उसे निर्वाण के गुणों को दिखाने वाला होना चाहिए, न कि संसार के गुणों को दिखलाने वाला[२] । महायान में ये सभी कारण विद्यमान हैं, अतः बुद्धवचन के रूप में महायान के प्रति आस्था रखनी चाहिए । जो उपर्युक्त प्रकार से सुभाषित है, वह सब बुद्धभाषित है, यथा— **यत् किञ्चित् मैत्रेय, सुभाषितं सर्वं तद् बुद्धभाषितम्**[३] ।

आक्षेप-परिहार— गृध्रकूट पर्वत पर आयोजित प्रथम संगीति के अवसर पर महायानसूत्रों का सूत्र, विनय एवं अभिधर्म— इन तीन पिटकों में संग्रह नहीं किया गया, अतः वे (महायानसूत्र) बुद्धवचन न होकर वेद आदि के सदृश बौद्धबाह्य हैं— यह आक्षेप युक्तिसंगत नहीं है । क्योंकि महायान में भी सूत्र, विनय और अभिधर्म हैं और उनमें चार आर्यसत्य, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच बल, सात बोध्यङ्ग, आठ मार्ग, दस बल, चार वैशारद्य और प्रत्यात्मवेद्य ज्ञान तथा क्लेशावरण के प्रहाण की विधि भी वैसे ही वर्णित है, जैसे आपके पिटकों में है । यही नहीं, अपि तु निरालम्ब भावना के आधार पर ज्ञेयावरण के प्रहाण की विधि भी प्रतिपादित है । महायान के वचन धर्ममुद्रा के विपरीत नहीं है । क्लेशों का शमन करनेवाला विनयपिटक भी वहाँ है तथा इसका अभिधर्म प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुसरण करता है । अतः उपर्यक्त आपेक्ष निरर्थक है ।

अठारह निकायों में कहीं भी महायान का संग्रह नहीं होता, अतः महायान बुद्धवचन नहीं है — यह आक्षेप भी युक्तियुक्त नहीं है । स्थूल, सूक्ष्म भेद तो अठारह निकायों में भी उपलब्ध होते हैं और फिर भी आप उन्हें बुद्धवचन के रूप में स्वीकार करते हैं, ऐसी स्थिति में परोपकार के उदात्त विचार और

१. नन्वसिद्धं महायानं कथं सिद्धस्त्वदागमः ।
यस्मादुभयसिद्धोऽसौ न सिद्धोऽसौ तवादितः ।।
— शान्तिदेव, बोधिचर्यावतार, ९:४२ ।

२. यदर्थवद् धर्मपदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेशनिबर्हणं वचः ।
भवेच्च यच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तदुक्तमार्षं विपरीतमन्यथा ।।
— अध्याशयसंचोदनसूत्र ।

३. द्र०- अध्याशयसंचोदनसूत्र ।

अनुपलम्भ आदि गम्भीर दर्शन के कुछ अंश श्रावकयान में नहीं होने के कारण उन्हें (महायानसूत्रों को) बुद्धवचन न मानना उचित नहीं है, क्योंकि महायानी भी सूत्र का अनुसरण करते हैं, बोधिसत्त्व के लिए निर्दिष्ट शिक्षापदों का अनुपालन करते हैं तथा धर्मता (धर्ममुद्रा) का अतिक्रमण नहीं करते । इतना ही नहीं, महायान बुद्धवचन है, क्योंकि महायानसूत्रों के संकलनकर्ता समन्तभद्र, मञ्जुश्री, वज्रपाणि एवं मैत्रेय आदि बोधिसत्त्व हैं, जिन्होंने उनका संगायन किया । अतः इस महायानसंगीति के द्वारा महायानसूत्र प्रामाणिक बुद्धवचन सिद्ध होते हैं श्रावकयानियों के द्वारा गृध्रकूट पर्वत पर महायानसूत्रों का संगायन करना सम्भव नहीं था, क्योंकि महायान उन (श्रावकयानियों)का गोचर ही ही नहीं है ।

यह आक्षेप भी युक्तिसंगत नहीं है कि "क्योंकि महायानसूत्रों में धर्मकाय को नित्य कहा गया है, अतः यह सिद्धान्त बौद्धों के इस सर्वमान्य सिद्धान्त से कि 'सभी संस्कार अनित्य हैं', इससे विरुद्ध है" । यह आक्षेप भी ठीक नहीं है, क्योंकि धर्मकाय को नित्य कहने का अभिप्राय ठीक-ठीक नहीं समझा गया है । वास्तविक अभिप्राय यह है कि भगवान् ने जिस यथावत् ज्ञान और यावत् ज्ञान का अधिगम किया है, उसका कभी क्षय नहीं होता, उसमें परिवर्तन नहीं होता और उसमें विकार नहीं आता[१] । इसलिए इसे नित्य कहा गया है, न कि आत्मा आदि की तरह कूटस्थ नित्य होने के अर्थ में । वह भगवान् द्वारा अधिगत ज्ञान तो स्वयं में अवश्य स्वभावतः अनित्य होता है । सन्तति नित्यता के अर्थ में यहाँ 'नित्य' शब्द प्रयुक्त है, जैसे नित्य प्रवाहशील उदकधारा या नित्य ऊर्ध्वगमनशील अग्निज्वाला आदि । तथागत का ज्ञान सभी ज्ञेयों में व्याप्त होता है । अर्थात् वह सभी ज्ञेयों में अनासक्त और अप्रतिहत होता है, अतः उसे व्यापी भी कहा जाता है, किन्तु इसका अर्थ नहीं है कि वह ब्रह्म की तरह व्यापक होता है ।

महायानसूत्रों में आलयविज्ञान या तथागतगर्भ की देशना की गई है, जो आत्मा के सदृश है । अतः यह सिद्धान्त 'सभी धर्म अनात्म है' इस बौद्धों के सर्वमान्य सिद्धान्त के विपरीत है, — यह आक्षेप भी समीचीन नहीं है । क्योंकि तथागतगर्भ आधार की शून्यता, हेतुओं की निर्लक्षणता और फल की अप्रणिधानता के अर्थ में प्रयुक्त है, न कि आभ्यन्तर किसी शाश्वत पुरुष की स्थिति के अर्थ में । दशभूमक आदि सूत्रों में जन्म ग्रहण करने वाले आलयविज्ञान को नदी की धारा के समान प्रवाहशील कहा गया है, जो क्षणिक होता है और यह कभी भी

१. इति कारित्रवैपुल्याद् बुद्धो व्यापी निरुच्यते ।
अक्षयत्वाच्च तस्यैव नित्य इत्यभिधीयते ।।
द्र०- मैत्रेयनाथ, अभिसमयालङ्कार, ८:११ ।

धर्ममुद्रा और नैरात्म्य का अतिक्रमण नहीं करता । अतः वह निःसन्देह आत्मा की तरह नहीं है ।

यह आक्षेप भी निराधार है कि महायानसूत्रों में क्योंकि निरुपधिशेष निर्वाण हो जाने पर भी बुद्ध की चित्त-सन्तति का प्रवाह अवरुद्ध नहीं होता और वे अप्रतिष्ठित निर्वाण में स्थित रहते हैं, अतः यह महायानी सिद्धान्त 'निर्वाण शान्त है'— बौद्धों के इस सर्वमान्य सिद्धान्त के विपरीत है । तथागत ने क्लेशावरण और ज्ञेयावरणों का समूल प्रहाण कर दिया है । इसलिए वे प्रज्ञा के कारण संसार के मलों से लिप्त नहीं होते और महाकरुणा के कारण संसार के सत्त्वों का परित्याग नहीं करते और संसार में स्थित रहते हुए उनके हितों का सम्पादन करते हैं । क्योंकि दुःखी सत्त्वों के दुःख के निवारण के लिए ही उन्होंने बुद्धत्व प्राप्ति की प्रतिज्ञा की थी । भगवान् ने क्लिष्ट चित्तसन्तति का समूल नाश कर दिया है, किन्तु अक्लिष्ट चित्तसन्तति के विद्यमान रहने में क्या युक्तिविरोध है, अतः वे अप्रतिष्ठित निर्वाण में स्थित रहते हैं । इसीलिए तथागत सदा के लिए महापरिनिर्वाण को प्राप्त नहीं होते । वे विनेयजनों के अध्याशय के अनुरूप कहीं जन्म लेने, कहीं बोधि प्राप्त करने और कहीं परिनिर्वाण प्राप्त करने को दर्शाते हैं । आपके सूत्रपिटक आदि में जैसे संकेतित है, उसी प्रकार महायान में निर्माणकाय स्वीकृत है । इसीलिए यह कहना कि चित्तसन्तति के निरन्तर प्रवृत्त होने से यह सिद्धान्त 'निर्वाण शान्त है'— इस सिद्धान्त के विपरीत है, यह तर्कसंगत नहीं है ।

अठारह निकायों में प्रायः तथागत का तुषित लोक से अवतरण निर्दिष्ट है । उनमें बुद्ध के पूर्वजन्म से सम्बद्ध स्तुति भी संवर्णित हैं, जिनमें जन्म से पूर्व तुषित लोक में होना, तथागत दीपंकर के समय बोधिचित्त उत्पन्न करना, लुम्बिनी में उत्पन्न होते ही सात कदम चलना आदि घटनाओं का वर्णन है । इस तरह अठारह निकायों में बोधिसत्त्व अवस्था से सम्बद्ध घटनाओं का वर्णन उपलब्ध होने से कहा जा सकता है कि महायान अठारह निकायों में संगृहीत है ।

जो यह आक्षेप दिया गया है कि महायान सूत्रों में व्रत, उपवास, स्नान, मन्त्र आदि का विधान है, जिसके द्वारा पापों का प्रक्षालन और मुक्ति की प्राप्ति का उल्लेख है, जैसा कि ब्राह्मण धर्म में है— यह आक्षेप भी नितान्त ही सारहीन है । क्योंकि अनन्तद्वारधारणी की साधना के अनुसार इस धारणी की भावना करने वाला साधक (बोधिसत्त्व) संस्कृत और असंस्कृत किसी भी धर्म की कल्पना नहीं करता, केवल बुद्धानुस्मृति की भावना करता है । नागराजपरिपृच्छासूत्र में भी कहा गया है कि सभी धर्म आदितः विशुद्ध हैं, इसलिए धारणी में स्थित बोधिसत्त्व

शून्यस्वरूप बीजाक्षरों का अनुसरण करता है, उनकी खोज करता है और उनमें स्थित होता है, जिससे उसमें राग, द्वेष, मोह आदि उत्पन्न नहीं होते । यह साधना भी वैसे ही है, जैसे अनित्यता, अशुचि आदि की भावना । अर्थात् धारणीमन्त्र और विद्यामन्त्र का तथागत के उपदेशानुसार जप, ध्यान एवं भावना करने से पाप का क्षय तथा चित्त सन्तति शान्त होती है । यह मार्गसत्य की भावना के समान ही है । धारणीमन्त्र के जप के समय साधक में पाप से उत्पन्न होने वाले विपाक के प्रति भय तथा पाप कर्म के प्रति हेयता का भाव होता है और अन्त में उस पाप की पुनरावृत्ति न हो, ऐसी प्रतिज्ञा करना अनिवार्य होता है । ये सब पाप के प्रायश्चित्त के अंग हैं ।

गंगास्नान से पाप का प्रायश्चित्त अथवा पानी से पापों का प्रक्षालन होता हो— ऐसा नहीं है, किन्तु अनवतप्तनागराजपरिपृच्छासूत्र में कथित नय के अनुसार पनसा नामक झील में जन्म लेते समय बोधिसत्त्व ने प्रणिधान किया था कि 'जो इस (झील) का जल पियेगा, इसमें स्नान करेगा, उसके पापों का क्षय हो, उनमें बोधिचित्त का उत्पाद हो'— उनके इस प्रणिधान के बल से स्नान द्वारा पाप का क्षय सम्भव है । प्रणिधान का फलीभूत होना अर्थात् बोधिसत्त्व के प्रणिधान के अनुरूप फल सिद्ध होना असम्भव नहीं है । जैसे विष तत्त्व का ज्ञाता कोई गारुडिक (गरुड विद्या का ज्ञाता) अपने सिद्ध मन्त्र के सामर्थ्य से किसी लकड़ी या पत्थर के स्तम्भ को अभिमन्त्रित करके और यह संकल्प करके उसे जमीन में गाड़ दे कि मेरे मरने के बाद यह स्तम्भ (खम्भा) ही, जो इसका स्पर्श करेगा, उसका विष उतार देगा और उसके बाद वह गारुडिक मर जाए । फिर भी देखा जाता है कि उसके मरने के सैकड़ों वर्षों बाद भी वह खम्भा लोगों का विष उतार रहा है[१] । उपवास आदि से यद्यपि मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, फिर भी विद्यामन्त्र की चर्या में और कायकर्मण्यता (कायिकस्फूर्ति) की सिद्धि में वे सहायक होकर मुक्ति की प्राप्ति में सहायक होते हैं । अतः यह कहना कि स्नान, उपवास आदि का विधान होने से महायान बुद्धवचन नहीं है— यह असङ्गत है ।

यह भी आक्षेप किया जाता है कि महायानसूत्रों में तीन रत्न, चार आर्य सत्य, कर्म और कर्मफल आदि की सत्यतः सत्ता का खण्डन किया गया है, अतः महायानी उच्छेदवादी चार्वाकों की तरह हैं । यह आक्षेप भी सही नहीं है । ऐसा

---

१. यथा गारुणिकः स्तम्भं साधयित्वा विनश्यति ।
स तस्मिंश्चिरनष्टेऽपि विषादीनुपशामयेत् ।।
द्र०- शान्तिदेव, बोधिचर्यावतार, ९:३७ ।

आक्षेप देनेवाले शून्यता का अर्थ अभाव समझते हैं और यह समझते हैं कि ये (महायानी) लोग अभाववादी हैं । जबकि वस्तुस्थिति यह है कि महायानी प्रतीत्यसमुत्पादवादी हैं । उनके अनुसार सभी धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं । इसका अर्थ है कि संस्कृत, असंस्कृत, लौकिक, लोकोत्तर धर्म अपनी सत्ता के लिए दूसरों अर्थात् हेतु-प्रत्ययों पर निर्भर हैं । ऐसा नहीं है कि वे अपने अस्तित्व के लिए परनिरपेक्ष न हों । अर्थात् उनकी स्वतन्त्र सत्ता हो । उनका निरपेक्ष न होना या स्वतन्त्र अस्तित्व न होना ही शून्यता, धर्मता, परमार्थ सत्य या तथता है । इसीलिए सभी धर्म शून्य एवं निःस्वभाव हैं, फिर भी उनका सापेक्ष, व्यावहारिक या सांवृतिक अस्तित्व होता है । इसी व्यावहारिक अस्तित्व के आधार पर लौकिक, लोकोत्तर, बन्ध, मोक्ष आदि की सभी व्यवस्थाएं सुचारु रूप से सम्पन्न होती हैं । इतना ही नहीं, महायानियों का तो यहाँ तक कहना है कि सस्वभाववाद में ही कोई भी व्यवस्था नहीं बन सकती । क्योंकि स्वभाव में परिवर्तन सम्भव नहीं होता । इसीलिए नागार्जुन ने कहा है :

यद्यशून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः ।
चतुर्णामार्यसत्यानामभावस्ते प्रसज्यते[१] ॥

अपि च,

अप्रतीत्य समुत्पन्नो धर्मः कश्चिन्न विद्यते ।
यस्मात्तस्मादशून्यो हि धर्मः कश्चिन्न विद्यते[२] ॥

बौद्धदर्शनों के कतिपय प्रमुख बिन्दुओं का संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन

हमने ग्रन्थ में चारों बौद्ध दर्शन-प्रस्थानों की प्रामाणिक रूप-रेखा प्रस्तुत की है । अब हम किसी एक बिन्दु पर उनके पारस्परिक मतभेद दिखलाने का प्रयास कर रहे हैं । इससे प्रत्येक दर्शन का असाधारण बौध करने में सहायता मिलेगी । ज्ञात है कि बौद्धों के प्रसिद्ध अठारह निकायों के विभाजन का आधार प्रमुखतः उनकी पृथक् आचार्य-परम्पराएं एवं विनय-सम्बन्धी आचार रहे हैं । दार्शनिक मान्यताओं में अधिक मतभेद नहीं है । इसलिए इन अठारहों निकायों को दार्शनिक विभाजन के अवसर पर वैभाषिक कहने की बौद्ध दार्शनिकों की

१. द्र०- मूलमाध्यमिककारिका, २४:२० ।
२. द्र०- नागार्जुन, मूलमाध्यमिककारिका, २४:१९ ।

परम्परा रही है । इसलिए हम भी वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक-इन प्रसिद्ध चार बौद्ध दर्शनों के विचारों को ही तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करेंगे । यह भी ज्ञात है कि वैभाषिक और सौत्रान्तिकों को हीनयान तथा योगाचार और माध्यमिकों को महायान कहने की भी परम्परा है । यद्यपि हीनयान और महायान के विभाजन का आधार दर्शन बिलकुल नहीं है । निश्चय ही उसका आधार उद्देश्य की भिन्नता ही है, फिर भी प्रचलित अवधारणा के अनुसार हमने भी यहाँ वैसा ही प्रयोग किया है । अब हम कतिपय प्रमुख दार्शनिक मुद्दों को लेकर सभी के पृथक् पृथक् विचारों को प्रस्तुत कर रहे हैं ।

(१) वस्तुसत्ता

वैभाषिक बाह्यार्थवादी हैं । वे आन्तरिक एवं बाह्य सभी पदार्थों की वस्तुसत्ता स्वीकार करते हैं । सौत्रान्तिक भी बाह्यार्थवादी है और स्वभावसत्तावादी भी । सौत्रान्तिक आचार्य शुभगुप्त ने 'बाह्यार्थसिद्धिकारिका' नामक अपने ग्रन्थ में बड़े विस्तार से युक्तिपूर्वक विज्ञानवादियों का खण्डन करके बाह्यार्थ की सत्ता सिद्ध की है । बाह्यार्थ को सिद्ध करने में सौत्रान्तिकों ने अभूतपूर्व एवं स्तुत्य प्रयास किया है । विज्ञानवादी निर्बाह्यार्थवादी हैं । इनके मत में बाह्यार्थ परिकल्पित मात्र हैं । अर्थात् बाह्यार्थ खपुष्पवत् अलीक है । वे केवल विज्ञान-परिणाम की ही द्रव्यतः सत्ता स्वीकार करते हैं । चित्त-चैतसिकों के बाहर कोई धर्म नहीं है । परमाणु की सत्ता का उन्होंने बड़े जोरदार ढंग से निषेध किया है । फलतः परमाणुओं से संचित स्थूल बाह्यार्थ का निषेध अपने-आप हो जाता है ।

स्वातन्त्रिक और प्रासङ्गिक के भेद से माध्यमिक दो प्रकार के हैं । स्वातन्त्रिक भी सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक और योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक भेद से द्विविध हैं ।

सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक नय के प्रवर्तक आचार्य भावविवेक समस्त धर्मों को परमार्थतः निःस्वभाव या शून्य मानते हैं । अर्थात् उनके मतानुसार समस्त धर्म मिथ्या एवं मायावत् हैं । उनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है, फिर भी समस्त धर्मों की व्यावहारिक या सांवृतिक सत्ता है ।

प्रश्न है उनके अनुसार व्यवहारतः सत् समस्त धर्मों की बाह्यर्थतः सत्ता है कि नहीं ? इस विषय में आचार्य भावविवेक ने अपने ग्रन्थों में स्पष्ट एवं तर्कपूर्ण विवेचन किया है । उनका कहना है कि बाह्यार्थ होते हैं । वे कहते हैं कि

''**चित्तमात्रं भो जिनपुत्राः, यदुत त्रैधातुकम्**'' (दशभूमकसूत्र,पृ० ४९) इस दशभूमकसूत्र द्वारा विज्ञप्तिमात्रता की स्थापना नहीं की गई है, अपि तु चित्तातिरिक्त सृष्टिकर्ता का खण्डन किया गया है, जो तैर्थिकों द्वारा मान्य है ।

दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते ।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम् ।।

(लङ्कावतारसूत्र : ३:३३)

इस लङ्कावतारसूत्र द्वारा भी बाह्यार्थ का निषेध नहीं होता । '**दृश्यं न विद्यते बाह्यम्**' का तात्पर्य बाह्यार्थ के न होने से नहीं है, अपि तु बाह्यार्थों के परमार्थतः निःस्वभाव होने से है । '**चित्त चित्रं हि दृश्यते देहभोगप्रतिष्ठानम्**' का अर्थ है देह, भोग आदि में प्रवृत्त विभिन्न चित्त तत्तद् विषयाकार होते हैं । '**चित्तमात्रं वदाम्यहम्**' का अर्थ चित्तातिरिक्त ईश्वर आदि सृष्टिकर्ता का निषेध है । उपर्युक्त बातें उन्होंने अपनी '**प्रज्ञाप्रदीप**' नामक **मूलमाध्यमिककारिका** की बृहद् टीका में कही है । ऐसा प्रतीत होता है कि वे बाह्यार्थ का निषेध किसी भी सूत्र का अभिप्राय नहीं मानते ।

मध्यमकहृदयकारिका एवं **तर्कज्वाला** नामक उसके स्वभाष्य में भी उन्होंने स्पष्टतया प्रतिपादित किया है कि यह प्रत्यक्षतः सिद्ध है कि द्विचन्द्राकार चक्षुर्विज्ञान भी बिना एक चन्द्रमा के उत्पन्न नहीं होता. अतः इन्द्रियविज्ञानों का बाह्यालम्बन होना अत्यन्त आवश्यक है । अतः निश्चित होता है कि बाह्यार्थ हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि बाह्यार्थ को लेकर सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक व्यवहार में विज्ञानवादियों से भिन्न हो जाते हैं ।

आचार्य शान्तरक्षित योगाचार स्वातन्त्रिक मत के प्रवर्तक हैं । आचार्य शान्तरक्षित ने अपने **मध्यमकालङ्कार** नामक ग्रन्थ के स्वभाष्य में बाह्यार्थ की सत्ता का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है और व्यवहार में विज्ञप्तिमात्रता की स्थापना की है । बाह्यार्थों की सत्ता के साधक प्रमाणों की परीक्षा करके उन्होंने उन्हें प्रमाणाभास सिद्ध किया और विज्ञप्तिमात्रता को आर्यसन्धिनिर्मोचन, आर्यघनव्यूह एवं लङ्कावतार आदि सूत्रों का अभिप्राय सिद्ध किया है । इस प्रकार आचार्य शान्तरक्षित बाह्यार्थशून्यता मानते हैं । निःसन्देह आचार्य के विचार विज्ञानवाद से प्रभावित हैं । यद्यपि योगाचार माध्यमिक निर्बाह्यार्थवादी हैं, तथापि वे योगाचारों की भाँति बाह्यार्थशून्यता को परमार्थसत्य नहीं मानते, अपि तु वे उसे व्यावहारिक ही मानते हैं । व्यावहारिक क्षेत्र में अवश्य आचार्य शान्तरक्षित और

विज्ञानवादियों में साम्य है । इसीलिए उन्हें योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक कहा जाता है ।

यद्यपि सबके कहने में थोड़ा-थोड़ा फर्क है, फिर भी प्रासंगिक मतानुसार वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं स्वातन्त्रिक माध्यमिक सभी धर्मों की स्वाभाविक सत्ता या स्वलक्षण सत्ता स्वीकार करते हैं । सभी के मूल सिद्धान्त इसी पर आधृत हैं । स्वभावतः अस्तित्व एवं स्वलक्षणतः अस्तित्व पर्यायवाची हैं । लोक में देवदत्त द्रष्टा है, श्रोता है या कर्ता है, इत्यादि व्यवहार प्रचलित हैं । प्रश्न है कि वह देवदत्त कौन है ? क्या उसके स्कन्ध देवदत्त हैं या वह स्कन्धों से भिन्न कोई सत्तावान् पदार्थ है ? इस प्रकार का अन्वेषण 'व्यवहृत अर्थ का अन्वेषण' या 'प्रज्ञप्त अर्थ का अन्वेषण' कहलाता है । इस प्रकार का अन्वेषण करने पर यदि स्कन्धों से भिन्न या अभिन्न कोई पक्ष उपलब्ध हो तो द्रष्टा, श्रोता या कर्ता आदि का अस्तित्व माना जा सकता है । यदि कोई भी पक्ष उपलब्ध न हो तो उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता । संस्कृत और असंस्कृत सभी धर्म इसी प्रकार परीक्षणीय हैं । यह स्वभावतः अस्तित्ववादी या स्वलक्षणतः अस्तित्ववादियों का सिद्धान्त है ।

कुछ वैभाषिक, जैसे वात्सीपुत्रीय आदि व्यक्ति को पञ्चस्कन्धों से भिन्नत्वेन एवं अभिन्नत्वेन अनिर्वचनीय मानते हैं । साथ ही, उसे द्रव्यतः सत् भी स्वीकार करते हैं । सौत्रान्तिक आदि मनोविज्ञान को व्यक्ति या पुद्गल मानते हैं । आगमानुयायी विज्ञानवादियों के मत में आलयविज्ञान या विपाकविज्ञान पुद्गल माना जाता है । आचार्य भावविवेक आदि भी मनोविज्ञान को ही पुद्गल मानते हैं ।

तैर्थिक (अबौद्ध) दार्शनिक पाँच स्कन्धों से भिन्न नित्य, शाश्वत, कूटस्थ आत्मा स्वीकार करते हैं । उनके मतानुसार आत्मा या तो ज्ञान का आश्रय है या स्वयं ज्ञानस्वरूप है । जब रूप आदि दृष्टिगोचर होते हैं, तब इन्द्रिय आदि उपकरणों द्वारा आत्मा ही द्रष्टा आदि हुआ करता है । मन, बुद्धि आदि से वह परे होता है तथा वह स्वतन्त्र एवं द्रव्यतः सत् होता है ।

आचार्य चन्द्रकीर्ति आदि प्रासंगिक माध्यमिकों का मत उपर्युक्त मतों से सर्वथा भिन्न है । वे व्यवहृत अर्थ का अन्वेषण करने पर उसकी कथमपि उपलब्धि नहीं मानते । लोक में जैसा व्यवहार होता है, वस्तुओं का व्यवहार में उतना ही अस्तित्व होता है । अर्थात् वस्तुएं व्यवहारमात्र या प्रज्ञप्तिमात्र हैं । इस तथ्य को हम यों कह सकते हैं कि पदार्थों का अपनी ओर से किञ्चित् भी

अस्तित्व नहीं होता । अर्थात् वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती । समस्त धर्म परस्पराश्रित होते हैं । ऐसा होने पर भी प्रासंगिक उच्छेदवादी नहीं हैं । वे निःस्वभाव धर्मों का अस्तित्व स्वीकारते हैं और उसी के आधार पर संसार और निर्वाण से सम्बद्ध सारी व्यवस्था करते हैं ।

यद्यपि प्रासंगिक माध्यमिक अन्वेषण करने पर व्यवहृत अर्थ की उपलब्धि नहीं मानते, तथापि लोक में वस्तु की जिस प्रकार सत्ता मानी जाती है, संवृति के क्षेत्र में वे भी उसी प्रकार की सत्ता मान लेते हैं । लोक में किसी भी पदार्थ की सत्ता प्रमाणों द्वारा परीक्षण करके या अन्वेषण करके स्थापित नहीं की जाती, अपि तु विना विचार किये जैसे सभी लोग मानते हैं, उस प्रकार मान ली जाती है । शास्त्रों में इसी स्थिति को 'अविचार प्रसिद्ध' या अविचार रमणीय' कहा गया है । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि देवदत्त नहीं है या गमन, आगमन नहीं करता, अथवा अच्छा या बुरा नहीं है या इस प्रकार का विचार नहीं किया जा सकता । लोकव्यवहार या संवृति में यह सब कुछ हो सकता है । व्यावहारिक विषयों में व्यावहारिक विचार होने में कोई आपत्ति नहीं है ।

विज्ञानवादी निर्बाह्यार्थवादी हैं । प्रासंगिक माध्यमिक यद्यपि समस्त धर्मों को निःस्वभाव मानते हैं, तथापि वे निर्बाह्यार्थवादी नहीं है । उनके मत में घट, पट आदि समस्त धर्म निःस्वभाव हैं, तथापि वे सर्वथा अलीक नहीं हैं, उनका अस्तित्व है । अर्थात् व्यावहारिक क्षेत्र में बाह्यार्थ का अस्तित्व मान्य है । इनके मतानुसार **'षट्केन युगपद् योगाद्'** (वसुबन्धु, विंशिका, का० १२) आदि विज्ञानवादियों की इन युक्तियों के द्वारा निरवयव बाह्यार्थ (परमाणु) का खण्डन होता है, तथापि बाह्यार्थ का निषेध नहीं होता । उनका कहना है कि विज्ञानवादियों के पास बाह्यार्थ के निषेध के लिए पर्याप्त एवं उपयुक्त युक्तियों का अभाव है । इतना ही नहीं, निर्बाह्यार्थता के पक्ष में लोकप्रसिद्धि से भी विरोध है ।

'चित्तमात्रं भो जिनपुत्राः, यदुत त्रैधातुकम्' इस दशभूमकसूत्र द्वारा बाह्यार्थ का निषेध नहीं होता, अपि तु चित्तातिरिक्त ईश्वर आदि सृष्टिकर्ता का निषेध होता है । **'दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते'** इत्यादि लङ्कावतारसूत्र द्वारा यद्यपि बाह्यार्थ का निषेध किया गया है, तथापि यह सूत्र नेयार्थ है, नीतार्थ नहीं । प्रयोजनवश भगवान् ने वैसा कहा है ।

(२) परमाणु

वैभाषिक परमाणुवादी हैं । यद्यपि परमाणु के स्वरूप के बारे में उनमें परस्पर अनेकविध मतभेद हैं, तथापि सभी परमाणु की सत्ता स्वीकार करते हैं । सौत्रान्तिक भी परमाणु मानते हैं । बाह्यार्थवादियों के लिए परमाणु मानना आवश्यक भी है ।

विज्ञानवादी परमाणु नहीं मानते । बाह्यार्थ का अभाव एवं विज्ञान की सत्ता सिद्ध करने के लिए परमाणु का निषेध करना आवश्यक होता है । इसीलिए आचार्य वसुबन्धु ने विंशिका में निरवयव परमाणु का जोरदार खण्डन किया है ।

प्रासंगिक माध्यमिक भी वैभाषिकों की भाँति परमाणुवादी हैं, तथापि दोनों के मत में मौलिक अन्तर है । सभी प्रकार के वैभाषिक निरवयव परमाणु मानते हैं । प्रासंगिक परमाणु को कल्पित मानते हैं । वह कल्पित परमाणु भी उनके मतानुसार निरवयव नहीं हो सकते, अपि तु सावयव होते हैं । वे कहते हैं कि जैसे व्यवहार में घट, पट आदि की सत्ता है, उसी प्रकार परमाणु का भी अस्तित्व है ।

(३) आलयविज्ञान

स्थविरवादी यद्यपि आलयविज्ञान नहीं मानते, फिर भी कर्म, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि की व्यवस्था के लिए एक 'भवाङ्ग' नामक चित्त स्वीकार करते हैं । इनके मतानुसार भवाङ्ग ही व्यक्तित्व है, जो कुछ अवस्थाओं को छोड़कर समुद्र की भाँति भीतर ही भीतर निरन्तर प्रवाहित होता रहता है । जैसे आलयविज्ञान जब तक बुद्धत्व प्राप्त नहीं होता, तब तक निरन्तर अविच्छिन्न रूप से प्रवृत्त होता रहता है, वैसे भवाङ्ग चित्त भी अर्हत् के निरुपधिशेष निर्वाणधातु में लीन होते तक प्रवृत्त होता रहता है । समुद्र से तरङ्गों की भाँति आलयविज्ञान से जैसे सात प्रवृत्तिविज्ञानों की प्रवृत्ति होती है और अन्त में वे उसी में विलीन हो जाते हैं, वैसे ही भवाङ्ग चित्त से छह प्रवृत्तिविज्ञानों (वीथिचित्तों) की प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्त होकर उसी में विलीन हो जाते हैं । विज्ञानवादी आलयविज्ञान को जैसे कुशल, अकुशल का विपाक मानते हैं, स्थविरवादियों के मत में भवाङ्ग चित्त भी कुशल, अकुशल कर्मों का विपाक होता है । आलयविज्ञान की भाँति भवाङ्ग चित्त भी प्रतिसन्धि (पुनर्जन्म ग्रहण) और च्युति (मरण) कृत्य करता है । आलयविज्ञान और भवाङ्ग दोनों संस्कृत और क्षणिक होते हैं । विज्ञानवाद के अनुसार आलयविज्ञान में कुशल, अकुशल, अव्याकृत सभी चित्तों की वासनाएं

निहित रहती हैं । वह समस्त धर्मों के बीजों का आधार होता है, वैसे भवाङ्ग चित्त से भी षड् विज्ञानवीथियाँ उत्पन्न होती हैं और अन्त में उसी में पतित हो जाती हैं । फलतः वह भी वासनाओं का आधार हो जाता है ।

फिर भी आलयविज्ञान और भवाङ्ग के स्वरूप में कुछ फर्क भी है । विज्ञानवादियों में युगपत् अनेक विज्ञानों की उपस्थिति मानी जाती है । इनके मत में किसी भी एक क्षण में कम से कम तीन विज्ञान अवश्य उपस्थित होते हैं, यथा— आलयविज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान और कोई एक प्रवृत्तिविज्ञान । स्थविरवादी एक काल में एक से अधिक विज्ञान की उपस्थिति नहीं मानते । अतः जब कोई प्रवृत्तिविज्ञान या वीथिचित्त उत्पन्न होता है, उस समय भवाङ्ग चित्त निरुद्ध हो जाता है, इसे 'भवाङ्गोपच्छेद' कहते हैं । फलतः केवल भवाङ्ग ही वासनाओं का आधार नहीं होता, अपि तु लोकोत्तर चित्तों को छोड़कर समस्त चित्त यथायोग्य वासनाओं के आधार होते हैं ।

वैभाषिक और सौत्रान्तिक किसी भी तरह आलयविज्ञान की सत्ता स्वीकार नहीं करते । आगमनुयायी विज्ञानवादी आलयविज्ञान पर ही अपना दर्शन स्थापित करते हैं । युक्त्यनुयायी विज्ञानवादी आलयविज्ञान को नहीं मानते । अतः क्लिष्ट मनोविज्ञान भी नहीं मानते । फलतः ये अष्ट विज्ञानवादी नहीं, अपितु षड्विज्ञानवादी हैं । इनके मत में भी वासनाएं होती हैं, किन्तु वे उन्हें आलयविज्ञान पर नहीं, अपि तु मनोविज्ञान पर आधृत मानते हैं । सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक बाह्यार्थ मानते हैं, अतः उन्हें आलयविज्ञान मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती । आलयविज्ञान न मानने से क्लिष्ट मनोविज्ञान को मानने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता । आचार्य भावविवेक अपने मध्यमकहृदय ग्रन्थ में कहते हैं कि विज्ञानवादियों ने आलयविज्ञान के नाम से आत्मा की ही स्थापना कर दी है । इस तरह आचार्य भावविवेक आलयविज्ञान का खण्डन करते हैं और छह विज्ञान ही मानते हैं ।

योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक मत के प्रवर्तक आचार्य शान्तरक्षित के ग्रन्थों से यह स्पष्ट नहीं होता कि वे आलयविज्ञान मानते हैं कि नहीं, तथापि उनके दर्शन के वातावरण से ऐसा प्रतीत होता है कि वे आलयविज्ञान नहीं मानते ।

प्रासंगिक मत के आचार्य चन्द्रकीर्ति ने मध्यमकावतार में कहा है कि विज्ञानवादियों के आलयविज्ञान तथा ईश्वरवादियों के ईश्वर में केवल इतना ही अन्तर है कि विज्ञानवादी आलयविज्ञान को अनित्य मानते हैं और ईश्वरवादी ईश्वर को नित्य मानते हैं । इस प्रकार प्रासंगिक माध्यमिक आलयविज्ञान का खण्डन

करते हैं । इससे यह भी सिद्ध होता है कि आलयविज्ञान एक अनित्य विज्ञान है, नित्य नहीं, जैसा कि कुछ लोग उसे नित्य मानते हैं ।

(४) गोत्र

वैभाषिक, सौत्रान्तिक एवं स्थविरवादी दार्शनिक यद्यपि व्यक्ति में कुशलमूल का होना तो मानते हैं, किन्तु प्रकृतिस्थ गोत्र और परिपुष्ट गोत्र की जैसी व्यवस्था महायान में मान्य है, वैसे ये नहीं मानते ।

महायान मतानुसार सभी जीव एक न एक दिन अवश्य निर्वाण प्राप्त करेंगे, क्योंकि सभी जीवों में उसका गोत्र विद्यमान है । उसी के आधार पर श्रावक को निर्वाण एवं बोधिसत्त्व को बुद्धत्व की प्राप्ति होती है । गोत्र भी त्रिविध है,— श्रावक गोत्र, प्रत्येकबुद्ध गोत्र एवं बोधिसत्त्व गोत्र ।

गोत्र द्विविध है, यथा— प्रकृतिस्थ गोत्र एवं परिपुष्ट गोत्र । ऊपर जो त्रिविध गोत्र कहे गये हैं, उससे इसका कोई विरोध नहीं है, क्योंकि उन तीनों में से प्रत्येक गोत्र द्विविध होता है । इन द्विविध गोत्रों में से प्रकृतिस्थ गोत्र के बारे में महायानदर्शनों में अत्यन्त मतभेद हैं । ज्ञात है कि महायानदर्शन दो हैं, यथा— माध्यमिक एवं योगाचार । माध्यमिक भी द्विविध हैं— स्वातन्त्रिक एवं प्रासंगिक । दोनों प्रकार के माध्यमिक मतों में जीवों की समल चित्त की शून्यता प्रकृतिस्थ गोत्र मानी जाती है । माध्यमिक समस्त धर्मों को निःस्वभाव मानते हैं । अतः जीवों का चित्त भी निःस्वभाव होता है । चित्त की यह निःस्वभावता (शून्यता) ही प्रकृतिस्थ गोत्र है । इसी गोत्र की वजह से चित्त क्रमशः निर्मल होकर निर्वाण या बुद्धत्व का लाभ करता है । माध्यमिकों के अनुसार प्रकृतिस्थ गोत्र ही तथागतगर्भ है । अतः प्रकृतिस्थ गोत्र या तथागतगर्भ इनके मत में असंस्कृत धर्म है ।

आगमानुयायी और युक्त्यनुयायी दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों के मतानुसार प्रकृतिस्थ गोत्र संस्कृत धर्म माना जाता है । आलयविज्ञान को मानने और न मानने की वजह से दोनों विज्ञानवादियों में उस गोत्र के बारे में कुछ फर्क पड़ जाना स्वाभाविक है । आगमनुयायी विज्ञानवादियों के अनुसार आलयविज्ञान में अनेकविध वासनाएं या धर्मबीज विद्यमान होते हैं । उनमें ऐसे बीज भी होते हैं, जिनके परिपाक से अनास्रव या विशुद्ध ज्ञान का जन्म होता है । ये अनादि होते हैं । ये अनादि इसलिए हैं, क्योंकि ये किसी चित्त द्वारा स्थापित नहीं होते । अर्थात् इनका कोई प्रक्षेपक या स्थापक नहीं होता । ये आलयविज्ञान में स्थित होते हैं । अतः प्रकृतिस्थ गोत्र कहलाते हैं । श्रवण, चिन्तन एवं भावना आदि के

कारण वे वासनाएं (या धर्मबीज) परिपुष्ट होती हैं । जब तक वे बीज परिपुष्ट नहीं होते, तब तक वे प्रकृतिस्थ गोत्र कहलाते हैं । यह गोत्र ही वह वस्तु है, जो बुद्ध आदि कल्याणमित्रों के सद्धर्मोपदेश के श्रवण आदि के हेतु होते हैं । इसी के कारण बड़े से बड़े पापी भी मुक्तिमार्ग विषयक उपदेशों के पात्र बन जाया करते हैं ।

आगमानुयायी विज्ञानवादियों के मत में उपर्युक्त प्रकृतिस्थ गोत्र की एक विशिष्ट अवस्था परिपुष्ट गोत्र कहलाती है । ऊपर कहा गया है कि अपरिपुष्ट अनास्रव बीज प्रकृतिस्थ गोत्र कहलाते हैं । श्रवण, चिन्तन, भावना आदि के द्वारा परिपुष्ट होने पर वे परिपुष्ट गोत्र कहलाने लगते हैं । परिपुष्ट गोत्र हो जाने पर वे प्रकृतिस्थ और परिपुष्ट दोनों गोत्र होते हैं । अनास्रव बीज को माध्यमिक भी परिपुष्ट गोत्र मानते हैं और उसे संस्कृत धर्म भी मानते हैं, किन्तु वे उसे आलयविज्ञान पर नहीं, अपि तु मनोविज्ञान पर स्थित मानते हैं । विज्ञानवादी गोत्र को संस्कृत मानते हैं । वे माध्यमिकों की भाँति शून्यता के आधार पर प्रकृतिस्थ गोत्र की स्थापना नहीं करते, जबकि माध्यमिक चित्त की निःस्वभावता को प्रकृतिस्थ गोत्र मानते हैं ।

युक्त्यनुयायी विज्ञानवादी आलयविज्ञान नहीं मानते, अतः आलयविज्ञान में स्थित अनास्रव बीज को ये गोत्र भी नहीं मानते । इनके मतानुसार छह आध्यात्मिक आयतनों पर स्थित अनास्रव ज्ञान के बीज ही गोत्र होते हैं । छह आध्यात्मिक आयतनों में अनादिकाल से प्रकृतितः स्थित अनास्रव ज्ञानबीज ही प्रकृतिस्थ गोत्र हैं तथा श्रवण, मनन, भावना आदि के द्वारा जब वे परिपुष्ट होने लगते हैं तो वे परिपुष्ट गोत्र हो जाते हैं ।

(५) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष / Self cognition

वैभाषिक मत में तीन ही प्रत्यक्ष-प्रमाण होते हैं । वैभाषिक दर्शन अतिप्राचीन है । सम्भव है उस समय स्वसंवेदन का औपचारिक प्रचलन न हो । सौत्रान्तिक स्वसंवेदनवादी है । वह स्वसंवेदन मानते हुए भी बाह्यार्थ का अस्तित्व स्वीकार करते हैं । सम्भवतः बौद्धदर्शन में स्वसंवेदन की स्थापना करना सौत्रान्तिकों की विशेषता है । विज्ञानवादी जोरदार ढंग से स्वसंवेदन की स्थापना करते हैं । इसी के द्वारा वे बाह्यार्थ की सत्ता का निषेध कर विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि करते हैं । विज्ञानवादी दीपक के दृष्टान्त से यह सिद्ध करते हैं कि दीपक की तरह ज्ञान जैसे ज्ञेय वस्तुओं को प्रकाशित करता है, वैसे ही अपने-आपको भी प्रकाशित करता है । जैसे दीपक को प्रकाशित करने के लिए अन्य दीपक की अपेक्षा नहीं होती, वैसे ज्ञान के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अन्य ज्ञान अपेक्षित नहीं है । ज्ञान स्वयं अपने को प्रकाशित कर देता है । ज्ञान का यही अंश स्वसंवेदन कहलाता है । स्वसंवेदन से ही ज्ञान और ज्ञेय दोनों एक साथ निश्चित किये जा सकते हैं । इसे सहोपलम्भ नियम कहते हैं । इससे ज्ञान और ज्ञेय अभिन्न सिद्ध किये जाते हैं । इसी अभिन्नता का नाम विज्ञप्तिमात्रता है । इसी कारण वे अनेक युक्तियों से अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का अस्तित्व सिद्ध करते हैं । सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष— इस तरह चार प्रत्यक्ष मानते हैं ।

आचार्य भावविवेक अपने ग्रन्थों में स्वसंवेदन का बड़े युक्तिपूर्वक ढंग से खण्डन करते हैं । वे कहते हैं कि जैसे तीक्ष्ण भी असि (तलवार) धार अपने को नहीं काट सकती, सुशिक्षित भी नटबटु अपने स्कन्धों पर आरूढ नहीं हो सकता तथा अग्नि अपने-आप को नहीं जलाती, वैसे ही चित्त-चैतसिक (ज्ञान) अपने-आप को नहीं जान सकते । इस प्रकार सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं मानते ।

आचार्य शान्तरक्षित संवृतिसत्य की स्थापना करते हुए स्वसंवेदन का जोरदार ढंग से समर्थन करते हैं । स्वसंवेदन सिद्ध करने की उनकी प्रधान युक्ति विज्ञानवादी दर्शन की भाँति सहोपलम्भ नियम ही है । धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में इस नियम का विशद प्रतिपादन किया है । ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए स्वसंवेदन का मानना अत्यन्त आवश्यक होता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वसंवेदन के विषय में योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं विज्ञानवादियों में ऐकमत्य है ।

प्रासंगिक माध्यमिक भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं मानते । इनके मत में भी तीन ही प्रत्यक्ष माने जाते हैं । प्रासंगिक मतानुसार स्वसंवेदन की सत्ता स्वभावसत्ता पर आधृत है । जब ज्ञानों की स्वभावसत्ता ही नहीं है तो स्वसंवेदन का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है । इनके मतानुसार ज्ञान का अस्तित्व ज्ञेय पर आश्रित है और ज्ञेय का अस्तित्व ज्ञान पर आश्रित है । अतः ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए स्वसंवेदन मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । प्रासंगिक माध्यमिक कहते हैं कि दीपक का दृष्टान्त भी युक्तिहीन दृष्टान्त है । क्योंकि दीपक अपने-आप को प्रकाशित नहीं करता । वह रूप आदि को प्रकाशित करता है, इसी से उसका प्रकाशकत्व सिद्ध है । अग्नि अपने आपको नहीं जलाती, किन्तु तृण, काष्ठ आदि को जलाती है, उसीसे उसका दाहकत्व सिद्ध हो जाता है ।

अन्धकार अपने-आप को नहीं ढंकता । वह अन्य वस्तुओं को ढंकता है, अत: उसका अस्तित्व सिद्ध है । यदि अग्नि अपने-आप को जला देगी तो बुझ जाएगी और अन्धकार अपने-आप को ढंक देगा तो प्रकाश हो जाएगा । अत: दीपक का दृष्टान्त अनुपयुक्त है । इस प्रकार प्रासंगिक माध्यमिक स्वसंवेदन का व्यावहारिक अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते ।

(६) ज्ञानाकार

वैभाषिक मत में इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान निराकार माने जाते हैं । इनके मतानुसार चक्षु रूप को देखता है । चक्षु में रूप का प्रतिभास होता है, चक्षुर्विज्ञान में नहीं । चक्षुर्विज्ञान तो चक्षुगत प्रतिबिम्ब का साक्षात्कार करता (जानता) है । अत: इन्द्रिय साकार हैं और इन्द्रियोत्पन्न ज्ञान निराकार हैं । वैभाषिकों का कहना है कि यदि चक्षुर्विज्ञान में रूप का प्रतिभास माना जाएगा तो उसके द्वारा प्राचीर, कुड्य आदि से तिरोहित रूप का भी साक्षात्कार मानना पड़ेगा, क्योंकि विज्ञान अप्रतिघ (रूपों से अबाधित) होता है । अर्थात् विज्ञान के गमन में कोई रूपी धर्म बाधक नहीं होता है । फलत: चक्षु ही रूपों को देखता है, चक्षुर्विज्ञान नहीं ।

इसके विपरीत सभी अन्य बौद्ध दार्शनिक प्रस्थानों में चक्षुरादि इन्द्रियाँ रूप आदि में प्रवृत्त नहीं होतीं, क्योंकि वे जड होती हैं, अपि तु चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञान ही रूप आदि का ग्रहण करते हैं ।

सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी दोनों इन्द्रियों से उत्पन्न विज्ञानों को साकार मानते हैं । माध्यमिक भी ऐसा ही मानते हैं ।

(७) निर्वाण

वैभाषिक निरोध को निर्वाण मानते हैं । वह भी प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध के भेद से द्विविध है । इन दोनों में प्रतिसंख्यानिरोध ही मुख्य है । निरुपधिशेषनिर्वाण की अवस्था में सभी संस्कृत धर्म निरुद्ध हो जाते हैं और वह (संस्कृत धर्मों का निरोध) अप्रतिसंख्यानिरोधस्वरूप होता है । वह असंस्कृत होता है और द्रव्यत: सत् होता है ।

सौत्रान्तिकों के मत में निर्वाण अभावमात्र (प्रसज्यप्रतिषेधस्वरूप) होता है, जो समस्त क्लेशों से रहिततामात्र है ।

विज्ञानवादियों के मत में निर्वाण द्रव्यत: सत् नहीं है । वह क्लेशावरण का अभावमात्र है । महानिर्वाण भी क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों का अभावमात्र ही है और वह एक नित्य धर्म है । महायाननिर्वाण की अवस्था बुद्धत्व की अवस्था है । इस अवस्था में यद्यपि सास्रव पञ्च स्कन्ध अर्थात् सास्रव शरीर एवं चित्तसन्तति विद्यमान नहीं होते, तथापि अनास्रव पञ्च स्कन्ध विद्यमान होते हैं, जो समस्त जीवों का कल्याण सिद्ध करते हैं । माध्यमिक भी ऐसा ही मानते हैं ।

(८) बुद्धवचन

वैभाषिक महायानसूत्रों को बुद्धवचन नहीं मानते, क्योंकि उनमें वर्णित विषय उन्हें अभीष्ट नहीं हैं । वे केवल हीनयानी त्रिपिटक को ही बुद्धवचन मानते हैं । प्राचीन या आगमानुयायी सौत्रान्तिक महायानसूत्रों को बुद्धवचन नहीं मानते थे, किन्तु धर्मकीर्ति के बाद के अर्वाचीन या युक्त्यनुयायी सौत्रान्तिक महायानी आचार्यों के प्रभाव से महायानसूत्रों को बुद्धवचन मानने लगे, फिर भी वे उनका अर्थ प्रकारान्तर से लेते थे । महायानी आचार्य हीनयानी और महायानी सभी सूत्रों को बुद्धवचन मानते हैं ।

(९) धर्मचक्र

वैभाषिक और सौत्रान्तिक एक धर्मचक्र ही मानते हैं, जिसकी देशना भगवान् ने ऋषिपतन मृगदाव में की थी । इसके विनेय जन श्रावकवर्गीय लोग हैं, जो स्वलक्षण और बाह्यसत्ता पर आधृत चतुर्विध आर्यसत्य के पात्र हैं । पुद्गल-नैरात्म्य के साक्षात्कार द्वारा निर्वाण प्राप्त कर लेना, इसका लक्ष्य है । श्रावक-वर्गीय लोगों की दृष्टि से यह नीतार्थ देशना है । योगाचार और माध्यमिक लोगों की दृष्टि से यह नेयार्थ देशना है ।

महायानी तीन धर्मचक्रप्रवर्तन मानते हैं । पहला ऋषिपतन मृगदाव में, दूसरा गृध्रकूट पर्वत पर तथा तीसरा वैशाली में । द्वितीय धर्मचक्र के विनेय जन महायानी लोग है तथा शून्यता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि इसकी विषयवस्तु हैं । विज्ञानवादी लोग इस द्वितीय धर्मचक्र को नेयार्थ मानते हैं, नीतार्थ नहीं । इसमें प्रमुखत: प्रज्ञापारमितासूत्र देशित हैं, जिनसे माध्यमिक दर्शन विकसित हुआ है । इसकी नेयनीतार्थता के बारे में स्वातन्त्रिक माध्यमिकों एवं प्रासंगिक माध्यमिकों में थोड़ा-बहुत मतभेद है । आचार्य भावविवेक, ज्ञानगर्भ, शान्तरक्षित आदि स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के अनुसार प्रज्ञापारमितासूत्रों में आर्यशतसाहस्रिका

प्रज्ञापारमिता आदि कुछ सूत्र नीतार्थ हैं, क्योंकि इनमें सभी धर्मों की परमार्थतः निःस्वभावता निर्दिष्ट है । भगवती प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र आदि यद्यपि द्वितीय धर्मचक्र में संगृहीत हैं, तथापि वे नीतार्थ नहीं माने जा सकते, क्योंकि इनके द्वारा जिस प्रकार की सर्वधर्मनिःस्वभावता प्रतिपादित की गई है, उस प्रकार की निःस्वभावता स्वातन्त्रिक माध्यमिकों को इष्ट नहीं है । यद्यपि इन सूत्रों का अभिप्राय परमार्थतः निःस्वभावता ही है, तथापि उनमें 'परमार्थतः' यह विशेषण अधिक स्पष्ट नहीं है, जो कि स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के अनुसार नीतार्थसूत्र होने के लिए परमावश्यक है । क्योंकि ये लोग व्यवहार में वस्तु की स्वलक्षण सत्ता स्वीकार करते हैं ।

प्रासंगिक माध्यमिकों के अनुसार द्वितीय धर्मचक्र नीतार्थ देशना है । वे 'परमार्थतः' विशेषण को निरर्थक मानते हैं । इनके मत में जिस सूत्र का मुख्य विषय शून्यता है, वह सूत्र नीतार्थ है । जिसका मुख्य विषय संवृतिसत्य है, वह नेयार्थ सूत्र है । अतः इनके मत में भगवती प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र आदि सूत्र भी नीतार्थ ही हैं ।

तृतीय धर्मचक्र का स्थान वैशाली है । श्रावक एवं महायानी दोनों इसके विनेय जन हैं । आर्य सन्धिनिर्मोचन आदि इसके प्रमुख सूत्र हैं । विज्ञानवादियों के अनुसार यह नीतार्थ देशना है । यद्यपि द्वितीय और तृतीय दोनों धर्मचक्रों में शून्यता प्रतिपादित है, तथापि द्वितीय धर्मचक्र में समस्त धर्मों को समान रूप से निःस्वभाव कहा गया है । उसमें यह भेद नहीं किया गया है कि अमुक धर्म निःस्वभाव है और अमुक धर्म निःस्वभाव नहीं है, अपितु सस्वभाव है । विज्ञानवादी समस्त धर्मों को समानरूप से निःस्वभाव नहीं मानते, अपितु पदार्थों में से कुछ निःस्वभाव हैं और कुछ सस्वभाव । अतः वे द्वितीय धर्मचक्र को नीतार्थ नहीं मानते । उनके मतानुसार जो सूत्र धर्मों की सस्वभावता और निःस्वभावता का सम्यग् विभाजन करते हैं, वे ही नीतार्थ माने जा सकते हैं । जिन सूत्रों में उक्त प्रकार का विभाजन स्पष्ट नहीं है, उन्हें विज्ञानवादी नेयार्थ ही मानते हैं ।

आचार्य भावविवेक, शान्तरक्षित आदि इसे अर्थात् तृतीय धर्मचक्र को नीतार्थ मानते हैं, क्योंकि इसके द्वारा भगवतीप्रज्ञापारमिताहृदय आदि सूत्रों (जो सूत्र द्वितीय धर्मचक्र में संगृहीत हैं और नेयार्थ हैं) का अभिप्राय स्पष्ट किया गया है ।

प्रश्न है कि विज्ञानवादी और स्वातन्त्रिक माध्यमिक दोनों मतों में तृतीय धर्मचक्र समानरूप से नीतार्थ कैसे माना जा सकता है, जबकि दोनों के सिद्धान्त परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं ?

दोनों इसे नीतार्थ तो अवश्य मानते हैं, किन्तु स्वातन्त्रिक माध्यमिक यह नहीं कहते कि तृतीय धर्मचक्र का अभिप्राय विज्ञानवादियों ने जैसा समझा है, वैसा ही है । उनका कहना है कि विज्ञानवादियों ने इसका अभिप्राय गलत ढंग से प्रस्तुत किया है ।

आचार्य बुद्धपालित, चन्द्रकीर्ति आदि प्रासंगिक माध्यमिक इस तृतीय धर्मचक्र को सर्वथा नेयार्थ देशना ही मानते हैं । उनका कहना है कि तृतीय धर्मचक्र का अभिप्राय ठीक वैसा ही है, जैसा विज्ञानवादी मानते हैं । क्योंकि विज्ञानवादियों के सिद्धान्त युक्तिहीन एवं दोषदुष्ट हैं, अतः तृतीय धर्मचक्र नेयार्थ देशना है । उनके मतानुसार तृतीय धर्मचक्र की देशना भगवान् ने ऐसे विनेय जनों के लिए की है, जो तत्काल गम्भीर शून्यता देशना के पात्र नहीं हैं, अतः तत्काल विज्ञानवाद की देशना देकर पीछे कुशलता से गम्भीर विषय (सर्वधर्मनिःस्वभावता) की ओर ले जाने के लिए उन्होंने तृतीय धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है ।

(१०) द्विविध नैरात्म्य

विज्ञानवाद के अनुसार पुद्गलनैरात्म्य का स्वरूप पञ्च स्कन्धों से द्रव्यतः भिन्न, नित्य, शाश्वत आत्मा का निषेध मात्र है, वैभाषिक, सौत्रान्तिक आदि हीनयानी और स्वातन्त्रिक माध्यमिक भी ऐसा ही मानते हैं । विज्ञानवाद के अनुसार बाह्यार्थ से शून्यता या ग्राह्य-ग्राहकद्वय से शून्यता धर्मनैरात्म्य है तथा स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के अनुसार धर्मों की परमार्थतः निःस्वभावता धर्मनैरात्म्य है ।

प्रासङ्गिक ऐसा नहीं मानते । उनके मत में यद्यपि उक्त प्रकार की आत्मा का अस्तित्व मान्य नहीं है, तथापि उक्त प्रकार के पुद्गलनैरात्म्य के ज्ञान से सर्वविध आत्मदृष्टि का निषेध नहीं होता । उक्त ज्ञान केवल परिकल्पित आत्मदृष्टि का ही प्रतिपक्ष है, जो (आत्मा) केवल सिद्धान्तविशेष से प्रेरित लोगों में ही होती है । सहज आत्मदृष्टि की इससे कुछ भी हानि नहीं होती ।

इनके मतानुसार नैरात्म्य की स्थापना पुद्गल तथा धर्म के भेद से की जाती है । पुद्गलनिःस्वभावता पुद्गलनैरात्म्य तथा घटादि निःस्वभावता धर्मनैरात्म्य है ।

(११) द्विविध आवरण

सभी महायानी दर्शनों में द्विविध आवरणों की व्यवस्था है, यथा— क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण । क्रमशः प्रथम आवरण मुक्ति की प्राप्ति में मुख्य बाधक है तथा दूसरा आवरण सर्वज्ञता की प्राप्ति में मुख्य बाधक है ।

विज्ञानवाद के अनुसार पुद्गलात्मदृष्टि तथा उससे सम्बद्ध क्लेश 'क्लेशावरण' है । बाह्यार्थदृष्टि तथा उसकी वासनाएं 'ज्ञेयावरण' हैं । स्वातान्त्रिक माध्यमिक मत में क्लेशावरण का स्वरूप विज्ञानवादियों से भिन्न नहीं है, किन्तु उनके मतानुसार धर्मों की सत्यतः सत्तादृष्टि ज्ञेयावरण है ।

प्रासंगिक माध्यमिक मतानुसार पुद्गलात्मदृष्टि तथा धर्मात्मदृष्टि सभी क्लेशावरण हैं, क्योंकि सभी स्वभावसद्-दृष्टि क्लेश होती है । स्वभावसद्-दृष्टि मुक्ति की प्राप्ति में मुख्य बाधक है । अतः मोक्षप्राप्ति के लिए निःस्वभावता का ज्ञान अनिवार्य है । अतः श्रावक तथा प्रत्येकबुद्ध आर्यों के लिए निःस्वभावता का ज्ञाता होना निश्चित होता है ।

स्वभावसद्-दृष्टि की वासना ज्ञेयावरण है । यही सर्वज्ञज्ञान की प्राप्ति में मुख्य बाधक है । उसके प्रहाण के लिए महाकरुणा से संगृहीत सम्भारों तथा पारमिताओं की आवश्यकता होती है । यह प्रासङ्गिकों की विशिष्ट मान्यता है ।

(१२) हीनयान में धर्मनैरात्म्य ज्ञान

विज्ञानवादियों का कहना है कि पुद्गलनैरात्म्य का स्वरूप ठीक वैसा ही है, जैसा श्रावकयानीय आगमों और शास्त्रों में वर्णित है । उससे भिन्न या विशिष्ट महायान में कोई पुद्गलनैरात्म्य नहीं है । धर्मनैरात्म्य का स्वरूप या उसके स्वरूप का प्रतिपादन न तो हीनयानी आगमों और शास्त्रों में वर्णित है और न तो हीनयानी लोग उसे जानते ही हैं । स्वातन्त्रिक माध्यमिक भी ऐसा ही मानते हैं ।

प्रासङ्गिक माध्यमिक इस विचार से बिलकुल सहमत नहीं हैं । इनके अनुसार हीनयानी आगमों में भी धर्मनैरात्म्य वर्णित है तथा हीनयानी लोग उसे जानते हैं । श्रावक-अर्हत् और प्रत्येकबुद्ध-अर्हत् बनने के लिए भी धर्मनैरात्म्य

ज्ञान अनिवार्य है । क्योंकि स्वभावसद्-दृष्टि ही अविद्या है, जो संसार का मूल है । जब तक निःस्वभावता का ज्ञान नहीं होगा, तब तक संसार से मुक्ति असम्भव है । स्कन्ध आदि की निःस्वभावता धर्मनैरात्म्य है, जो श्रावक आदि हीनयानी जानते हैं ।

शून्यता का ज्ञान हो जाने पर भी ज्ञेयावरण के अवशिष्ट रह जाने से तथा सम्भारों और पारमिताओं की परिपूर्णता के अभाव के कारण श्रावक-अर्हत् आदि का महायानी से बहुत अधिक अन्तर होता है ।

वास्तव में धर्मनैरात्म्य के स्वरूप में अधिक अन्तर होने के कारण प्रासङ्गिक माध्यमिक और विज्ञानवादियों में उक्त अन्तर हुआ है ।

(१३) द्विविध सत्य

दो सत्यों की चर्चा हीनयानी ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है । पालि-अट्ठकथा एवं अभिधर्मकोश में इनके लक्षण वर्णित हैं, किन्तु महायान में इसकी पुष्कल चर्चा हुई है । नागार्जुन इसके प्रवर्तक माने जाते हैं । सौत्रान्तिक परमार्थतः अर्थक्रियासमर्थ को परमार्थसत्य कहते हैं । निर्बाह्यार्थता या ग्राह्य-ग्राहक द्वैत से रहितता योगाचार मत में परमार्थसत्य है । स्वातन्त्रिक और प्रासङ्गिक माध्यमिक का सत्यद्वय के बारे में जो सूक्ष्म दृष्टिभेद है, उसे जान लेना आवश्यक है ।

भावविवेक के मत में परमार्थतः निःस्वभावता 'परमार्थसत्य' है । केवल निःस्वभावता परमार्थसत्य नहीं मानी जाती, क्योंकि उनके मत में स्वभावसत्ता होती है ।

प्रासङ्गिक माध्यमिकों के मतानुसार निःस्वभावता ही 'परमार्थसत्य' है । उनके अनुसार 'परमार्थतः' यह विशेषण निरर्थक है ।

दोनों के मत में संवृति के दो प्रकार हैं । भावविवेक विषय की दृष्टि से तथ्यसंवृति और मिथ्यासंवृति—ये दो भेद मानते हैं । परन्तु प्रासङ्गिक मत के अनुसार विषय दो प्रकार के नहीं हो सकते, क्योंकि सभी विषय मिथ्या ही होते हैं । विषयी (ज्ञान) दो प्रकार का होता है । यह लोकव्यवस्था के अनुकूल भी है । प्रासङ्गिक की अपनी दृष्टि से तो सभी ज्ञान मिथ्या ही हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि से सभी सांवृत ज्ञान भ्रान्त होते हैं । फिर भी लोकव्यवस्था के अनुसार ज्ञान के दो प्रकार हैं ।

(१४) स्वातन्त्रिक हेतु

भावविवेक के मत में सम्यग् लिङ्ग वह होता है, जिसके पक्षधर्मता, व्याप्ति एवं दृष्टान्त आदि का स्वाभाविक अस्तित्व होता है तथा पूर्वपक्ष का आश्रय लिए बिना वस्तु की ओर से पक्षधर्मता और व्याप्ति आदि प्रमाणित हों । इस प्रकार की हेतुव्यवस्था 'स्वातन्त्रिक हेतुव्यवस्था' कही जाती है ।

प्रासङ्गिकों के मत में ऐसा लिङ्ग या हेतु असम्भव है । किसी भी हेतु (लिङ्ग) की पक्षधर्मता और व्याप्ति आदि का स्वभावतः अस्तित्व नहीं होता । पक्षधर्मता तथा व्याप्ति आदि पूर्वपक्ष की विचारधारा, मनोदशा या उसकी प्रतिज्ञा आदि पर आश्रित होती है । यदि वस्तुस्थिति में कोई व्याप्ति बनती हो तो हेत्वाभास असम्भव हो जाएगा ।

पूर्वपक्ष की प्रतिज्ञा और उसके दृष्टिकोण के आधार पर पक्षधर्मता और व्याप्ति आदि की व्यवस्था की जाती है । पक्षधर्मता और व्याप्ति आदि को स्वपक्ष और पूर्वपक्ष दोनों को समानरूप से मान्य होना आवश्यक नहीं है ।

घट आदि को स्वभाववादी स्वभावतः सत् मानते हैं तथा उनको घट आदि स्वभावतः सत् ही दिखलाई पड़ते हैं । उनकी दृष्टि में घट के अस्तित्व और घट के स्वभावतः अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं है । स्वपक्ष (प्रासङ्गिक) को मालूम है कि घट की सत्ता तथा घट की स्वभावसत्ता में अन्तर है । घट की स्वभावसत्ता नहीं है, परन्तु घट की सत्ता है । परन्तु जब तक निःस्वभावता का ज्ञान पूर्वपक्ष को नहीं हो जाता, तब तक उक्त अन्तर के लिए कोई सामान्य घट उपलब्ध नहीं है । इसलिए उस समय कोई सामान्य धर्मी नहीं होता, जिस पर उभय पक्षों की दृष्टि से लिङ्ग स्थापित किया जा सके । व्याप्ति आदि की भी यही स्थिति है ।

इसलिए पूर्वपक्ष द्वारा स्वीकृत घट को ही लेकर दूषण (प्रसङ्ग) दिया जाता है और समय आने पर हेतु का प्रयोग किया जाता है । प्रसङ्ग द्वारा पूर्वपक्ष को अपनी मान्यता पर गलती का एहसास कराया जाता है । जब वह सन्देह में पड़ जाता है तो हेतु-प्रयोग का उपयुक्त समय आ जाता है । अतः स्वातन्त्रिक हेतु नहीं माना जा सकता ।

अनुमान प्रमाण के लिए केवल सम्यग् लिङ्ग ही एकमात्र साधन नहीं माना जा सकता । सम्यक् प्रसङ्गवाक्य से भी अनुमान प्रमाण उत्पन्न होता है ।

यह प्रासङ्गिक माध्यमिकों की विशेषता है । चन्द्रकर्ति और भावविवेक के बीच विवाद का मूल भी यही है ।

(१५) त्रिविध लक्षण

आर्यसन्धिनिर्मोचन में परिकल्पित, परतन्त्र एवं परिनिष्पन्न—इन त्रिविध लक्षणों का जैसा प्रतिपादन किया गया है, वह विज्ञानवादियों के सर्वथा अनुकूल है । वे अपने शास्त्रों में उसी प्रकार निरूपण करते हैं, किन्तु प्रासङ्गिक माध्यमिक उसे नहीं मानते, क्योंकि उनके मतानुसार सन्धिनिर्मोचन सूत्र नेयार्थ है, न कि नीतार्थ ।

पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र के अन्तिम भाग 'आर्य मैत्रेयनाथ परिपृच्छा' में जो त्रिविध लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है, वह प्रासङ्गिक माध्यमिकों के अनुकूल है । सन्धिनिर्मोचन एवं मैत्रेयनाथ परिपृच्छा में त्रिविध लक्षणों की व्यवस्था बिलकुल भिन्न-भिन्न है, तथापि दोनों में भेद कर पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है । भोट देश के महान् विद्वान् आचार्य चोंखापा ने इस विषय का सूक्ष्म विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि मैत्रेयनाथपरिपृच्छा में प्रतिपादित त्रिविध लक्षणों की व्याख्या प्रासङ्गिक मत के अनुकूल है ।

रूप आदि समस्त धर्म परतन्त्र लक्षण हैं । रूप आदि की स्वभावसत्ता परिकल्पित लक्षण है । उनकी निःस्वभावता परिनिष्पन्न लक्षण है । इसलिए त्रिविध लक्षणों की स्थापना केवल विज्ञानवादियों के यहाँ ही नहीं है, अपितु प्रासङ्गिक माध्यमिक भी यह व्यवस्था मानते हैं ।

(१६) प्रमाण विचार

प्रमाणों की दो संख्या के बारे में प्रायः सभी बौद्ध एकमत है । प्रमाणों के बारे में सौत्रान्तिकों ने विस्तृत विचार किया है । प्रमाण दो हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान । सौत्रान्तिक प्रत्यक्ष प्रमाण को चतुर्विध मानते हैं । योगाचार दार्शनिक भी सौत्रान्तिकों के समान ही मानते हैं । परन्तु प्रासङ्गिक माध्यमिक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं मानते । वैभाषिक भी ऐसा ही मानते हैं । इनके मत में प्रत्यक्ष त्रिविध ही है, यथा—इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष ।

कुछ विद्वानों का कहना है कि प्रासङ्गिक केवल दो ही प्रमाण नहीं मानते, अपितु प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम—इन चार प्रमाणों को

मानते हैं । वे अपने बात की पुष्टि के लिए प्रसन्नपदा के एक श्लोक को उद्धृत भी करते हैं ।

आचार्य चोंखापा का कहना है कि प्रसन्नपदा का वचन विग्रहव्यावर्तनी पर आधृत है, वह चार प्रमाण होने का सबूत नहीं है, क्योंकि उपमान और आगम प्रमाण का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

प्रमाणवार्तिक में आगम को कितनी सीमा तक तथा किस प्रकार परीक्षित होने पर गृहीत किया जा सकता है और आप्त लिङ्ग की व्यवस्था तथा उसका स्वरूप क्या है ? इन सब का स्पष्टतया वर्णन किया गया है ।

निष्कर्षतः प्रासङ्गिक द्विविध प्रमाणवादी हैं । '**मानं द्विविधं मेयद्वैविध्यात्**' (प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्षपरिच्छेद) इस नियम को प्रासङ्गिक भी मानते हैं ।

(१७) त्रिकाय व्यवस्था

बुद्धत्व महायान का अन्तिम प्राप्तव्य पद है । महायान के अनुसार निरुपधिशेष निर्वाण प्राप्त होने पर भी व्यक्ति की रूपसन्तति एवं चित्तसन्तति का निरोध नहीं होता, जैसे कि हीनयानी दर्शनों के अनुसार होता है । महायानियों का कहना है कि निरुपधिशेष निर्वाण होने पर व्यक्ति की केवल क्लिष्ट सन्तति का ही निरोध होता है । अनास्रव पञ्चस्कन्ध सन्तति तो सर्वदा प्रवहमान होती ही रहती है ।

बोधिसत्त्व जब बुद्धत्व प्राप्त करता है तो बुद्धत्व-प्राप्ति के साथ ही तीन कायों की प्राप्ति होती है, यथा—(१) धर्मकाय, (२) सम्भोग काय एवं (३) निर्माण काय ।

(१) धर्मकाय

जैसे एक सामान्य व्यक्ति में चित्त (चेतनांश) और शरीर (जडांश) दोनों होते हैं, वैसे ही बुद्ध की अवस्था में भी ये दोनों होते हैं । उनमें से चित्त (चेतनांश) धर्मकाय है तथा उनके सम्भोग काय और निर्माणकाय ये शरीरस्थानीय हैं । सांसारिक अवस्था में व्यक्ति के चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञान रूप, शब्द आदि विभिन्न विषयों में प्रवृत्त होते रहते हैं । उसका आलयविज्ञान समस्त वासनाओं और दौष्ठुल्यों का आश्रय हुआ करता है । क्लिष्ट मनोविज्ञान, जो एक विषम

विज्ञान है, वह सर्वदा आलयविज्ञान को आत्मत्वेन ग्रहण करता रहता है । बुद्धावस्था में इन समस्त विज्ञानों की समाप्ति हो जाती है और उनके स्थान पर नए-नए विज्ञानों का उत्पाद हो जाता है । इस प्रक्रिया को ही '**आश्रयपरावृत्ति**' कहते हैं । जैसे सांसारिक अवस्था में आलयविज्ञान समस्त विज्ञानों का आश्रय हुआ करता है, उसी तरह बुद्धावस्था में सर्वज्ञज्ञान ही उनके समस्त ज्ञानों का आधार होता है और उसमें ही समस्त बुद्धगुण विद्यमान रहते हैं । आलयविज्ञान के स्थान पर बुद्धावस्था में सर्वज्ञज्ञान उत्पन्न होता है, जो अप्रतिष्ठित निर्वाण का आधार होता है । क्लिष्ट मनोविज्ञान के स्थान पर समता ज्ञान का उत्पाद होता है, जो समस्त धर्मों को समानरूप से शून्य जानता है । सांसारिक अवस्था के चक्षुरादिविज्ञानों के स्थान पर अतिविशुद्ध चक्षुरादिविज्ञान उत्पन्न होते हैं, जो एक-एक भी समस्त धर्मों और उनकी शून्यता को जानते हैं । ये समस्त ज्ञान सामूहिक रूप से '**ज्ञान धर्मकाय**' कहलाते हैं । इस ज्ञानकाय में सर्वज्ञज्ञान ही प्रमुख है ।

ज्ञातव्य है कि धर्मकाय त्रिविध है, यथा—ज्ञानधर्मकाय, आगन्तुक विशुद्ध स्वभाव धर्मकाय एवं स्वभावविशुद्ध स्वभाव धर्मकाय । इनमें प्रथम ज्ञानधर्मकाय का स्वरूप अभी कहा गया है । अब आगन्तुकविशुद्ध स्वभावधर्मकाय का स्वरूप कहा जा रहा है ।

उस उपर्युक्त सर्वज्ञज्ञान में स्थित आवरणों का क्षय भी धर्मकाय है, उसे '**आगन्तुक विशुद्ध स्वभाव धर्मकाय**' कहते हैं । विज्ञानवादी मत में धर्मकाय तीन प्रकार का नहीं माना जाता, जैसा कि ऊपर कहा गया है, अपि तु दो ही प्रकार का माना जाता है, यथा—(१) ज्ञानधर्मकाय एवं (२) आगन्तुक विशुद्ध स्वभावधर्मकाय । इस मत में स्वभावविशुद्ध स्वभावधर्मकाय नहीं होता, क्योंकि सर्वज्ञज्ञान में स्थित बाह्यार्थशून्यता इन विज्ञानवादियों के मत में धर्मकाय नहीं है । इसका कारण यह है कि सर्वज्ञज्ञान में स्थित बाह्यार्थशून्यता उस सर्वज्ञज्ञान के विषय रूप आदि की भी बाह्यार्थशून्यता है । ज्ञातव्य है कि इस मत में रूप और रूप को जाननेवाला चक्षुर्विज्ञान ये दोनों रूप के परतन्त्रलक्षण हैं और दोनों की शून्यता एक ही है । इसीलिए रूप को जाननेवाला सर्वज्ञज्ञान भी रूप का परतन्त्रलक्षण है और उसमें स्थित शून्यता रूप की भी शून्यता है । ऐसी स्थिति में जब कि सर्वज्ञज्ञान में स्थित शून्यता रूप में भी विद्यमान है, तो वह कैसे धर्मकाय हो सकती है । अर्थात् सर्वज्ञज्ञान में स्थित शून्यता धर्मकाय नहीं है ।

यह सिद्धान्त माध्यमिक मत से बहुत भिन्न है । माध्यमिकों के मत में एक धर्म की शून्यता दूसरे धर्म की शून्यता कथमपि नहीं हो सकती । फलतः उनके मत में सर्वज्ञज्ञान में जो शून्यता स्थित है, वह धर्मकाय होती है, जिसे **'स्वभावविशुद्ध स्वभावधर्मकाय'** कहते हैं । ऐसा होने के कारण माध्यमिकों के मत में त्रिविध धर्मकाय होते हैं, यथा—द्विविध स्वभाव धर्मकाय और ज्ञानधर्मकाय । द्विविध स्वभाव धर्मकाय ये है—स्वभावविशुद्ध स्वभाव धर्मकाय एवं आगन्तुक विशुद्ध स्वभावधर्मकाय ।

(२) सम्भोग काय

सांसारिक अवस्था में बोधिसत्त्व का जो सास्रव शरीर होता है, वह दश भूमियों की अवस्था में क्रमशः शुद्ध होता जाता है । आखिरी जन्म में बोधिसत्त्व 'चरमभविक बोधिसत्त्व' कहलाता है । वह चरमभविक बोधिसत्त्व अपने आखिरी जन्म में कामधातु और रूपधातु के स्थानों में उत्पन्न नहीं होता, अपितु केवल अकनिष्ठ घनक्षेत्र में ही जन्मग्रहण करता है । वहाँ उसका शरीर अत्यन्त दिव्य होता है और कर्म-क्लेशों का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता । उसी दिव्य जन्म में वह बुद्ध हो जाता है । बुद्ध होते ही व्यक्ति सम्भोगकाय हो जाता है और उसका शरीर ३२ महापुरुष लक्षणों और ८० अनुव्यञ्जनों से विभूषित हो जाता है । वह सम्भोगकाय निम्न पाँच विनियतों से युक्त होता है ।

(१) स्थानविनियत—वह सर्वदा केवल अकनिष्ठ घनक्षेत्र में ही स्थित रहता है ।

(२) कायविनियत—उसका शरीर ३२ महापुरुषलक्षण और ८० अनुव्यञ्जनों से सर्वदा युक्त रहता है ।

(३) परिवारविनियत—उनके परिवार में केवल महायानी आर्य बोधिसत्त्व ही रहते हैं ।

(४) वाग्-विनियत—वह सदा महायान धर्म का ही उपदेश देते हैं ।

(५) कालविनियत—वह यावत्-संसार अर्थात् जब तक संसार है, तब तक उसी रूप में स्थित रहते हैं ।

(३) निर्माण काय

यद्यपि उपर्युक्त सम्भोगकाय सर्वदा अकनिष्ठ घनक्षेत्र में ही स्थित रहता है, तथापि वह सकल जगत् के कल्याणार्थ समस्त क्षेत्रों में शाक्यमुनि गौतम बुद्ध

आदि के रूप में अनेक बुद्धों का निर्माण करता है । ऐसे बुद्धों को 'निर्माणकाय' कहते हैं । इनके स्थान आदि नियत नहीं होते । वाराणसी, मगध आदि अनेक स्थलों में वे भ्रमण करते रहते हैं । वे निर्माणकाय पशु, पक्षी, पृथग्जन आदि सभी जीवों के दृष्टिगोचर होते हैं तथा समस्त विनेय जनों के कल्याणार्थ श्रावक, प्रत्येकबुद्ध, बोधिसत्त्व आदि सभी यानों का उपदेश करते हैं । वे यावत्-संसार स्थित नहीं रहते, अपि तु कुछ ही काल में कुशीनगर आदि स्थानों में महापरिनिर्वाण प्राप्त कर लेते हैं । निर्माणकाय तीन प्रकार के होते हैं, यथा :

(१) उत्तम निर्माणकाय—उत्तम निर्माणकाय का सम्भोगकाय से साक्षात् सम्बन्ध होता है । वे जम्बूद्वीप आदि विभिन्न लोकों में द्वादश (१२) चरित (लीला) प्रदर्शित करते हैं । इन चरितों के द्वारा वे विनेय जनों का कल्याण सिद्ध करते हैं । यह काय भी ३२ महापुरुषलक्षण और ८० अनुव्यञ्जनों से विभूषित होता है । शाक्यमुनि गौतम बुद्ध इसके निदर्शन (उदाहरण) हैं । द्वादश चरित इस प्रकार हैं—१. तुषित लोक से च्युति, २. मातृकुक्षि में प्रवेश, ३. लुम्बिनी उद्यान में अवतरण, ४. शिल्प कला में निपुणता एवं कौमार्योचित ललित क्रीडाएं, ५. रानियों के परिवार के साथ राज्यग्रहण, ६. चार निमित्तों (वृद्ध, रोगी, मृत आदि) को देखकर ससंवेग प्रव्रज्या, ७. नेरञ्जना नदी के तट पर छह वर्षों तक कठोर तपश्चरण, ८. बोधिवृक्ष के मूल में उपस्थिति, ९. मार की सम्पूर्ण सेना का दमन, १०. वैशाख पूर्णिमा के दिन बोधि की प्राप्ति, ११. ऋषिपतन मृगदाव (सारनाथ) में धर्मचक्र-प्रवर्तन एवं १२. कुशीनगर में महापरिनिर्वाण ।

(२) शैल्पिक निर्माणकाय—उत्तम निर्माणकाय को आधार बनाकर उत्तम कलाकार के रूप में प्रकट होना 'शैल्पिक निर्माणकाय' कहलाता है । एक समय शाक्यमुनि ने अपनी कला के अभिमानी गन्धर्वराज प्रमुदित का दमन करने के लिए स्वयं को वीणावादक के रूप में प्रकट किया था । यह 'शैल्पिक निर्माणकाय' का उदाहरण है ।

(३) नैर्याणिक निर्माणकाय—उत्तम निर्माणकाय एवं शैल्पिक निर्माणकाय के अतिरिक्त बुद्ध का अन्य सत्त्व के रूप में जन्म लेना 'नैर्याणिक निर्माणकाय' कहलाता है । उत्तम निर्माणकाय के रूप में राजा शुद्धोदन के पुत्र होने के पहले बुद्ध तुषित क्षेत्र में देवपुत्र सच्छ्वेतकेतु के रूप में उत्पन्न हुए थे । उनका यह जन्म नैर्याणिक निर्माणकाय का उदाहरण है ।

उपर्युक्त कायों में से धर्मकाय और उसके भेदों को सामान्य विनेय जन देख नहीं पाते । सम्भोगकाय और निर्माणकाय इन दो रूपी कायों को ही विनेय

जन अपने पुण्यों के अनुसार देख सकते हैं । सम्भोगकाय केवल आर्य बोधिसत्त्वों का ही दृष्टिगोचर होता है तथा निर्माणकाय पृथग्जन सहित सभी जीवधारियों का गोचर होता है ।

बुद्धगुण

बुद्ध में अनन्तानन्त गुण होते हैं । उन्हें चार भागों में वर्गीकृत किया जाता है, यथा—कायगुण, वाग्-गुण, चित्तगुण एवं कर्मगुण । यहाँ संक्षेप में उनका निर्देश किया जा रहा है ।

(१) काय-गुण—३२ महापुरुषलक्षण एवं ८० अनुव्यञ्जन बुद्ध के कायगुण हैं । उनमें से प्रत्येक यहाँ तक कि प्रत्येक रोम भी सभी ज्ञेयों का साक्षात् दर्शन कर सकता है । बुद्ध विश्व के अनेक ब्रह्माण्डों में एक-साथ कायिक लीलाओं का प्रदर्शन कर सकते हैं । इन लीलाओं द्वारा वे विनेयजनों को सन्मार्ग में प्रतिष्ठित करते हैं ।

(२) वाग्-गुण—बुद्ध की वाणी स्निग्ध वाक्, मृदुवाक्, मनोज्ञवाक्, मनोरम वाक् आदि कहलाती है । इस प्रकार बुद्ध की वाणी के ६४ अंग होते हैं, जिन्हें 'ब्रह्मस्वर' भी कहते हैं । ये सब बुद्ध के वाग्-गुण हैं ।

(३) चित्त-गुण—बुद्ध के चित्त-गुण ज्ञानगत भी होते हैं और करुणागत भी । कुछ गुण साधारण भी होते हैं, जो श्रावक और प्रत्येकबुद्ध में भी होते हैं । कुछ गुण असाधारण होते हैं, जो केवल बुद्ध में ही होते हैं । उनका यहाँ नामोल्लेख किया जा रहा है ।

दश बल, चतुर्वैशारद्य, तीन असम्भिन्न स्मृत्युपस्थान, तीन अगुप्त, नास्ति मुषितस्मृतिता, सम्यक् प्रतिहतवासनत्व, महाकरुणा, अष्टादश आवेणिक गुण आदि बुद्ध के ज्ञानगत गुण हैं । दु:खी सत्त्वों को देखकर बुद्ध की महाकरुणा अनायास स्वत: प्रवृत्त होने लगती है । महाकरुणा के इस अजस्र प्रवाह से जगत् का अविच्छिन्न रूप से कल्याण होता रहता है । यह उनका करुणगत गुण है ।

(४) कर्म-गुण—ये दो प्रकार के होते हैं, यथा—१. निराभोग कर्म और २. अविच्छिन्न कर्म । निराभोग कर्म से तात्पर्य उन कर्मों से है, जो बिना प्रयत्न या संकल्प के सूर्य से प्रकाश की भाँति स्वत: अपने-आप प्रवृत्त होते हैं । बुद्ध के कर्म बिना कालिक अन्तराल के लगातार सर्वदा प्रवृत्त होते रहते हैं, अत: ये अविच्छिन्न कर्म कहलाते हैं ।

(१८) एकयानवाद

संसार में कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है, जो किसी न किसी दिन बुद्धत्व प्राप्त न कर लेगा । श्रावक और प्रत्येकबुद्ध भी, जिन्होंने निरुपधिशेष निर्वाण भी प्राप्त कर लिया है, यह सम्भव है कि अनेक कल्पों तक वे निर्वाणधातु में लीन रहें, फिर भी उनका एक न एक दिन महायान में प्रवेश होगा और वे अवश्य बुद्धत्व प्राप्त करेंगे । आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में जीवों की चित्तसन्तति को अनादि एवं अनन्त सिद्ध किया है (१:४६-४७) । इससे सिद्ध होता है कि निरुपधिशेषनिर्वाण की अवस्था में भी चित्तसन्तति विद्यमान होती है । जब चित्तसन्तति का उच्छेद नहीं होता, तब कोई कारण नहीं कि बुद्धत्व प्राप्त न किया जा सके । दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों में आलयविज्ञान का मानना या न मानना ही सबसे बड़ा अन्तर है । किन्तु आलयविज्ञान माननेवाले विज्ञानवादी एकयानवादी न होकर त्रियानवादी होते हैं, यह भी बड़ा अन्तर है । विज्ञानवाद की स्थापना या विज्ञप्तिमात्रता सिद्ध करने में भी यद्यपि दोनों में युक्तियों में भेद है, तथापि यह शैलीगत भेद है, मान्यताओं में नहीं ।

कृतज्ञता-ज्ञापन

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में अपने अध्ययन और अध्यापन के सम्पूर्ण काल में मेरे मन में यह विचार बराबर बना रहा कि बौद्ध दर्शन के सभी प्रस्थानों पर एक प्रामाणिक और गम्भीर ग्रन्थ लिखना चाहिए । इधर लोगों में बौद्ध विचारों को जानने की इच्छा बलवती हुई है । वे पढ़ने के लिए हिन्दी ग्रन्थ की माँग करते हैं ।

इधर इस तरह के हिन्दी में कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, लेकिन वे ज्यादातर इतिहास और समीक्षा प्रधान तो हैं, किन्तु उनमें दार्शनिक गम्भीर चिन्तन का अभाव दिखता है । इसका कारण अध्ययन की परम्परा का अभाव तथा अंग्रेजी के ग्रन्थों पर निर्भरता प्रतीत होता है ।

यह विश्व इतिहास की क्रूरतम एवं दुर्दान्त घटनाओं में से एक घटना रही है, जिसके तहत साम्राज्यवादी चीन ने तिब्बत पर पाशविक आक्रमण किया और उसे अपने कब्जे में ले लिया । फलत: परमपावन १४वें दलाई लामा को अपने हजारों-हजार अनुयायियों के साथ भारत में शरण लेनी पड़ी । परन्तु हर बुराई में कुछ अच्छाई भी निहित होती है । अच्छाई यह है कि बौद्ध दर्शन और साधना तथा बौद्ध विद्याओं की जो अविच्छिन्न प्रामाणिक परम्परा तिब्बत में सुरक्षित और

प्रचलित थी, उससे विश्व परिचित हो गया । बौद्ध विचारों के विश्व में प्रचार एवं प्रसार में तिब्बती विद्वानों का योगदान अभूतपूर्व है ।

ज्ञात है कि बौद्ध धर्म का मूल देश भारत है । यही से बौद्ध धर्म विश्व में फैला, किन्तु अनेक ऐतिहासिक कारणों से बौद्ध परम्परा ८-९ शताब्दियों से भारत में विलुप्त हो गई । १९वीं शताब्दी से मनीषियों के सत्प्रयास से कुछ कुछ ग्रन्थ उपलब्ध होने लगे, किन्तु परम्परा के अभाव में उनका प्रामाणिक अवबोध नहीं हो पा रहा है । तिब्बती विद्वानों के सम्पर्क से कई दुरूह स्थलों का खुलासा हुआ । मुझे इस ग्रन्थ की रचना में उनसे पर्याप्त सहायता मिली है ।

मैं संस्थान के निदेशक, प्रो० एस० रिन्पोछे का अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने केवल मुझे प्रोत्साहित ही नहीं किया, अपितु उनसे बातचीत करके मुझे अनेक कठिन विषयों का ज्ञान भी हुआ । उन्होंने इसके प्रकाशन की अनुमति देकर सचमुच बड़ी कृपा की है ।

संस्थान के आचार्य प्रो० गेशे येशे थपख्ये का भी मैं आभारी हूँ, जिनके स्नेहपूर्ण सहयोग से मुझे तिब्बत के पारम्परिक दार्शनिक ज्ञान से परिचय मिला । मैंने उनसे लम्बी वार्ताएँ कीं और उन्होंने कभी भी अरुचि प्रकट नहीं की । मैं उनके इस सहयोग से उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ ।

संस्थान के ही वरिष्ठ प्रोफेसर सेम्पा दोर्जे एवं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के बौद्धदर्शन विभाग में प्रोफेसर डॉ० थुबतन छोगडुब् मेरे सर्वदा सहयोगी रहे हैं । ये दोनों तिब्बती परम्परा के विद्वान् होने के साथ-साथ संस्कृत और पालि के भी ज्ञाता हैं । दोनों ने संस्कृत विश्वविद्यालय में बौद्धदर्शन का आचार्य पर्यन्त अध्ययन किया है । इनके अपूर्व सहयोग को मैं कभी भुला नहीं सकता । ये दोनों मेरे शिष्य हैं । मैं इनके मङ्गलमय भविष्य की शुभकामना करता हूँ ।

अन्त में मैं प्रकाशन अनुभाग के अधिकारियों और कर्मचारियों के प्रति आभार अभिव्यक्त करता हूँ, जिनके सहयोग से इस ग्रन्थ का सुरुचिपूर्ण प्रकाशन सम्भव हो सका ।

लेखक

ग्रन्थ शरीर संक्षेप

हिताशंसनमात्रेण बुद्धपूजा विशिष्यते ।
किं पुनः सर्वसत्त्वानां सर्वसौख्यार्थमुद्यमात् ॥

(बोधिचर्यावतार, १:२७)

विषयानुक्रमणिका

[विस्तृत]

•

बौद्ध दर्शन प्रस्थान

कुल्लूपमं वो भिक्खवे, धम्मं देसेस्सामि, नित्थरणत्थाय, नो गहणत्थाय । कुल्लूपमं वो भिक्खवे, धम्मं देसितं आजानन्तेहि धम्मापि वो पहातब्बा पगेव अधम्मा ।

(मज्झिम निकाय, मूलपण्णासक, अलगद्दूपमसुत्त)

नाहमेकधर्ममपि अनभिज्ञाय अपरिज्ञाय दुःखस्यान्तक्रियां वदामि ।

भगवद्वचन, उद्धृत अभिधर्मकोश–भाष्य, पृ० ४९ (बौ. भा.)

बौद्ध दर्शन प्रस्थान

भगवान् बुद्ध और उनकी सार्वभौम शिक्षा

लोक में बुद्ध का उत्पाद अत्यन्त दुर्लभ है । ऐसा महामानव कभी–कभी ही जगतीतल में अवतीर्ण होता है । उनके उत्पाद ने निश्चय ही मानवजाति के गौरव की अभिवृद्धि की है । साधारण मनुष्य के रूप में उत्पन्न होकर, सामान्य मानवीय समस्याओं से जूझते हुए, अपने ही प्रयासों से बुद्ध के रूप में उनके आविर्भाव से चारों ओर के हाहाकार, उत्पीड़न और नैराश्य से ग्रस्त मानवजाति को एक सम्बल प्राप्त हुआ, एक आश्वासन प्राप्त हुआ और बुद्धत्व के रूप में उसे एक आदर्श भी प्राप्त हुआ । यही कारण था कि उनका धर्म उनके जीवन काल में ही अत्यन्त लोकप्रिय हो गया । लोग अहमहमिकया उसमें स्वेच्छा से प्रविष्ट होने लगे । कहीं भी किसी से किसी प्रकार का विवाद या संघर्ष नहीं हुआ । धर्मों के विकास के इतिहास में बौद्ध धर्म का प्रसार और विस्तार एक अभूतपूर्व घटना है ।

महामानव बुद्ध बाल्यावस्था से ही (अर्थात् सिद्धार्थ की अवस्था से ही) कतिपय मानवीय समस्याओं से बेहद परेशान थे । उन्हीं समस्याओं के समाधान की उधेड़बुन में वे हमेशा लगे रहते थे । वे अत्यन्त संवेदनशील एवं गम्भीर प्रकृति के थे । उन्हें समझ में नहीं आ रहा था कि जन्म, जरा, व्याधि एवं मरण प्रधान अनेक प्रकार की विपत्तियों का जगत् में साम्राज्य व्याप्त होने पर भी व्यक्ति, सामान्य जन चिन्तित क्यों नहीं है । वे विविध मनोरंजनों में संलग्न और जागतिक क्षणिक सुख के व्यामोह में बेसुध क्यों हैं ? वे तत्कालीन समाज से निराश हुए और उन्होंने संकल्प लिया कि मैं ही इन समस्याओं का कारण (मूल) और उनके निराकरण का उपाय खोजूंगा । महामानव सिद्धार्थ इसी चिन्ता में एक दिन घर से बाहर होकर प्रव्रजित हो गए । वे तत्कालीन उन सभी महापुरुषों से मिले, जिनके बारे में प्रसिद्धि थी कि वे तत्त्व के ज्ञाता हैं । उनके साथ उन्होंने विचार–विमर्श किया, उनके द्वारा उपदिष्ट साधनाविधि का अभ्यास किया, किन्तु उनके नतीजे से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ । दुःख की जो समस्याएं उनके मन में घर किए हुए थीं और जिनके समाधान की खोज में वे घर से बाहर हो प्रव्रजित हुए थे, उनके समाधान की दिशा में उनसे उन्हें कुछ भी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं हुई । उन्होंने कठोर तपश्चर्याएं कीं । उन्होंने ऐसी कोई

तपस्या नहीं छोड़ी, जिसके बारे में सुना गया हो कि अतीत में अमुक ने यह तपस्या की थी। किन्तु उन समस्याओं का समाधान उन्हें उनसे भी नहीं मिला, जो उन्हें बचपन से ही घेरे हुए थीं।

अन्ततोगत्वा उन्होंने अपने ही रास्ते चलने का निश्चय किया और एक सौभाग्यशाली दिन उनका मनोरथ पूर्ण हुआ। उन्हें समाधान के सूत्र प्राप्त हो गए। उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होंने अपने दुःखों का अन्त कर दिया।

केवल अपने दुःखों का नाश करने के लिए वे घर से बेघर नहीं हुए थे। व्यक्तिगत दुःख उनकी समस्या न थी। उन्हें प्राणी–मात्र के दुःखों की चिन्ता थी। वस्तुतः वे उस व्यापक नियम को खोजना चाहते थे, जिसके तहत दुःखों की परम्परा या जन्म–मरण की शृंखला चलती रहती है। उस नियम को जानकर उसके चक्र से बाहर निकलने का उपाय वे खोज रहे थे। जैसे कोई वैज्ञानिक किसी प्राकृतिक नियम को जानने के लिए प्रयोगशाला में विविध प्रयोग करता है। उसी तरह उन्होंने अपने चित्त की प्रयोगशाला में अनेक प्रयोग किए। उन्हें असफलताएं भी मिलीं, किन्तु अन्त में उन्हें सभी प्रकार के जागतिक दुःखों के उत्पाद का सार्वभौम नियम और उनके निराकरण का उपाय (मार्ग) मालूम हो गया। उन नियमसूत्रों के आधार पर जब उन्होंने अपने दुःखों का प्रहाण कर लिया तब उन्होंने घोषणा की कि मैं बुद्ध हो गया।

जिस मार्ग से उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया था, उसी मार्ग का उन्होंने करुणापूर्वक दुःखनिमग्न जगत् को यावज्जीवन उपदेश किया। उन्होंने जो ज्ञान प्राप्त किया था और जिस विधि से प्राप्त किया था, उसे बिना भेदभाव के बाहर–भीतर खोलकर लोगों के समक्ष रख दिया। उनके उपदेश में किसी तरह की आचार्यमुष्टि नहीं थी। इसे ही धर्मचक्रप्रवर्तन कहते हैं।

मनुष्य जिन दुःखों से पीड़ित है, उनमें बहुत बड़ा हिस्सा ऐसे दुःखों का है, जिन्हें मनुष्य ने अपने अज्ञान, गलत ज्ञान या मिथ्या दृष्टियों से पैदा कर लिया है। उन दुःखों का प्रहाण अपने सही ज्ञान द्वारा ही सम्भव है, किसी के आशीर्वाद या वरदान से उन्हें दूर नहीं किया जा सकता। सत्य या यथार्थता का ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान है। अतः सत्य की खोज दुःखमोक्ष के लिए परमावश्यक है। खोज अज्ञात सत्य की ही की जा सकती है। यदि सत्य किसी शास्त्र, आगम या उपदेशक द्वारा ज्ञात हो गया है तो उसकी खोज निरर्थक होगी। ज्ञात

सत्य का अनुकरण या आरोपण तो किया जा सकता है, खोज नहीं। अतः बुद्ध ने अपने पूर्ववर्ती लोगों द्वारा या परम्परा द्वारा बताए सत्य को नकार दिया और अपने लिए नए सिरे से उसकी खोज की। बुद्ध स्वयं कहीं प्रतिबद्ध नहीं हुए और न तो अपने शिष्यों को उन्होंने कहीं बांधा। उन्होंने कहा कि मेरी बात को भी इसलिए चुपचाप न मान लो कि उसे बुद्ध ने कही है। उस पर भी सन्देह करो और विविध परीक्षाओं द्वारा उसकी परीक्षा करो। जीवन की कसौटी पर उन्हें परखो, अपने अनुभवों से मिलान करो, यदि तुम्हें सही जान पड़े तो स्वीकार करो, अन्यथा छोड़ दो। यही कारण था कि उनका धर्म रहस्याडम्बरों से मुक्त, मानवीय संवेदनाओं से ओतप्रोत एवं हृदय को सीधे स्पर्श करता था।

त्रिविध धर्मचक्रप्रवर्तन

भगवान् बुद्ध प्रज्ञा और करुणा की मूर्ति थे। ये दोनों गुण उनमें उत्कर्ष की पराकाष्ठा प्राप्त कर समरस होकर स्थित थे। इतना ही नहीं, भगवान् बुद्ध अत्यन्त उपायकुशल भी थे। उपायकौशल बुद्ध का एक विशिष्ट गुण है। अर्थात् वे विविध प्रकार के विनेय जनों को विविध उपायों से सन्मार्ग पर आरूढ़ करने में अत्यन्त प्रवीण थे। वे यह भलीभाँति जानते थे कि किसे किस उपाय से सन्मार्ग पर आरूढ़ किया जा सकता है। फलतः वे विनेय जनों के विचार, रुचि, अध्याशय, स्वभाव, क्षमता और परिस्थिति के अनुरूप उपदेश दिया करते थे। भगवान् बुद्ध की दूसरी विशेषता यह है कि वे सन्मार्ग के उपदेश द्वारा ही अपने जगत्कल्याण के कार्य का सम्पादन करते हैं, न कि वरदान या ऋद्धि के बल से, जैसे कि शिव या विष्णु आदि के बारे में अनेक कथाएं पुराणों में प्रचलित हैं। उनका कहना है कि तथागत तो मात्र उपदेष्टा हैं, कृत्यसम्पादन तो स्वयं साधक व्यक्ति को ही करना है। वे जिसका कल्याण करना चाहते हैं, उसे धर्मों (पदार्थों) की यथार्थता का उपदेश देते थे। भगवान् बुद्ध ने भिन्न–भिन्न समय और भिन्न–भिन्न स्थानों में विनेय जनों को अनन्त उपदेश दिये थे। सबके विषय, प्रयोजन और पात्र भिन्न–भिन्न थे। ऐसा होने पर भी समस्त उपदेशों का अन्तिम लक्ष्य एक ही था और वह था विनेय जनों को दुःखों से मुक्ति की ओर ले जाना। मोक्ष या निर्वाण ही उनके समस्त उपदेशों का एक मात्र रस है।

धर्मचक्रों की नेयनीतार्थता

विज्ञानवाद और स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के अनुसार नीतार्थसूत्र वे हैं, जिनका अभिप्राय यथारुत (शब्द के अनुसार) ग्रहण किया जा सकता है तथा नेयार्थ सूत्र वे हैं, जिनका अभिप्राय शब्दशः ग्रहण नहीं किया जा सकता, अपि तु उनका अभिप्राय खोजना पड़ता है, जैसे—माता और पिता की हत्या करने से व्यक्ति निष्पाप होकर निर्वाण प्राप्त करता है । **मातरं पितरं हन्त्वा......अनीघो याति ब्राह्मणो** (द्र० — धम्मपद, पकिण्णकवग्गो, का० २९४) इस वचन का अर्थ शब्दशः ग्रहण नहीं किया जा सकता, अपि तु यहां पिता का अभिप्राय कर्मभव और माता का अभिप्राय तृष्णा से है । इस प्रकार की देशना आभिप्रायिकी या नेयार्था कहलाती है ।

प्रासङ्गिक माध्यमिकों के मत में नेयार्थ और नीतार्थ की व्याख्या उपर्युक्त व्याख्या से किञ्चित् भिन्न है । उनके अनुसार जिन सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय परमार्थ सत्य अर्थात् शून्यता, अनिमित्तता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि हैं, वे नीतार्थ सूत्र हैं तथा जिन सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय संवृति सत्य है, वे नेयार्थ सूत्र हैं । नेयार्थता और नीतार्थता की व्यवस्था वे आर्य—अक्षयमतिनिर्देशसूत्र के अनुसार करते हैं ।

प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन—काल की दृष्टि से यह प्रथम है । वाराणसी का ऋषिपतन मृगदाव इसका स्थान है । इसके विनेय जन (पात्र) श्रावकवर्गीय वे लोग हैं, जो स्वलक्षण और बाह्यार्थ की सत्ता पर आधृत चतुर्विध आर्यसत्यों की देशना के पात्र (भव्य) हैं । स्वलक्षण सत्ता एवं बाह्य सत्ता के आधार पर चार आर्यसत्यों की स्थापना इस प्रथम धर्मचक्र की विषयवस्तु है । श्रावकवर्गीय लोगों की दृष्टि से यह नीतार्थ देशना है । योगाचार और माध्यमिक इसे नेयार्थ देशना मानते हैं ।

द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन—काल की दृष्टि से यह मध्यम है । स्थान प्रमुखतः गृध्रकूट पर्वत है । इसके विनेय जन महायानी पुद्गल हैं । शून्यता, अनिमित्तता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि उसके प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हैं । इस देशना के द्वारा समस्त धर्म निःस्वभाव प्रतिपादित किये गये हैं । विज्ञानवादी इसे नेयार्थ देशना मानते हैं । आचार्य भावविवेक, ज्ञानगर्भ, शान्तरक्षित, कमलशील आदि स्वातन्त्रिक माध्यमिकों का इस देशना की नेयार्थता और नीतार्थता के बारे में प्रासङ्गिक माध्यमिकों से मतभेद हैं । उनके अनुसार आर्य शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि कुछ सूत्र नीतार्थ सूत्र हैं, क्योंकि इनमें समस्त धर्मों की परमार्थतः निःस्वभावता निर्दिष्ट है । भगवती प्रज्ञापारमिता हृदयसूत्र आदि कुछ सूत्र यद्यपि द्वितीय धर्मचक्र के अन्तर्गत संगृहीत हैं, तथापि वे नीतार्थ नहीं माने जाते, क्योंकि इनके द्वारा जिस प्रकार की सर्वधर्मनिःस्वभावता प्रतिपादित की गई है, उस प्रकार की निःस्वभावता स्वातन्त्रिक माध्यमिकों को मान्य नहीं है । यद्यपि इन सूत्रों का अभिप्राय भी परमार्थतः निःस्वभावता है, तथापि उनमें '**परमार्थतः**' यह विशेषण स्पष्टतया उल्लिखित नहीं है, जो कि उनके मतानुसार नीतार्थ सूत्र होने के लिए परमावश्यक है । कहने का आशय यह है कि आर्य—शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि उनके अनुसार नीतार्थ हैं तथा भगवती—प्रज्ञापारमिताहृदय आदि कुछ सूत्र नेयार्थ सूत्र हैं ।

प्रासङ्गिक माध्यमिकों के अनुसार द्वितीय धर्मचक्र सर्वथा नीतार्थ देशना है । उनके मत में जिस सूत्र का मुख्य विषय शून्यता है, वह सूत्र नीतार्थ है तथा जिसका मुख्य प्रतिपाद्य संवृतिसत्य है, वह सूत्र नेयार्थ है । अतः इनके मत में भगवती—प्रज्ञापारमिताहृदय आदि सूत्र भी नीतार्थ ही हैं तथा इनके मत में '**परमार्थतः**' यह विशेषण अनावश्यक है ।

तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन—काल की दृष्टि से यह अन्तिम है । स्थान वैशाली आदि प्रमुख हैं । श्रावक एवं महायानी दोनों प्रकार के पुद्गल इसके विनेय जन हैं । शून्यता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि इसके विषयवस्तु हैं । विज्ञानवादियों के अनुसार यह नीतार्थ देशना है । यद्यपि द्वितीय और तृतीय दोनों धर्मचक्रों में शून्यता प्रतिपादित की गई है, तथापि द्वितीय धर्मचक्र में समस्त धर्मों को समान रूप से निःस्वभाव कहा गया है, जबकि इस तृतीय धर्मचक्र में यह भेद किया गया है कि अमुक धर्म अमुक दृष्टि से निःस्वभाव है और अमुक धर्म निःस्वभाव नहीं, अपि तु सस्वभाव है । इसी के आधार पर विज्ञानवादी दर्शन प्रतिष्ठित है । इस कारण विज्ञानवादी समस्त धर्मों को समानरूप से निःस्वभाव नहीं मानते । उनके अनुसार धर्मों में से कुछ निःस्वभाव हैं और कुछ सस्वभाव हैं । अतः वे समान रूप से सर्वधर्मनिःस्वभावता प्रतिपादक द्वितीय धर्मचक्र को नीतार्थ नहीं मानते । उनके मतानुसार जो सूत्र धर्मों की निःस्वभावता और सस्वभावता का सम्यग् विभाजन करते हैं, वे ही नीतार्थ माने जाते हैं । इनमें आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र प्रमुख है ।

आचार्य भावविवेक, शान्तरक्षित आदि इस तृतीय धर्मचक्र को नीतार्थ देशना मानते हैं, क्योंकि इसके द्वारा भगवती प्रज्ञापारमिताहृदय आदि सूत्रों (जो द्वितीय धर्मचक्र में संगृहीत हैं और जो नेयार्थ हैं) का अभिप्राय स्पष्ट किया गया है । इनके मतानुसार भगवती–प्रज्ञापारमिताहृदय आदि सूत्र नेयार्थ हैं, क्योंकि उनमें **'परमार्थतः'** यह विशेषण न लगाकर सामान्यतः सर्वधर्मनिःस्वभावता का प्रतिपादन किया गया है । इस तृतीय धर्मचक्र में उस विशेषण को स्पष्ट रूप से लगाकर उसका अभिप्राय प्रकट किया गया है । अतः उनके अनुसार यह (तृतीय धर्मचक्र) नीतार्थ देशना है ।

प्रश्न है कि विज्ञानवादी और स्वातन्त्रिक माध्यमिक दोनों मतों में तृतीय धर्मचक्र समानरूप से नीतार्थ कैसे माना जा सकता है, जबकि दोनों के सिद्धान्त परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं ?

यद्यपि दोनों इसे नीतार्थ अवश्य मानते हैं, फिर भी स्वातन्त्रिक माध्यमिक यह नहीं कहते कि तृतीय धर्मचक्र का अभिप्राय जैसा विज्ञानवादियों ने समझा है, ठीक वैसा ही है । उनका कहना है कि उन्होंने उसका अभिप्राय गलत ढंग से प्रस्तुत किया है । मध्यमकालोक में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है ।

आचार्य बुद्धपालित, चन्द्रकीर्ति आदि प्रासङ्गिक माध्यमिक तृतीय धर्मचक्र को सर्वथा नेयार्थ देशना मानते हैं । उनका कहना है कि तृतीय धर्मचक्र का अभिप्राय ठीक वैसा ही है, जैसा विज्ञानवादी मानते हैं, क्योंकि विज्ञानवादियों के सिद्धान्त युक्तिहीन और दोषग्रस्त हैं, अतः तृतीय धर्मचक्र नेयार्थ देशना है । इनके मतानुसार तृतीय धर्मचक्र का प्रवर्तन भगवान् बुद्ध ने ऐसे विनेय जनों पर अनुग्रह करने के लिए किया है, जो तत्काल शून्यता जैसे गम्भीर विषय की देशना के पात्र नहीं हैं । अतः ऐसे विनेय जनों को तत्काल विज्ञानवाद की देशना देकर पीछे कुशलता से उन्हें गम्भीर विषय (सर्वधर्मनिःस्वभावता) की ओर ले जाने के लिए उपायकुशल भगवान् बुद्ध ने तृतीय धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है । आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपने मध्यमकावतार–भाष्य में इस विषय का सुस्पष्ट एवं विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है ।

भगवान् बुद्ध द्वारा प्रवर्तित होने पर भी बौद्ध दर्शन कोई एक दर्शन नहीं, अपि तु दर्शनों का समूह है । विभिन्न दार्शनिक मुद्दों पर उनमें परस्पर मतभेद

भी है । कोई परमाणुवादी हैं तो कोई परमाणु की सत्ता नहीं मानते । कोई साकार ज्ञानवादी हैं तो कोई निराकार ज्ञानवादी । कुछ बातों में विचारसाम्य होने पर भी मतभेद अधिक हैं । शब्दसाम्य होने पर भी अर्थभेद अधिक हैं । अनेक शाखोपशाखाओं के होने पर भी दार्शनिक मान्यताओं के साम्य की दृष्टि से बौद्ध विचारों का चार विभागों में वर्गीकरण किया गया है, यथा–(१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार (विज्ञानवाद) और (४) माध्यमिक (शून्यवाद) । अब हम यहाँ उनके दार्शनिक मन्तव्यों का संक्षेप में विवरण प्रस्तुत करने से पहले भगवान् बुद्ध की उन सामान्य शिक्षाओं की चर्चा करना चाहते हैं, जो सभी चारों दार्शनिक प्रस्थानों में समानरूप से मान्य हैं, यद्यपि उनकी व्याख्या में मतभेद हैं ।

भगवान् की शिक्षा की सार्वभौमिकता

(१) **भाषा**–भगवान् बुद्ध ने किस भाषा में उपदेश दिए, इसे जानने के लिए हमारे पास पुष्कल प्रामाणिक सामग्री का अभाव है, फिर भी इतना निश्चित है कि उनके उपदेशों की भाषा कोई लोकभाषा ही थी । इसके अनेक कारण हैं । पहला यह कि वह अपना सन्देश जन–जन तक पहुँचाना चाहते थे, न कि विशिष्ट जनों तक ही । इसके लिए आवश्यक था कि वे जनभाषा में ही उपदेश देते । दूसरा यह कि भाषा विशेष की पवित्रता पर उनका विश्वास न था । वे यह नहीं मानते थे कि शुद्ध भाषा के उच्चारण से पुण्य होता है, जैसा कि कुछ लोगों का आग्रह है । यह आश्चर्य है कि आज से इतने हजार वर्ष पूर्व ही भाषा विशेष की पवित्रता, क्षेत्रविशेष की पवित्रता या वर्णविशेष की पवित्रता की मान्यताओं के विरोध में उन्होंने अपनी आवाज बुलन्द की थी । इस विषय में एक उल्लेख उपलब्ध होता है कि दो भिक्षुओं ने भगवान् बुद्ध से निवेदन किया कि उनके उपदेशों को छन्दस् (वैदिक संस्कृत) में परिवर्तित कर दिया जाए, जिससे वे सुरक्षित रह सकें और लोग अपनी इच्छानुसार उनको भिन्न–भिन्न रूप न दे सकें । बुद्ध ने उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की और कहा कि मैं अपनी–अपनी भाषा में उन्हें संगृहीत करने की अनुमति प्रदान करता हूँ–**"अनुजानामि भिक्खवे, सकाय निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं ति"** (द्र०–चुल्लवग्ग, पृ० २२८) । फलतः उनके उपदेश पैशाची, संस्कृत, अपभ्रंश, मागधी आदि अनेक भाषाओं में संकलित हुए ।

(२) **मानव–समता**– भगवान् बुद्ध के अनुसार धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में सभी स्त्री एवं पुरुषों में समान योग्यता एवं अधिकार हैं । इतना ही नहीं, शिक्षा, चिकित्सा और आजीविका के क्षेत्र में भी वे समानता के पक्षधर थे । उनके अनुसार एक मानव का दूसरे मानव के साथ व्यवहार मानवता के आधार होना चाहिए, न कि जाति, वर्ण, लिङ्ग आदि के आधार पर । क्योंकि सभी प्राणी समानरूप से दुःखी हैं, अतः सब समान हैं । दुःख प्रहाण ही उनके धर्म का प्रयोजन है । अतः समवेदना और सहानुभूति ही इस समता के आधारभूत तत्त्व हैं । उन्होंने कहा कि जैसे सभी नदियाँ समुद्र में मिलकर अपना नाम, रूप और विशेषताएं खो देती हैं, उसी प्रकार मानवमात्र उनके संघ में प्रविष्ट होकर जाति, वर्ण आदि विशेषताओं को खो देते हैं और समान हो जाते हैं । निर्वाण ही उनके धर्म का एकमात्र रस है ।

(३) **मानवश्रेष्ठता**– बुद्ध के अनुसार मानवजन्म अत्यन्त दुर्लभ है । मनुष्य में वह बीज निहित है, जिसकी वज़ह से यदि वह चाहे तो अभ्युदय एवं निःश्रेयस अर्थात् निर्वाण और बुद्धत्व जैसे परम पुरुषार्थ भी सिद्ध कर सकता है । देवता श्रेष्ठ नहीं हैं, क्योंकि वे व्यापक तृष्णा के क्षेत्र के बाहर नहीं हैं । अतः मनुष्य उनका दास नहीं है, अपितु उनके उद्धार का भार भी मनुष्य के ऊपर ही हैं । इसीलिए उन्होंने कहा कि भिक्षुओं, बहुजन के हित और सुख के लिए तथा देव और मनुष्यों के कल्याण के लिए लोक में विचरण करो । ऋषिपतन मृगदाव (सारनाथ) में अपने प्रथम वर्षावास के अनन्तर भिक्षुओं को उनका यह उपदेश मानवीय स्वतन्त्रता और मानवश्रेष्ठता का अप्रतिम उद्घोष है ।

(४) **व्यावहारिकता**– बुद्ध की शिक्षा अत्यन्त व्यावहारिक थी । उसमें किसी भी तरह के रहस्यों और आडम्बरों के लिए कोई स्थान न था । उनका चिन्तन प्राणियों के व्यापक दुःखों के कारण की खोज से प्रारम्भ होता है, न कि किसी अत्यन्त निगूढ, गुहाप्रविष्ट तत्त्व की खोज से । वे यावज्जीवन दुःखों के अत्यन्त निरोध का उपाय ही बताते रहे । उन्होंने ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने से इन्कार कर दिया और उन्हें अव्याकरणीय (अव्याख्येय) करार दिया, जिनके द्वारा यह पूछा जाता था कि यह लोक शाश्वत है कि अशाश्वत; यह लोक अनन्त है कि सान्त अथवा तथागत मरण के पश्चात् होते हैं या नहीं–इत्यादि । उनका कहना था कि ऐसे प्रश्न और उनका उत्तर न अर्थसंहित है और न

धर्मसंहित । इन दृष्टियों के होते हुए भी मनुष्य, जन्म, जरा, मरण आदि दुःखों से दुःखी रहते हैं, जिनका वे विघात कर सकते हैं । उन्होंने पूछा कि किसी विष–बुझे बाण से विद्ध और दर्द से छटपटाते हुए व्यक्ति का क्या यह कहना उचित है कि 'पहले मुझे यह बताया जाए कि यह बाण किसने बनाया, किस धातु से बनाया गया और किस दिशा से आया ? इसके बाद मुझे वैद्य के पास ले जाया जाए अथवा यह उचित है कि पहले उसे वैद्य के पास ले जाकर दर्द से मुक्त कराया जाए ? भिक्षुओं ने कहा कि प्राथमिकता के आधार पर वैद्य के पास ले जाकर दर्द से मुक्त कराना ही उचित है । क्योंकि ऐसे प्रश्नों का एक तो उत्तर पाना आसान नहीं है और साथ ही, वह निर्विवाद भी नहीं होगा । तब भगवान् ने कहा कि मनुष्य क्योंकि विविध दुःखों से दुःखी है, अतः अन्य सारे प्रश्नों को छोड़कर सर्वप्रथम उसे दुःखों से मुक्ति का उपाय ही खोजना और कार्यान्वित करना चाहिए ।

(५) **मध्यमा प्रतिपदा**– भगवान् बुद्ध ने जिस धर्मचक्र का प्रवर्तन किया अथवा जिस मार्ग का उन्होंने उपदेश किया, उसे 'मध्यमा प्रतिपदा' कहा जाता है । परस्पर–विरोधी दो अन्तों या अतियों का निषेध कर भगवान् ने मध्यम मार्ग प्रकाशित किया है । मनुष्य का स्वभाव है कि वह बड़ी आसानी से किसी अन्त में पतित हो जाता है और उस अन्त को अपना पक्ष बनाकर उसके प्रति आग्रहशील हो जाता है । यह आग्रहशीलता ही सारे मानवीय विभेदों, संघर्षों और दुःखों का मूल है । मध्यमा प्रतिपद् अनाग्रहशीलता है और समस्याओं से मुक्ति का सर्वोत्तम राजपथ है । इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और इसमें अनन्त सम्भावनाएं निहित है । सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के समाधन में भी इसकी उपयोगिता सम्भावित है, किन्तु अभी तक उन दिशाओं में इसका अध्ययन और प्रयोग नहीं किया जा सका । शील, समाधि और प्रज्ञा या दर्शन के क्षेत्र में ही उसकी प्राचीन व्याख्याएं उपलब्ध होती हैं । शील की दृष्टि से अत्यन्त ऐश–आराम के बीच लापरवाही के साथ जीवन बिताना एक अन्त है, जिसे 'कामसुखल्लिकानुयोग' कहते हैं तथा निर्वाण के लिए अत्यन्त कष्टदायक और शरीरोपतापक तपश्चरण का अनुष्ठान करना दूसरा अन्त है, जिसे 'आत्मक्लमथानुयोग' कहते हैं । भगवान् ने वीणा की उपमा देते हुए कहा कि यदि वीणा के तारों को ढीला रखा जाए तो उनसे मधुर ध्वनि उत्पन्न नहीं होती, यदि उन्हें अधिक कस दिया जाए तो उनके टूटने का खतरा होता है, अतः

उन्हें न अधिक ढीला और न अधिक कसा हुआ होना चाहिए, तभी मधुर ध्वनि का उत्पाद होगा, उसी तरह समाधि में लगे योगी का चित्त न अधिक शिथिल, आलस्य से युक्त या नींद में डूबे हुए की तरह होना चाहिए और न तो अत्यधिक उत्साह (दुरुत्साह) से युक्त बेचैन, परेशान या अशान्त होना चाहिए । लीनता और उद्धव (औद्धत्य) ये दोनों दोष हैं, जो समाधि के बाधक हैं । समाधि चित्त का समप्रवाह है । यह समाधि की दृष्टि से मध्यमप्रतिपदा है । प्रज्ञा की दृष्टि से शाश्वतवाद (नित्यता के प्रति आग्रह) एक अन्त है और उच्छेदवाद (ऐहिकवाद) दूसरा अन्त है । इन दोनों अन्तों का निरास मध्यमा प्रतिपद् है । यही सम्यग् दृष्टि है । इसके बिना अभ्युदय और निःश्रेयस कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं किया जा सकता । सभी बौद्ध दार्शनिक मध्यम–प्रतिपदा स्वीकार करते हैं, किन्तु वे शाश्वत और उच्छेद अन्त की भिन्न–भिन्न व्याख्याएं करते हैं । इस तरह उनकी मध्यमा–प्रतिपद् के स्वरूप में भिन्नता आ जाती है । इसका आगे यथास्थान निरूपण किया जाएगा ।

(६) **प्रतीत्यसमुत्पाद**–प्रतीत्यसमुत्पाद सारे बुद्ध विचारों की रीढ है । बुद्ध पूर्णिमा की रात्रि में इसी के अनुलोम–प्रतिलोम अवगाहन से बुद्ध ने बुद्धत्व का अधिगम किया । प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान ही बोधि है । यही प्रज्ञाभूमि है । अनेक गुणों के विद्यमान होते हुए भी आचार्यों ने बड़ी श्रद्धा और भक्तिभाव से ऐसे भगवान् बुद्ध का स्तवन किया है, जिन्होंने अनुपम और अनुत्तर प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना की है । जैसा कि अक्सर कहा जाता है, यह बौद्धों का कार्यकारणभाव है, किन्तु वस्तुतः यह कार्यकारणभावमात्र नहीं है, बल्कि उससे अधिक है । कारण से कार्य के उत्पाद के नियम को सामान्यतया 'कार्यकारणभाव' कहा जाता है । जबकि प्रतीत्यसमुत्पाद से कारणों से कार्य के अनुत्पाद का सिद्धान्त भी प्रतिफलित होता है । इस सिद्धान्त की आचार्य नागार्जुन ने युक्तिपूर्वक स्थापना की है । अतः यह सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक है और इसमें अनेक सम्भावनाएं निहित हैं । आचार्यों ने प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या द्वारा ही अपने–अपने विशिष्ट दर्शनप्रस्थानों की स्थापनाएं की हैं । वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिकों की अपनी–अपनी विशिष्ट व्याख्याएं है । आज भी इसके विशिष्ट व्याख्यान द्वारा नवीन बौद्ध दर्शन–प्रस्थान की उद्भावना सम्भावित है ।

चार आर्यसत्य, अनित्यता, दुःखता, अनात्मता, क्षणभङ्गवाद, अनात्मवाद, अनीश्वरवाद आदि बौद्धों के प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धान्त इसी प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रतिफलन हैं, इनका यथास्थान आगे हम प्रतिपादन करेंगे ।

(७) **कर्मस्वातन्त्र्य**–बौद्धों का कर्म–सिद्धान्त भारतीय परम्परा में ही नहीं, अपितु विश्व की धार्मिक परम्परा में बेजोड़ एवं सबसे भिन्न है । प्रायः सभी लोग कर्म को जड़ मानते हैं, अतः कर्मों के कर्ता को उन कर्मों के फल से अन्वित करने के लिए एक अतिरिक्त चेतन या ईश्वर के अस्तित्व की आवश्यकता महसूस करते हैं । उनके अनुसार ऐसे अतिरिक्त चेतन के अभाव में कर्म–कर्मफल व्यवस्था बन नहीं सकेगी और सारी व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जाएगी । जबकि बौद्ध लोग कर्म को जड़ ही नहीं मानते । भगवान् बुद्ध ने कर्म को 'चेतना' कहा है (**चेतनाहं भिक्खवे, कम्मं वदामि**) (द्र0–अंगुत्तरनिकाय, भाग ३, पृ0 १२०) । कर्म क्योंकि चेतना है, अतः वह अपने फल को स्वयं अंगीकार या आकृष्ट कर लेती है । चेतना–प्रवाह में कर्म–कर्मफल की सारी व्यवस्था सुचारुतया सम्पन्न हो जाती है । इसलिए फल देने के लिए एक अतिरिक्त चेतन या ईश्वर को मानने की उन्हें कतई आवश्यकता नहीं है । इसीलिए विश्व के सारे आध्यात्मिक धर्मों के बीच में बौद्ध एकमात्र अनीश्वरवादियों में प्रमुख हैं ।

अपने सुख–दुःखों के लिए प्राणी स्वयं ही उत्तरदायी हैं । अपने अज्ञान और मिथ्यादृष्टियों से ही उन्होंने स्वयं अपने लिए दुःखों का उत्पाद किया है, अतः कोई दूसरी शक्ति ईश्वर या महेश्वर उन्हें उनसे मुक्त नहीं कर सकता । इसके लिए उन्हें स्वयं प्रयास करना होगा । किसी के वरदान या कृपा से दुःखमुक्ति असम्भव है । कोई महापुरुष, जिसने अपने दुःखों का प्रहाण कर लिया है, अपने अनुभव के आधार पर दुःखमुक्ति का मार्ग अवश्य बता सकता है, किन्तु उसकी बातों की परीक्षा कर, सही प्रतीत होने पर उस मार्ग पर प्राणी को स्वयं चलना होगा । इस कर्म सिद्धान्त के द्वारा मानव–स्वतन्त्रता और आत्म–उत्तरदायित्व का विशिष्ट बोध प्रतिफलित होता है । यह भारतीय संस्कृति में बौद्धों का अनुपम योगदान है ।

*

आतुरे आतुरे यद्वद् भिषग् द्रव्यं प्रयच्छति ।
बुद्धा हि तद्वत् सत्त्वानां चित्तमात्रं वदन्ति वै ।।

(लङ्कावतारसूत्र, २:१२३)

अष्टादश बौद्ध निकाय और उनके सामान्य सिद्धान्त

आलयरामा भिक्खवे, पजा आलयरता, आलयसमुदिता, सा तथागतेन अनालये धम्मे देसियमाने सुस्सूसति सोतं ओदहति अञ्ञा चित्तं उपट्ठपेति ।

(अंगुत्तरनिकाय, द्वितीय भाग)

दूरङ्गमं एकचरं असरीरं गुहासयं ।
ये चित्त सञ्ञमेस्सन्ति मोक्खन्ति मारबन्धना ॥

(धम्मपद, चित्तवग्गो)

अष्टादश बौद्ध निकाय और उनके सामान्य सिद्धान्त

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर बुद्धवचनों में प्रक्षेप (अन्य वचनों को डाल देना) और अपनयन (कुछ बुद्धवचनों को हटा देना) न होने देने के लिए क्रमशः तीन संगीतियों का आयोजन किया गया । प्रथम संगीति बुद्ध के परिनिर्वाण के तत्काल बाद प्रथम वर्षावास के काल में ही राजगृह में महाकाश्यप के संरक्षकत्व में सम्पन्न हुई । इसमें आनन्द ने सूत्र (इसमें अभिधर्म भी सम्मिलित है) और उपालि ने विनय का संगायन किया । इस तरह इस संगीति में सम्मिलित पाँच सौ अर्हत् भिक्षुओं ने प्रथम बार बुद्धवचनों का त्रिपिटक आदि में विभाजन किया ।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद सौ वर्ष बीतते–बीतते आयुष्मान् यश ने वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओं को विनयविपरीत दस वस्तुओं का आचरण करते हुए देखा, जिसमें सोने–चांदी का ग्रहण भी एक था । अनेक भिक्षुओं की दृष्टि में उनका यह आचरण अनुचित था । इसका निर्णय करने के लिए द्वितीय संगीति बुलाई गई । महास्थविर रेवत की अध्यक्षता में संगीति में सम्मिलित सात सौ अर्हत् भिक्षुओं ने उन (वज्जिपुत्तक भिक्षुओं) का आचरण विनयविपरीत निश्चित किया ।

वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने महास्थविरों के इस निर्णय को अमान्य कर दिया और कौशाम्बी में एक पृथक् संगीति आयोजित की, जिसमें दस हजार भिक्षु सम्मिलित हुए थे । यह सभा 'महासंघ' या 'महासंगीति' कहलाई तथा इस सभा को मानने वाले महासांघिक कहलाए ।

इस प्रकार बौद्ध संघ दो भागों या निकायों में विभक्त हो गया, स्थविरवादी और महासांघिक । आगे चलकर भगवान् के परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद सम्राट् अशोक के काल में आयोजित तृतीय संगीति के समय तक बौद्ध संघ अठारह निकायों में विकसित हो गया था ।

महासांघिक भी कालान्तर में दो भागों में विभक्त हो गए– १. एकव्यावहारिक और २. गोकुलिक । गोलुलिक से भी दो शाखाएं विकसित हुई, यथा–१. प्रज्ञप्तिवादी और २. बाहुलिक या बाहुश्रुतिक । बाहुलिक से

चैत्यवादी नामक एक और शाखा प्रकट हुई । इस तरह महासांघिक से पाँच शाखाएं निकलीं, जो महासांघिक के साथ कुल ६ निकाय होते हैं । दूसरी ओर स्थविरवादी भी पहले दो भागों में विभक्त हुए, यथा–वज्जिपुत्तक और महीशासक । वज्जिपुत्तक ४ भागों में विभक्त हुए, यथा–१. धर्मोत्तरीय, २. भद्रयाणिक, ३. छन्नागरिक (षाण्णागरिक) और ४. सम्मितीय । महीशासक से भी दो शाखाएं विकसित हुई, यथा– धर्मगुप्तिक और सर्वास्तिवादी । सर्वास्तिवादियों से क्रमशः काश्यपीय, काश्यपीय से सांक्रान्तिक और सांक्रान्तिक से सूत्रवादी (सौत्रान्तिक) निकाय विकसित हुए । इस प्रकार स्थविरवादी निकाय से ११ निकाय विकसित हुए, जो स्थविरवादी निकाय के साथ कुल १२ होते हैं । दोनों प्रकार के निकायभेद मिलकर कुल अठारह निकाय होते हैं ।

अठारह निकायों का यह उपर्युक्त विभाजन–क्रम दीपवंश नामक ग्रन्थ के अनुसार वर्णित है । आचार्य विनीतदेव, आचार्य वसुमित्र एवं आचार्य भव्य आदि ने अठारह निकायों की विभिन्न तालिकाएं प्रस्तुत की हैं । उनमें साम्य होते हुए भी विभिन्नताएं भी बहुत हैं । सब तालिकाओं को मिलाकर देखने पर निकायों की संख्या अठारह से कहीं अधिक हो जाती हैं । स्वयं पालि परम्परा में ही उपर्युक्त अठारह निकायों के अतिरिक्त हैमवत, राजगिरिक, सिद्धार्थिक, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय और वजिरिय निकायों के नाम उपलब्ध होते हैं । फिर भी सभी नैकायिक निकायों की संख्या १८ मानने पर ही बल देते हैं । कुछ विद्वानों ने एक निकाय का अन्य निकाय में अन्तर्भाव करके १८ संख्या निश्चित करने का प्रयास किया है[1] । किन्तु इन सबका विस्तारपूर्वक वर्णन करने का अवसर नहीं है । अतः अब हम भव्य आदि प्रमुख विद्वानों के मतानुसार निकायों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं ।

निकायों की परिभाषा

महासांघिक

ज्ञात है कि वैशाली में आयोजित द्वितीय संगीति से निष्कासित वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने कौशाम्बी में पृथक् संगीति का आयोजन किया था, जिसमें दस हजार भिक्षु सम्मिलित हुए थे । उन्होंने वहाँ 'महासांघिक' नामक

1. विस्तार के लिए द्रष्टव्य–सौत्रान्तिकदर्शनम्, पृ० ४०, (तिब्बती–संस्थान–प्रकाशन, सन् १९९०) ।

एक स्वतन्त्र निकाय की स्थापना की । महासंघ का शब्दार्थ ही महासभा होता है । ह्वेनसांग के मतानुसार यह सभा राजगृह की प्रथम संगीति के अवसर पर ही राजगृह के नजदीक आयोजित हुई थी । आचार्य बुद्धघोष, वसुमित्र आदि के अनुसार वैशाली की द्वितीय संगीति के बाद ही इस निकाय का प्रादुर्भाव हुआ ।

मृत्युभव और उपपत्तिभव के बीच में एक अन्तराभव होता है, जहाँ सत्त्व मरने के बाद और पुनर्जन्म ग्रहण करने के बीच कुछ दिनों के लिए रहता है । कुछ सर्वास्तिवादी आदि बौद्ध उस अन्तराभव का अस्तित्व स्वीकार करते हैं और कुछ बौद्ध निकाय उसे नहीं मानते । भोट विद्वान पद्म–ग्यल्–छन् का कहना है कि महासांघिक अन्तराभव के अस्तित्व को नहीं मानते । वसुबन्धु के अभिधर्म–कोश–स्वभाष्य में ऐसा उल्लेख मिलता है कि दूसरे कुछ नैकायिक अन्तराभव नहीं मानते[१] । यह सम्भव है कि महासांघिक ही उनके अन्तर्गत आते हों और इसीलिए पद्म–ग्यल्–छन् ने वैसा कहा हो । वैसे स्थविरवादी बौद्ध भी अन्तराभव नहीं मानते ।

स्थविरवाद

'स्थविरवाद' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं । स्थविर का अर्थ 'वृद्ध' भी है और 'प्राचीन' भी । अतः वृद्धों का या प्राचीनों का जो वाद (मार्ग) है, वह 'स्थविरवाद' है । 'स्थविर' शब्द स्थिरता को भी सूचित करता है । विनय–परम्परा के अनुसार जिस भिक्षु के उपसम्पदा के अनन्तर दस वर्ष बीत गए हों तथा जो विनय के अङ्गों और उपाङ्गों का अच्छा ज्ञाता होता है, वह 'स्थविर' कहलाता है । इसके अलावा वह भी स्थविर कहलाता है जो स्थविरगोत्रीय होता है । अर्थात् जिसकी रुचि और अध्याशय आदि स्थविरवादी सिद्धान्तों की ओर अधिक प्रवण होते हैं और जो उन सिद्धान्तों का श्रद्धा के साथ व्याख्यान करता है । ऐसे स्थविरों का वाद 'स्थविरवाद' है ।

सर्वास्तिवाद

किसी समय (प्राचीन कल में) पश्चिमोत्तर भारत में विशेषतः मथुरा, कश्मीर और गान्धार आदि प्रदेशों में सर्वास्तिवादियों का बहुल प्रचार था ।

१. अभिधर्मकोशभाष्य, पृ० ४०५–४०६ (बौद्ध भारती संस्करण) ।

सर्वास्तिवादी सिद्धान्तों को मानने वाले बौद्ध आजकल विश्व में शायद ही कहीं हों। किन्तु भोटदेशीय भिक्षु–परम्परा सर्वास्तिवादी विनय का अवश्य अनुसरण करती है। कतिपय विशिष्ट सिद्धान्तों के आधार पर 'सर्वास्तिवाद' यह नामकरण हुआ है। इस में प्रयुक्त 'सर्व' शब्द का तात्पर्य तीनों कालों अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान कालों से हैं। जो लोग वस्तुओं की तीनों कालों में सत्ता मानते हैं और जो तीनों कालों का द्रव्यतः अस्तित्व स्वीकार करते हैं, वे 'सर्वास्तिवादी' कहलाते हैं।

एकव्यावहारिक

जो लोग एक क्षण में बुद्ध की सर्वज्ञता का उत्पाद मानते हैं, वे 'एकव्यावहारिक' कहलाते हैं। अर्थात् इनके मतानुसार एक चित्तक्षण से सम्प्रयुक्त प्रज्ञा के द्वारा समस्त धर्मों का अवबोध हो जाता है। इस एकक्षणावबोध को स्वीकार करने के कारण इन का यह नामकरण हुआ है। महावंसटीका के अनुसार एकव्यावहारिक और गोकुलिक ये दोनों निकाय सभी कुशल–अकुशल संस्कारों को ज्वालारहित अङ्गार से मिश्रित भस्मनिरय के समान समझते हैं।

लोकोत्तरवाद

कुछ लोग बुद्ध के काय में सास्रव धर्मों का बिलकुल अस्तित्व नहीं मानते और कुछ मानते हैं। ये लोकोत्तरवादी बुद्ध की सन्तति में सास्रव धर्मों का अस्तित्व सर्वथा नहीं मानते। इनके मतानुसार सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति के अनन्तर बुद्ध के सभी आश्रय अर्थात् चित्त, चैतसिक, रूप आदि परावृत्त होकर निरास्रव और लोकोत्तर हो जाते हैं। यहां 'लोकोत्तर' शब्द अनास्रव के अर्थ में प्रयुक्त है। जो इस अनास्रवत्व को स्वीकार करते हैं, वे लोकोत्तरवादी हैं। यहां 'लोकोत्तर' शब्द का अर्थ मानवोत्तर के अर्थ में नहीं है। इनकी मान्यता के अनुसार क्षणभङ्गवाद की दृष्टि से पहले सभी धर्म सास्रव होते हैं। बोधिप्राप्ति के अनन्तर सास्रव धर्म निरुद्ध हो जाते हैं और अनास्रव धर्म उत्पन्न होते हैं। यह ज्ञात नहीं है कि ये लोग महायानियों की भाँति बुद्ध का अनास्रव ज्ञानधर्मकाय मानते हैं अथवा नहीं।

प्रज्ञप्तिवादी

कुछ वादी ऐसे होते हैं, जो परस्पर आश्रित सभी धर्मों को प्रज्ञप्त (कल्पित) मानकर उनके प्रति सत्यतः अभिनिवेश करते हैं, वे ही प्रज्ञप्तिवादी हैं। महावंशटीका के अनुसार 'रूप भी निर्वाण की भांति परमार्थतः है'–ऐसा मानने वाले प्रज्ञप्तिवादी कहलाते हैं।

वात्सीपुत्रीय

स्थविरवादी संघ से जो सर्वप्रथम निकायभेद विकसित हुआ, वह वात्सीपुत्रीय निकाय ही है। स्थविरों से इनका सैद्धान्तिक मतभेद था। ये लोग पुद्गलास्तित्ववादी थे। अर्थात् ये पुद्गल के द्रव्यतः अस्तित्व के पक्षपाती थे और उसे अनिर्वचनीय कहते थे। यह निकाय स्थविरवादियों का प्रमुख प्रतिपक्ष रहा है। यही कारण है कि तृतीय संगीति के अवसर पर जो सम्राट् अशोक के काल में पाटलिपुत्र (पटना) में आयोजित हुई थी, उसमें मुद्गलीपुत्र तिष्य ने स्थविरवाद से भिन्न सत्रह निकायों का खण्डन करते हुए जिस 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, उस ग्रन्थ में उन्होंने सर्वप्रथम पुद्गलवादी वात्सीपुत्रीयों का ही खण्डन किया। इससे यह भी निष्कर्ष प्रतिफलित होता है कि तृतीय संगीति से पूर्व ही इनका अस्तित्व था। कौशाम्बी, मथुरा तथा अवन्ती आदि इनके प्रमुख केन्द्र थे।

सम्मितीय

इस निकाय के प्रवर्तक आर्य महाकात्यायन माने जाते हैं। ये वे ही आचार्य हैं, जिन्होंने दक्षिणापथ (अवन्ती) में सर्वप्रथम सद्धर्म की स्थापना की। उस प्रदेश के निवासियों के आचार में बहुत भिन्नता देखकर विनय के नियमों में कुछ संशोधनों का भी इन्होंने सुझाव रखा था। इसी निकाय से आवन्तक और कुरुकुल्लक निकाय विकसित हुए। कभी–कभी सम्मितीयों का संग्रह वात्सीपुत्रीयों में और कभी वात्सीपुत्रीयों का संग्रह सम्मितीयों में भी देखा जाता है। इसका कारण उनके समान सिद्धान्त हो सकते हैं।

अनिर्वचनीय पुद्गल के अस्तित्व को स्वीकार करना ही इनके सिद्धान्तों की समानता है। भारहारसूत्र को ये लोग अपने विशिष्ट सिद्धान्त की पुष्टि के

लिए प्रस्तुत करते हैं । इस सूत्र के अनुसार पाँच उपादान स्कन्ध 'भार' हैं और पुद्गल ही 'भारहार' है, क्योंकि वह भार का वहन करता है । पुनश्च, वे कहते हैं कि भगवान् ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्धों को अनात्म कहा है न कि आत्मा सर्वथा नहीं है—ऐसा कहा है । 'वह बाईं आंख से नहीं देखता'—ऐसा कहने का यह अर्थ यह नहीं है कि दाहिनी आंख से भी नहीं देखता, अन्यथा बायां विशेषण व्यर्थ हो जाएगा । इसी तरह रूप अनात्म है, वेदना अनात्म है—इत्यादि जानना चाहिए ।

इन उपर्युक्त कथनों के आधार पर कुछ विद्वानों का कथन है कि सम्मितीय सर्वथा आत्मवादी हैं—यह नहीं माना जा सकता । यद्यपि वे अनिर्वचनीय द्रव्यसत् पुद्गल मानते हैं, तथापि वे पांच स्कन्धों से तथा नित्य–अनित्य से पुद्गल को भिन्न या अभिन्न स्वीकार नहीं करते । उन (सम्मितीयों) का कहना है कि पांच स्कन्धों को आत्मा मानने में युक्तिविरोध होता है तथा पांच स्कन्धों से भिन्न मानने पर तैर्थिकों के आत्मवाद को मानने का दोष (प्रसंग) उपस्थित होता है । इसलिए वे दोनों न मानकर केवल पुद्गल की द्रव्यसत्ता मात्र स्वीकार करते हैं ।

मालूम होता है कि वे पुद्गल को प्रज्ञप्तिसत् कहना नहीं जानते थे, जैसा कि अन्य बौद्ध मतावलम्बी नैकायिक मानते हैं । इसलिए वे उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं ।

अनित्यता के बारे में भी उनका अपना विशिष्ट मत है । वे विनाश को सहेतुक मानते हैं, जब कि अन्य बौद्ध अहेतुक विनाश स्वीकार करते हैं । इसलिए ये लोग चित्त–चैतसिकों को छोड़कर अन्य धर्मों के उत्पाद के बाद जब तक उनका भङ्ग नहीं हो जाता, तब तक उनकी स्थिति स्वीकार करते हैं । केवल चित्त–चैतसिक ही उनके अनुसार सर्वथा क्षणिक हैं, न कि सभी धर्म । स्थिति के बिना उत्पाद के बाद ही विनाश जैसे सौत्रान्तिक आदि मानते हैं, वैसे ये लोग नहीं मानते ।

महीशासक

प्रिलुस्की महोदय के अनुसार ये लोग स्थविर पुराण के अनुयायी थे । ज्ञात है कि पुराण वही स्थविर है, जो राजगृह में जब प्रथम संगीति हो रही थी,

तब दक्षिणगिरि से चारिका करते हुए पाँच सौ भिक्षुओं के साथ वहीं (राजगृह में) ठहरे हुए थे । संगीतिकारक भिक्षुओं ने उनसे संगीति में सम्मिलित होने का निवेदन किया, किन्तु उन्होंने उनके कार्य की प्रशंसा करते हुए भी उसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया और कहा कि मैंने भगवान् के मुंह से जैसे सुना है, उसी का अनुसरण करूंगा ।

धर्मगुप्तक

परमार्थ के मतानुसार इस निकाय के प्रवर्तक महामौद्गल्यायन के शिष्य स्थविर धर्मगुप्त थे । प्रिलुस्कि और फ्राउवाल्नर का कहना है कि ये धर्मगुप्त यौनक धर्मरक्षित से अभिन्न हैं ।

काश्यपीय

पालिपरम्परा और सांची के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कश्यपगोत्रीय भिक्षु समस्त हिमवत्प्रदेश के निवासियों के आचार्य थे । चीनी भाषा में उपलब्ध 'विनयमातृका' नामक ग्रन्थ से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है । इसीलिए **काश्यपीय** और **हैमवत** अभिन्न प्रतीत होते हैं । **सुवर्षक** और **सद्धर्मवर्षक** भी इन्हीं का नाम है । इस निकाय का हिमवत्प्रदेश में प्रचार सम्भवतः महाराज अशोक के काल में सम्पन्न हुआ, जब तृतीय संगीति के अनन्तर उन्होंने विभिन्न प्रदेशों में सद्धर्म के प्रचारार्थ धर्मदूतों को प्रेषित किया था ।

विभज्यवाद

आचार्य वसुमित्र के मतानुसार यह निकाय सर्वास्तिवादी निकाय के अन्तर्गत गृहीत होता है । स्थविरवादी भी अपने को विभज्यवादी कहते हैं । आचार्य भव्य के अनुसार यह निकाय स्थविरवाद से भिन्न है । कुछ लोगों के अनुसार इन्हें हेतुवादी भी कहा जाता है । इस निकाय का यह विशिष्ट अभिमत है कि किये हुए कर्म का जब तक फल या विपाक उत्पन्न नहीं हो जाता, तब तक उस अतीत कर्म का द्रव्यतः अस्तित्व होता है । जिसने अभी फल नहीं दिया है, उस अतीत कर्म कर्म की और वर्तमान कर्म की द्रव्यसत्ता है तथा जिसने फल दे दिया है, उस अतीत कर्म की और अनागत कर्म की प्रज्ञप्तिसत्ता है—इस प्रकार

कर्मों के बारे में इनकी व्यवस्था है । कर्मों के इस प्रकार के विभाजन के कारण ही इस निकाय का नाम 'विभज्यवाद' है । हेतुवादी भी इन्हीं का नाम है । भूत, भौतिक समस्त वस्तुओं के हेतु होते हैं, यह इनका अभिमत है । कथावत्थु और उसकी अट्ठकथा में इस निकाय के बारे में पुष्कल चर्चा उपलब्ध होती है ।

निकाय–परम्परा

आचार्य विनीतदेव आदि प्रमुख आचार्यों की मान्यता है कि चार ही मूल निकाय हैं, जिनसे आगे चल कर सभी अठारह निकाय विकसित हुए । वे हैं– आर्य सर्वास्तिवादी, आर्य महासांघिक, आर्यस्थविर एवं आर्य सम्मितीय । मूलसंघ से जो यह विभाजन हुआ या अठारह या उससे अधिक निकायों का जो जन्म हुआ, वह किसी गतिशील श्रेष्ठ धर्म का लक्षण है, न कि ह्रास का । भगवान् बुद्ध ने स्वयं ही किसी भी शास्ता के वचन या किसी पवित्र ग्रन्थ के वचन को अन्तिम प्रमाण मानने से अपने अनुयायी भिक्षुओं को मना कर दिया था । उन्होंने स्वतन्त्र चिन्तन, अपने अनुभव की प्रामाणिकता, वस्तुसङ्गत दृष्टि और उदार विचारों के जो बीज भिक्षुसंघ में निक्षिप्त (स्थापित) किये थे, उन्हीं बीजों से कालान्तर में विभिन्न शाखाओं वाला सद्धर्म रूपी महावृक्ष विकसित हुआ, जिसने भारत सहित विश्व के कोटि–कोटि विनेय जनों की आकांक्षाएं अपने पुष्प, फल, पत्र और छाया के द्वारा पूर्ण कीं और आज भी कर रहा है ।

(१) आर्य सर्वास्तिवादियों की परम्परा क्षत्रिय वंश में उत्पन्न आर्य राहुलभद्र ने स्थापित की, जिनके बारे में भगवान् बुद्ध का कहना था कि ये शैक्ष्य पुद्गलों में अग्रगण्य हैं । इस निकाय में संस्कृत भाषा में प्रातिमोक्षसूत्र के पाठ की परम्परा थी । इस परम्परा में संघाटी में ९ से लेकर २५ तक पट्टिकाएं होती थीं, जिन पर पद्म, रत्न, और पत्र का अङ्कन होता था ।

(२) आर्यमहासांघिकों की परम्परा की स्थापना ब्राह्मणकुल में उत्पन्न आर्य महाकाश्यप ने की, इनके बारे में भगवान् बुद्ध ने कहा था कि ये स्वाध्यायपारायण करने वालों में अग्रगण्य हैं । इस परम्परा के प्रातिमोक्षसूत्र का पाठ प्राकृत भाषा में होता था तथा संघाटी में ७ से लेकर २३ तक पट्टिकाएं होती थीं और उन पर शंख का अंकन होता था ।

(३) आर्य स्थविरवादी परम्परा के प्रवर्तक ब्राह्मणकुल में उत्पन्न आर्य महाकात्यायन थे । जिन के बारे में भगवान् बुद्ध ने कहा था कि ये ऐसे लोगों में अग्रगण्य हैं, जो क्रूर और हिंसक प्रवृत्ति के लोगों से व्याप्त पर्वतीय सीमान्त प्रदेशों में जाकर सद्धर्म का प्रचार करते हैं । इस परम्परा के प्रातिमोक्षसूत्र का पाठ पैशाची भाषा में होता था तथा संघाटी में ५ से २१ तक पट्टिकाएं होती थीं, जिन पर श्रीवत्स का अंकन किया जाता था ।

(४) आर्य सम्मितियों की परम्परा का प्रवर्तन नापित कुल में उत्पन्न आर्य भदन्त उपालि ने किया था । भगवान् ने उनके बारे में घोषणा की थी कि ये विनयधरों में अग्रगण्य हैं । इस परम्परा के प्रातिमोक्षसूत्र का पाठ अपभ्रंश भाषा में होता था । इस परम्परा में भी संघाटी में ५ से लेकर २१ तक पट्टिकाएं होती थीं तथा उन पर श्रीवत्स का अंकन होता था ।

इन चारों मूल निकायों के आपसी भेदों के आधार प्रमुख रूप से विनयसूत्र, भिक्षुसंघ के नियम, उपनियम आदि आचार थे, जो देश और काल के कारण भिन्न–भिन्न हो गये थे, तथापि उनके दार्शनिक विचारों में और सूत्र के व्याख्यानों में मतभेद बिलकुल नहीं थे–ऐसा नहीं कहा जा सकता । हां, यह कहा जा सकता है कि वे भेदों के प्रमुख आधार नहीं थे ।

अठारह निकायों के सामान्य सिद्धान्त

आचार्य वसुमित्र, भावविवेक आदि महापण्डितों के ग्रन्थों का अध्ययन करने के अनन्तर हम उन दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षेप में प्रतिपादन करना चाहते हैं, जिनके बारे में सभी अठारह निकाय प्रायः सहमत हैं ।

(१) ज्ञान में ग्राह्य (विषय) के आकार का अभाव

बौद्ध दार्शनिकों में इस विषय पर पर्याप्त चर्चा उपलब्ध होती है कि ज्ञान जब अपने विषय में प्रवृत्त होता है, तब विषय के आकार को ग्रहण करके अर्थात् विषय के आकार से आकारित (साकार) होकर विषय ग्रहण करता है या निराकार रहते हुए । सौत्रान्तिकों का मानना है कि चक्षुर्विज्ञान नीलाकार होकर नील विषय में प्रवृत्त होता है । उनका कहना है कि जिस समय चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय उसका ग्राह्य (नील आलम्बन) निरुद्ध रहता है ।

क्योंकि नील आलम्बन कारण है और चक्षुर्विज्ञान उसका कार्य । कारण को कार्य से नियत पूर्ववर्ती होना चाहिए । इसलिए नील आलम्बन चक्षुर्विज्ञान से एक क्षण पूर्व निरुद्ध हो जाता है । किन्तु ज्ञान में विषय का आकार विद्यमान होने से वह ज्ञान 'नीलज्ञ' कहा जाता है ।

वैभाषिक–प्रमुख अन्य निकायों के मतानुसार चक्षुर्विज्ञान विषय के आकार से आकारित होकर आलम्बन में प्रवृत्त नहीं होता, अपितु निराकार ज्ञान में विषय का प्रतिभास हुआ करता है । इनके अनुसार घट, पट आदि स्थूल आकार नहीं, अपि तु उनके आरम्भक परमाणु चक्षुरिन्द्रिय में आभासित होते हैं, अतः चक्षुर्विज्ञान घट आदि के नीलाकार का ग्रहण न करते हुए उनमें प्रवृत्त होता है । सौत्रान्तिक मत में चक्षुर्विज्ञान में परमाणु का प्रतिभास नहीं माना जाता, अपितु उनके द्वारा आरब्ध स्थूल नील घटाकार का प्रतिभास माना जाता है । वैभाषिक इससे सहमत नहीं है । उनका कहना है कि चक्षुर्विज्ञान नहीं, अपि तु चक्षुरिन्द्रिय रूप को देखती है । यदि चुक्षर्विज्ञान रूप को देखेगा तो विज्ञान की गति अप्रतिहत (बेरोकटोक) होने से दीवार आदि के उस पार स्थित रूप को भी उसे देखना चाहिए, क्योंकि दीवार आदि वस्तु किसी जड़ पदार्थ को ही आगे जाने से रोक सकती है, ज्ञान को नहीं । किन्तु दीवार के उस पार स्थित रूप दिखाई नहीं देता, इससे सिद्ध होता है कि चक्षुर्विज्ञान रूप को नहीं देखता, अपि तु जड चक्षुरिन्द्रिय रूप को देखती है, जिसकी अग्रगति दीवार के कारण अवरुद्ध हो जाती है ।

(२) ज्ञान में स्वसंवेदनत्व का अभाव

वैभाषिक प्रमुख सभी अठारह निकायों में ज्ञान में जैसे ज्ञेय (विषय) का आकार नहीं माना जाता अर्थात् जैसे उसे निराकार माना जाता है, उसी प्रकार ज्ञान में ग्राहक–आकार अर्थात् अपने स्वरूप (स्वयं) को ग्रहण करने वाला आकार भी नहीं माना जाता । स्वयं (अपने स्वरूप) को ग्रहण करने वाला ज्ञान 'स्वसंवेदन' कहलाता है । आशय यह कि वे (वैभाषिक आदि) स्वसंवेदन नहीं मानते । ज्ञात है कि बौद्ध नैयायिक सौत्रान्तिक आदि चार प्रत्यक्ष मानते हैं– इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और योगी–प्रत्यक्ष । इनमें से वैभाषिक आदि क्योंकि स्वसंवेदन नहीं मानते, इसलिए इनके मत में शेष तीन प्रत्यक्ष ही माने जाते हैं ।

जब ज्ञान अपने विषय (ज्ञेय) नील आदि में प्रवृत्त होता है, तब ज्ञेय का आकार ज्ञान में आ जाने से ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है । ज्ञान के इस अपने ज्ञेयाकार स्वरूप को ज्ञान स्वयं प्रत्यक्षतया (स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा) जानता है–ऐसा सौत्रान्तिक आदि बौद्ध नैयायिक मानते हैं । वैभाषिक आदि निकायों के मत में ज्ञान न तो ज्ञेयाकार होता है और न आत्मस्वरूपग्राहकाकार होता है । अर्थात् वे ज्ञान के स्वसंवेदन स्वरूप की कल्पना ही नहीं करते । इसलिए ये सर्वथा निराकार ज्ञानवादी ही हैं ।

(३) बाह्यार्थ का अस्तित्व

वैभाषिक आदि के मत में ज्ञान से अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं की सत्ता मानी जाती है । वे रूप, शब्द आदि बाह्य वस्तुएं परमाणुओं से आरब्ध (निर्मित) होती हैं, न कि विज्ञान के परिणाम के रूप में मानी जाती हैं–जैसे कि योगाचार विज्ञानवादी मानते हैं । योगाचार मतानुसार समस्त बाह्यार्थ आलयविज्ञान या मनोविज्ञान में स्थित वासना के परिणाम होते हैं । वैभाषिक ऐसा नहीं मानते । वैभाषिक मतानुसार घट आदि पदार्थों में स्थित परमाणु चक्षुरिन्द्रिय के विषय होते हैं तथा चक्षुरिन्द्रिय में स्थित परमाणु चक्षुर्विज्ञान के आश्रय होते हैं । इसलिए इनके मत में परमाणु से निर्मित घट आदि स्थूल वस्तुओं की प्रज्ञप्तिसत्ता नहीं मानी जाती । सौत्रान्तिकों के मतानुसार घट आदि में स्थित प्रत्येक परमाणु चक्षुर्विज्ञान का विषय नहीं होता, अतः चक्षुर्विज्ञान में भासित होने वाले घट आदि स्थूल वस्तुओं की प्रज्ञप्तिसत्ता मानी जाती है । जैसे वैशेषिक दार्शनिक अवयवों से अतिरिक्त एक अवयवी द्रव्य की सत्ता स्वीकार करते हैं, वैसे वैभाषिक नहीं मानते, इसलिए घट आदि के अन्तर्गत विद्यमान परमाणु ही इन्द्रिय के विषय होते हैं ।

(४) तीनों कालों की सत्ता

जो सभी अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न कालों का अस्तित्व मानते हैं, वे सर्वास्तिवादी चार प्रकार के हैं, यथा–१. भावान्यथिक । इस मत के प्रमुख आचार्य भदन्त धर्मत्रात हैं । इनके अनुसार अध्वों (कालों) में प्रवर्तमान (गतिशील) धर्मों की द्रव्यता में अन्यथात्व नहीं होता । केवल भाव में अन्यथात्व होता है । २. लक्षणान्यथिक । इसके प्रमुख आचार्य भदन्त घोषक हैं । इनके

अनुसार अध्वों में प्रवर्तमान अतीत धर्म यद्यपि अतीत–लक्षण से युक्त होता है, फिर भी वह प्रत्युत्पन्न और अनागत लक्षण से भी अवियुक्त होता है । ३. अवस्थान्यथिक । इसके प्रमुख आचार्य भदन्त वसुमित्र हैं । इनके अनुसार अध्वों में प्रवर्तमान धर्म भिन्न–भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त कर अवस्था की दृष्टि से भिन्न–भिन्न निर्दिष्ट किया जाता है, न कि भिन्न–भिन्न द्रव्य की दृष्टि से भिन्न–भिन्न निर्दिष्ट होता है । ४. अन्यथान्यथिक । इसके प्रमुख आचार्य भदन्त बुद्धदेव हैं । इनके अनुसार अध्वों में प्रवर्तमान धर्म पूर्व, अपर की अपेक्षा से भिन्न–भिन्न कहा जाता है ।

इनमें जो तीसरा पक्ष अवस्थान्यथिक नाम से विख्यात है, वही शोभन है । इसके अनुसार कारित्र (अर्थक्रिया) की दृष्टि से अध्व की व्यवस्था की जाती है । जैसे जो धर्म कारित्र को प्राप्त नहीं है, वह अनागत; जो कारित्र को प्राप्त है, वह प्रत्युत्पन्न तथा जिसका कारित्र समाप्त हो गया है, वह अतीत कहा जाता है । तीनों कालों की द्रव्यतः सत्ता को अवश्य मानने के पक्ष में ये निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं :

यदि अतीत, अनागत की सत्ता न मानी जाएगी तो अतीत, अनागत को विषय (आलम्बन) बनानेवाला ज्ञान निरालम्बन हो जाएगा । आलम्बन का अभाव हो जाने से उसे ज्ञान कहना ही सम्भव नहीं होगा । अपि च, अतीत को विषय बनाने वाला योगियों का ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा । पुनश्च, अतीत कर्म का कोई फल ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसमें किसी भी प्रकार के कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं मानी जा सकती । फलतः सारी कर्म–कर्मफल व्यवस्था के विलोप का प्रसंग उपस्थित होगा । अतः तीनों कालों का अस्तित्व अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए । इसका यह मतलब नहीं है कि वस्तुएं नित्य होती हैं । वैभाषिक मत के अनुसार सभी वस्तुएं उत्पाद–भङ्ग स्वभाववाली होती हैं, अतः अनित्य ही होती हैं ।

(५) निरुपधिशेष निर्वाण

वैभाषिक आदि निकायों के मत में निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में व्यक्तित्व की सर्वथा निवृत्ति (परिसमाप्ति) मानी जाती है । इस अवस्था में अनादि काल से चली आ रही व्यक्ति की नाम–रूप सन्तति सर्वथा शान्त हो जाती है, जैसे दीपक के बुझ जाने पर उसकी किसी भी प्रकार की सन्तति अवशिष्ट नहीं रहती ।

(६) बोधि से पूर्व गौतम बुद्ध का पृथग्जन होना

इन निकायों के मतानुसार जन्म ग्रहण करते समय राजकुमार सिद्धार्थ पृथग्जन ही थे । वह बोधिसत्त्व अवश्य थे और मार्ग की दृष्टि से सम्भारमार्ग की अवस्था में विद्यमान थे । घर से बाहर होकर प्रव्रज्या ग्रहण करने के अनन्तर जिस समय बोधिवृक्ष के मूल में समाधि में स्थित थे, तब उन्होंने क्रमशः प्रयोगमार्ग, दर्शनमार्ग और भावनामार्ग को प्राप्त किया । अन्त में उन्होंने उसी आसन पर सम्यक् संबुद्धत्व की प्राप्ति की । ये लोग ऐसा नहीं मानते कि वे पहले ही बुद्धत्व प्राप्त कर चुके थे और जम्बूद्वीप में उनका मनुष्य के रूप में अवतार हुआ था, जैसा कि महायानी बौद्ध मानते हैं । उनका शरीर भी सास्रव ही था । महापरिनिर्वाण के अनन्तर उनके व्यक्तित्व का अस्तित्व सर्वथा समाप्त हो गया, क्योंकि उन्होंने निरुपधिशेष निर्वाण प्राप्त कर लिया था ।

(७) महायानसूत्रों की अप्रामाणिकता

इन सभी अठारह निकायों में महायानसूत्रों की बुद्धवचन के रूप में मान्यता स्वीकृत नहीं है । इसके लिए वे निम्नलिखित युक्तियां प्रस्तुत करते हैं :

(क) समस्त बुद्धवचन सूत्र, विनय और अभिधर्म–इन तीन पिटकों में संगृहीत हैं । राजगृह आदि में संगीतिकारकों ने इन महायानसूत्रों का किसी भी पिटक में संग्रह नहीं किया है । इसलिए ये बुद्धवचन नहीं हैं ।

(ख) महायान सूत्रों में बुद्ध, धर्म और संघ अर्थात् त्रिरत्न, चार आर्य सत्य तथा कर्म–कर्मफल आदि की सत्यतः सत्ता नहीं मानी जाती, क्योंकि वे सभी धर्मों को स्वभावतः शून्य मानते हैं । इस तरह वे कर्म, कर्मफल, त्रिरत्न आदि के बारे में उच्छेदवादी चार्वाकों की भाँति ही हैं ।

(ग) बौद्ध धर्म के सर्वमान्य अठारह निकाय हैं, किन्तु महायानसूत्रों का किसी भी निकाय में संग्रह नहीं है, क्योंकि :

(१) प्रथम या द्वितीय संगीति में उनका संगायन नहीं हुआ ।

(२) महायान सूत्रों में तथागत का धर्मकाय नित्य माना गया है, जो सभी निकायों के इस सार्वभौम सिद्धान्त से विरुद्ध है कि 'सभी संस्कार अनित्य है'।

(३) महायान सूत्रों में तथागतगर्भ या आलयविज्ञान की देशना की गई है, जो लगभग आत्मदेशना की भांति ही है । अतः यह देशना 'सभी धर्म अनात्मक हैं'–इस सर्व बौद्धसम्मत सिद्धान्त से विपरीत है ।

(४) महायान सूत्रों के अनुसार तथागत निर्वाण के बाद भी उसमें विलीन नहीं होते, अपि तु अप्रतिष्ठित निर्वाण में स्थित होते हैं । उनका यह सिद्धान्त सार्वनैकायिक इस मत से विपरीत है कि 'निर्वाण शान्त है' ।

(५) महायान सूत्रों में सर्वमान्य बौद्ध धर्म के विपरीत अनेक मतों का उल्लेख उपलब्ध होता है, जैसे–अर्हत् पुद्गलों की निन्दा, गृहस्थ लोगों को भी प्रव्रजित द्वारा प्रणाम किया जाना, भगवान् बुद्ध से भी अधिक बोधिसत्त्वों की प्रशंसा, गगनगर्भ आदि बोधिसत्त्वों का अर्थशून्य शब्दमात्र प्रणिधान करना आदि ।

(६) शाक्यमुनि बुद्ध का लीला के लिए पृथ्वी पर अवतरण, बुद्ध का सदा समाहित अवस्था में रहना, आनन्तर्य पापकर्मों के भी उन्मूलन की सम्भावना आदि बौद्ध धर्म के विपरीत मतों का उल्लेख महायानसूत्रों में दिखलाई पड़ता है ।

फलतः ये महायान सूत्र कभी भी बुद्धवचन नहीं हो सकते । प्रतीत होता है कि लोगों की वञ्चना करने के लिए मार द्वारा ये उपदिष्ट हैं ।

महायानसूत्रों के बुद्धवचन न होने के पक्ष में और भी अनेक दोषारोपण तर्कज्वाला आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं तथा वहां इन दोषारोपणों का समाधान भी उपलब्ध होता है । इसके अलावा आचार्य नागार्जुन के ग्रन्थों में, आर्य मैत्रेयनाथ के महायानसूत्रालङ्कार में, भावविवेक के मध्यमकहृदय और शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार आदि ग्रन्थों में महायान सूत्रों की बुद्धवचनता युक्तिपूर्वक सिद्ध की गई है । इन सबका विस्तृत ज्ञान उन उन ग्रन्थों का अवलोकन करके ही करना चाहिए ।

आचार्य वसुमित्र, विनीतदेव, भव्य आदि के ग्रन्थों में तथा इन ग्रन्थों के आधार पर बाद में भोटदेशीय विद्वानों द्वारा रचित अनेक ग्रन्थों में अठारह निकायों से सम्बद्ध सामग्री बड़ी मात्रा में उपलब्ध होती हैं, किन्तु यहां संक्षेप में ही निर्देश करना अभीष्ट होने के कारण विराम किया जाता है ।

सम्राट् कनिष्क के समय जालन्धर या कश्मीर के कुण्डलपुर में जो चतुर्थ संगीति सम्पन्न हुई, वह मुख्यरूप से सर्वास्तिवादियों के आपसी विवादों के समाधान के लिए आयोजित की गई थी । उसमें सम्पूर्ण त्रिपिटक पर विभाषा नाम की एक टीका लिखी गई, जिसमें सूत्रों का वास्तविक अभिप्राय अभिव्यक्त किया गया था । इस टीका को प्रमाण माननेवाले 'वैभाषिक' कहलाए । इस संगीति में जो सम्मिलित नहीं हुए थे अथवा इस संगीति के निष्कर्षों को जिन्होंने स्वीकार करने से इनकार कर दिया, वे विभिन्न सर्वास्तिवादियों के रूप में प्रख्यात रहे ।

ऊपर के विवरणों से यह ज्ञात होता है कि सभी अठारह (या उससे अधिक) निकायों के प्रमुख दार्शनिक मुद्दों पर प्रायः समान विचार थे । अतः बौद्ध दर्शनों का जब चार दार्शनिक प्रस्थानों में वर्गीकरण किया गया, तब इन सभी निकायों को एक में सम्मिलित करके उसे वैभाषिक दार्शनिक प्रस्थान कहा गया । अब हम इन वैभाषिक (सर्वास्तिवाद), सौत्रान्तिक, योगाचर एवं माध्यमिक दर्शन प्रस्थानों के दार्शनिक सिद्धान्तों के बारे में आगे चर्चा प्रारम्भ करेंगे ।

*

तथ्यसंवृतिसोपानमन्तरेण विपश्चितः ।
तत्त्वप्रासादशिखरारोहणं न हि युज्यते ।।

द्र०- अभिसमयालंकारटीका, आलोक, पृ० ३४६
(दरभङ्गा संस्करण १९६०)

वैभाषिक दर्शन

[सर्वास्तिवाद]

यत्र भिन्ने न तद्बुद्धिरन्यापोहे धिया च तत् ।
घटार्थवत् संवृतिसत् परमार्थसदन्यथा ॥

(अभिधर्मकोश, ६ : ४)

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः ।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात् ॥

(तत्त्वसंग्रह ३५८७ का०)

वैभाषिक दर्शन
[सर्वास्तिवाद]

इनका बहुत कुछ साहित्य नष्ट हो गया है । इनका त्रिपिटक संस्कृत में था । इनके अभिधर्म में प्रमुख रूप में सात ग्रन्थ हैं, जो प्रायः मूल रूप में अनुपलब्ध हैं या आंशिक रूप में उपलब्ध हैं । चीनी भाषा में इनका और इनकी विभाषा टीका का अनुवाद उपलब्ध है । वे सात ग्रन्थ इस प्रकार हैं– ज्ञानप्रस्थान, प्रकरणपाद, विज्ञानकाय, धर्मस्कन्ध, प्रज्ञप्तिशास्त्र, धातुकाय एवं संगीतिपर्याय । वैभाषिक और सर्वास्तिवादी दोनों अभिधर्म को बुद्धवचन मानते हैं ।

विभाषा को प्रमाण माननेवाले वैभाषिकों के अलावा भी अन्य प्रकार के सर्वास्तिवादी विद्यमान थे । वैभाषिकों का एक प्रमुख केन्द्र कश्मीर था, अतः इनको 'कश्मीर–वैभाषिक' कहते हैं । कश्मीर के बाहर के जो सर्वास्तिवादी थे वे 'बहिर्देशक', कश्मीर से पश्चिम के सर्वास्तिवादी 'पाश्चात्त्य' एवं 'अपरान्तक' कहलाते थे । अभिधर्मकोश में आभिधार्मिकों के मत का भी उल्लेख है, जो सर्वास्तिवादी हैं, किन्तु विभाषा को प्रमाण नहीं मानते ।

सर्वास्तिवादी मत के प्रतिपादक अभिधर्मकोश, अभिधर्मदीप एवं अभिधर्मामृत आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किन्तु उनमें अभिधर्मकोश ही सबसे अधिक प्रामाणिक, विस्तृत एवं पूर्णरूप में उपलब्ध है । इसके रचयिता आचार्य वसुबन्धु हैं । इन्होंने इस ग्रन्थ में कश्मीर वैभाषिक मतानुसार अभिधर्म का व्याख्यान किया है । वैभाषिक ग्रन्थ की रचना करने पर भी परम्परानुसार वसुबन्धु को वैभाषिक नहीं माना जाता, अपि तु उन्हें सौत्रान्तिक माना जाता है । ग्रन्थ में भी यत्र तत्र उनका झुकाव सौत्रान्तिक मत की ओर अभिलक्षित होता है । वे अभिधर्म के स्थान पर सूत्र को ही प्रमाण मानते हैं । अभिधर्मकोश बड़े महत्त्व का ग्रन्थ है । बौद्ध संसार पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा है । इसकी अनेक व्याख्याएं है । चीनी और तिब्बती भाषा में भी इसका अनुवाद उपलब्ध है ।

सौत्रान्तिक पक्षपाती होने के कारण इन्होंने अपने ग्रन्थ में जगह–जगह वैभाषिक मत की आलोचना की है । अतः संघभद्र ने अपने न्यायानुसार नामक

ग्रन्थ में इसका खण्डन किया और वैभाषिक मत की प्रस्थापना की है । न्यायानुसार ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है ।

परिभाषा

सर्वास्तिवाद शब्द में 'सर्व' का अर्थ तीनों काल तथा 'अस्ति' का अर्थ द्रव्यसत्ता है । अर्थात् जो निकाय तीनों कालों में धर्मों की द्रव्यसत्ता स्वीकार करते हैं, वे सर्वास्तिवादी हैं (**तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादा इष्टाः**) (अभिधर्मकोश–भाष्य) । परमार्थ के अनुसार जो अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न, आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध– इन सबका अस्तित्व स्वीकार करते हैं, वे सर्वास्तिवादी हैं । वसुबन्धु कहते हैं कि जो प्रत्युत्पन्न और अतीत कर्म के उस प्रदेश (हिस्से) को, जिसने अभी फल नहीं दिया है, उसे सत् मानते हैं तथा अनागत और अतीत कर्म के उस प्रदेश (हिस्से) को, जिसने फल प्रदान कर दिया है, उसे असत् मानते हैं, वे विभज्यवादी हैं, न कि सर्वास्तिवादी । उनके मतानुसार जिनका वाद यह है कि अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न सबका अस्तित्व है, वे सर्वास्तिवादी हैं । सर्वास्तिवादी आगम और युक्ति के आधार पर तीनों कालों की सत्ता सिद्ध करते हैं । उनका कहना है कि सूत्र में भगवान् ने अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न तीनों कालों में होनेवाले रूप आदि स्कन्धों की देशना की है (**रूपमनित्यमतीतमनागतम्**, इत्यादि) । युक्ति प्रस्तुत करते हुए वे कहते है कि अतीत, अनागत की सत्ता न होगी तो योगी में अतीत, अनागत विषयक ज्ञान ही उत्पन्न न हो सकेगा, जबकि ऐसा ज्ञान होता है तथा यदि अतीत नहीं है तो अतीत कर्म अनागत में कैसे फल दे सकेगा ? अर्थात् नहीं दे सकेगा । अतः इन और अन्य अनेक युक्तियों के आधार पर सिद्ध होता है कि अतीत, अनागत की सत्ता है ।

सर्वास्तिवादियों के नयभेद

इस निकाय के ये चार नयभेद प्रसिद्ध हैं, यथा–भावान्यथिक, लक्षणान्यथिक, अवस्थान्यथिक एवं अन्यथान्यथिक ।

(१) भदन्त धर्मत्रात भावान्यथात्ववादी हैं । इनके मतानुसार तीनों कालों में गमन करनेवाले धर्मों के भाव में अन्यथात्व होता है, द्रव्य में नहीं । जैसे सोने (स्वर्ण) को गलाकर दूसरा आभूषण बनाने पर केवल संस्थान (आकार) में परिवर्तन (अन्यथात्व) होता है, वर्ण में नहीं तथा जैसे दूध का दही के रूप में

परिणाम होने पर केवल दूध के रस, वीर्य एवं विपाक में परिवर्तन होता है, वर्ण में नहीं । इसी तरह धर्म जब अनागत से वर्तमान में आते हैं, तब अनागत भाव का त्याग करते हैं, द्रव्य भाव का नहीं । इसी तरह प्रत्युत्पन्न से अतीत में गमन करते समय भी प्रत्युत्पन्न भाव का त्याग तरते हैं, द्रव्यभाव का नहीं । द्रव्य अनन्य (अभिन्न) ही रहता है ।

(२) भदन्त घोषक लक्षणान्यथात्ववादी हैं । इनके मतानुसार धर्म जब कालों (अध्वों) में प्रवृत्त होते हैं, तब अतीत धर्म यद्यपि अतीत लक्षण से युक्त होता है, फिर भी अनागत और प्रत्युत्पन्न लक्षणों से वह अवियुक्त रहता है । अनागत धर्म अनागत लक्षण से युक्त होता है, किन्तु अतीत और प्रत्युत्पन्न लक्षणों से वियुक्त नहीं होता । इसी तरह वर्तमान भी अतीत, अनागत लक्षणों से अवियुक्त रहता है । जैसे एक पुरुष किसी एक स्त्री में अनुरक्त रहने पर भी अन्य स्त्रियों में अविरक्त रहता है ।

(३) भदन्त वसुमित्र अवस्थान्यथात्ववादी हैं । कालों (तीनों अध्वों) में प्रवृत्त हो रहे धर्म भिन्न–भिन्न अवस्था को प्राप्त कर भिन्न–भिन्न निर्दिष्ट होते हैं । उनके द्रव्यत्व में भेद नहीं होता । अर्थात् अवस्था के अन्यथात्व से अध्वभेद होता है, न कि द्रव्य के अन्यथात्व से । जैसे एक अंक में निक्षिप्त गुलिका (गोली) एक कही जाती है, दश अंक में, सौ अंक में, सहस्र अंक में निक्षिप्त गुलिका दश, शत या सहस्र कहलाती है ।

(४) भदन्त बुद्धदेव अन्यथान्यथात्ववादी हैं । इनके मतानुसार अध्वों में प्रवर्तमान धर्म पूर्व, पर की अपेक्षा से अन्य अन्य निर्दिष्ट होते हैं, द्रव्यान्तर की वज़ह से नहीं । अर्थात् धर्म अपेक्षावश संज्ञान्तर (अन्य नाम) ग्रहण करते हैं, द्रव्यान्तर नहीं होता । जैसे एक ही स्त्री अपने पिता की अपेक्षा से पुत्री है और पुत्रों की अपेक्षा से माता भी है ।

वसुबन्धु के अनुसार प्रथम पक्ष एक प्रकार का परिणामवाद ही है, अतः उसे सांख्यमत में निक्षिप्त करके जैसे सांख्यों का खण्डन किया जाता है, वैसे ही खण्डन करना चाहिए । दूसरे पक्ष में कालमिश्रण (अध्वसङ्कर) होता है, क्योंकि तीनों लक्षणों का योग होता है । एक पुरुष में किसी स्त्री के प्रति राग का समुदाचार होता है और अन्य स्त्रियों में केवल राग की प्राप्ति होती है–इसमें साम्य क्या है ? चतुर्थ पक्ष में भी तीनों अध्व (काल) एक ही अध्व में प्राप्त होते

हैं। एक ही अतीत अध्व में पूर्व, अपर क्षण की व्यवस्था है, यथा—पूर्व क्षण अतीत है, पश्चिम अनागत है, मध्यम क्षण प्रत्युत्पन्न है । इन सब में तृतीय अवस्थान्यथिक पक्ष, जो भदन्त वसुमित्र का है, वही शोभन या उत्तम है, जिसके अनुसार कारित्र की वजह से अध्व की व्यवस्था की जाती है । जो धर्म अपना कारित्र नहीं करता, वह अनागत है । जब वह अपना कारित्र करता है, तब वह प्रत्युत्पन्न है । जब कारित्र से उपरत हो जाता है, तब वह अतीत है ।

धर्मप्रविचय

वैभाषिकों के मतानुसार धर्म वे हैं, जो स्वलक्षण धारण करते हैं । धर्म पुष्पों के समान बिखरे हुए हैं, उनका वर्गीकरण किया जाता है, विभाग किया जाता है । यह प्रक्रिया 'धर्मप्रविचय' कहलाती हैं । धर्मप्रविचय काल में प्रज्ञा यह कार्य सम्पन्न करती है, अतः प्रज्ञा ही 'धर्मप्रविचय' है । यही परम ज्ञान है और इसी से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है । जैसे वैशेषिक आदि में तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की सिद्धि मानी जाती है और पदार्थों के साधर्म्य, वैधर्म्य ज्ञान से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है । तदनन्तर निदिध्यासन से आत्मसाक्षात्कार और मिथ्याज्ञान आदि के नाश से मोक्ष माना जाता है । उसी प्रकार अभिधर्म के द्वारा स्वलक्षण, सामान्यलक्षण का परिज्ञान होता है । धर्मप्रविचय के अलावा क्लेशों के उपशम का अन्य उपाय नहीं है और क्लेशों की वजह से जीव दुःखमय संसार में निरन्तर भ्रमण करते हैं, अतः धर्मप्रविचय अर्थात् लौकिक, लोकोत्तर प्रज्ञा के उत्पाद के लिए भगवान् बुद्ध ने करुणापूर्वक अभिधर्म की देशना की है, जिससे धर्मप्रविचय करके विनेय जन अपने क्लेशों का प्रहाण कर निर्वाण प्राप्त कर सकें । वैभाषिक धर्मों का अनेक प्रकार से विभाजन करते हैं, क्योंकि इसके द्वारा ही धर्मों (पदार्थों) का यथार्थ ज्ञान सम्भव होता है । इसीलिए वे विभज्यवादी भी कहलाते हैं । पदार्थों के विभाजन के उनके अन्य प्रकार निम्नलिखित हैं :

सास्रव—अनास्रव

आर्य मार्ग नामक धर्म भी संस्कृत हैं, किन्तु उन्हें छोड़कर अवशिष्ट सभी संस्कृत सास्रव हैं । वे सास्रव इसलिए हैं, क्योंकि आस्रव उन पर प्रतिष्ठित (स्थित) होकर पुष्टि—लाभ करते हैं । आस्रव 'मलों' को कहते हैं । अनुशय 'आस्रव' हैं । चित्तसन्तति में ये इतने सूक्ष्म रूप से अनुशयन करते हैं कि उनका

ज्ञान ही नहीं हो पाता, इसलिए वे 'अनुशय' कहलाते हैं । छह आयतन रूपी व्रणों से जो भवाग्र से लेकर अवीचि पर्यन्त क्षरित होते हैं, वे 'आस्रव' हैं । मार्गसत्य और तीन असंस्कृत धर्म 'अनास्रव' हैं, क्योंकि उनका आस्रव धर्मों से किसी तरह का सम्पर्क नहीं होता ।

संस्कृत—असंस्कृत

जो हेतु और प्रत्ययों की अपेक्षा से, उनके परस्पर समागम से उत्पन्न होते हैं, वे 'संस्कृत' धर्म कहलाते हैं । कोई भी धर्म ऐसा नहीं है, जो एक हेतु या एक प्रत्यय से उत्पन्न होता हो । इन्हें 'अध्व' भी कहते हैं, क्योंकि संस्कृत धर्म ही अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न काल है । वे 'कथावस्तु' भी हैं, क्योंकि संस्कृत धर्म ही कथा (पद, वाक्य आदि) के विषय होते हैं । संस्कृत धर्मों से निःसरण आवश्यक है, अतः वे 'सनिःसार' हैं तथा सहेतुक होने से वे 'सवस्तुक' भी कहलाते हैं ।

पांचों स्कन्ध संस्कृत होते हैं । रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान पाँच स्कन्ध हैं । जब ये सास्रव होते हैं, तो 'उपादान स्कन्ध' कहलाते हैं । ये पांचों उपादान स्कन्ध 'दुःख', 'समुदय', 'लोक', 'दृष्टिस्थान' और 'भव' भी कहलाते हैं ।

विस्तार

चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं काय ये पाँच इन्द्रियां, रूप, शब्द, गन्ध, रस एवं स्प्रष्टव्य ये पांच विषय तथा अविज्ञप्ति = ये ११ धर्म ही 'रूप—स्कन्ध' है । सुख, दुःख और उपेक्षा ये वेदनाएं 'वेदनास्कन्ध', जिसके द्वारा नील, पीत, दीर्घ, ह्रस्व, स्त्री, पुरुष, शत्रु, मित्र, सुख, दुःख आदि संज्ञाएं गृहीत होती हैं, वह 'संज्ञास्कन्ध' कहलाता है । रूप, शब्द आदि विषयों का ग्रहण जिसके द्वारा होता है, वह 'विज्ञान स्कन्ध' है तथा इन चारों स्कन्धों से अवशिष्ट सभी धर्म 'संस्कार स्कन्ध' में संगृहीत होते हैं । 'स्कन्ध' का अर्थ राशि है । इसमें अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न सभी संगृहीत होते हैं ।

अविज्ञप्ति

जो धर्म काय और वाग् विज्ञप्ति के समान दूसरों को विज्ञापित नहीं करता, फिर भी विद्यमान होता है, वह 'अविज्ञप्ति' है । प्रश्न है कि जिस भिक्षु ने

प्राणातिपात आदि अकुशलों से विरत रहने की प्रतिज्ञा ली है, किन्तु वह गहरी नींद में सो गया है, अथवा वह असंज्ञिसमापत्ति या निरोधसमापत्ति में लीन हो गया है, जहां कोई भी चित्त–चैतसिक नहीं है, ऐसी स्थिति में वह भिक्षु रहेगा या नहीं ? अथवा जिस पुरुष ने प्राणातिपात आदि की आज्ञा दी है और उसके बाद वह विक्षिप्त हो गया है अर्थात् उसका चित्त अन्य विषय में संसक्त हो गया है, प्रश्न है कि उसकी आज्ञानुसार प्राणातिपात हो जाने पर वह उस अवद्य (पाप) से युक्त होगा या नहीं ? इन सब प्रश्नों के समाधान हेतु वैभाषिक एक अविज्ञप्ति नामक धर्म स्वीकार करते हैं । विज्ञापित करने के अनन्तर विज्ञप्ति तो नष्ट हो जाती है, किन्तु उससे उत्पन्न एक अविज्ञप्ति धर्म विद्यमान रहता है, जिसकी वज़ह से भिक्षु भाव नष्ट नहीं होता और आज्ञा देनेवाला व्यक्ति पाप से युक्त होता है । संक्षेप में जिसका चित्त विक्षिप्त हो गया है अथवा जो अचित्तक है, उसका महाभूतहेतुक कुशल–अकुशल प्रवाह 'अविज्ञप्ति' है । वैभाषिक इसे रूपस्कन्ध के अन्तर्गत परिगणित करते हैं । अपराध और दण्ड की सामाजिक और नैतिक व्यवस्था के लिए वैभाषिक इसे मानना जरूरी समझते हैं ।

असंस्कृत

जो धर्म हेतु–प्रत्यय से समुत्पन्न नहीं होते, ऐसे विद्यमान धर्म 'असंस्कृत' कहलाते हैं । आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध ये तीन असंस्कृत हैं । ये संस्कृत धर्मों के समान भावरूप नहीं हैं, फिर भी विद्यमान होते हैं । उत्पन्न न होने के कारण यद्यपि खरविषाण भी असंस्कृत है, किन्तु वह असंस्कृत धर्म नहीं है ।

(क) आकाश–जो धर्म आवरण या प्रतिघात नहीं करता और जो स्वयं भी आवृत नहीं होता, वह 'आकाश' है । यह रूपी धर्मों के गमनागमन में अबाधक (अप्रतिघ) धर्म है । वैभाषिकों के अनुसार यह एक प्रकार का द्रव्य है । यह रूपाभाव मात्र है । आकाश और आकाशधातु में फर्क है । छिद्र 'आकाशधातु' है । द्वार, खिड़की आदि के छिद्र बाह्य आकाशधातु तथा मुख, नाक आदि के छिद्र आध्यात्मिक आकाशधातु हैं । वैभाषिक मतानुसार छिद्र नामक आकाशधातु आलोक और तमस् है अर्थात् वर्ण का, रूप का एक प्रकार है । छिद्र की उपलब्धि आलोक और तमस् से पृथक् नहीं है ।

(ख) प्रतिसंख्यानिरोध–चार आर्य सत्यों का आलम्बन करनेवाली क्लेशों की प्रतिपक्षभूत अनास्रव प्रज्ञा द्वारा जिन क्लेशों का प्रहाण किया जाता है, वह प्रहाण 'प्रतिसंख्यानिरोध' है । सभी क्लेशों का एक ही निरोध नहीं होता, अपि तु जितने क्लेश होते हैं, उतने ही पृथक् पृथक् निरोध होते हैं । अन्यथा जिस व्यक्ति ने दुःख दर्शनहेय क्लेशों का प्रहाण कर लिया है, उसके लिए शेष क्लेशों के प्रहाणार्थ प्रतिपक्षभूत मार्ग की भावना व्यर्थ होगी । वैभाषिकों के अनुसार इस निरोध (सत्य) की 'प्राप्ति' प्रहाण से एक क्षण पूर्व ही हो जाती है ।

(ग) अप्रतिसंख्यानिरोध–यह वह निरोध है जो अनुत्पन्न क्लेशों को उत्पन्न नहीं होने देता । जैसे दर्शनमार्ग द्वारा जिन क्लेशों का प्रहाण कर दिया गया है वे तो कभी उत्पन्न नहीं होंगे, किन्तु भावनाहेय क्लेश, जिनका प्रहाण अभी नहीं हुआ है, वे उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु यह निरोध मार्गक्षण में उन क्लेशों को उत्पन्न नहीं होने देता । प्रत्ययों की रहितता से उत्पाद का अत्यन्त विघ्नभूत धर्म 'अप्रतिसंख्यानिरोध' है ।

रूपी एवं चित्त–चैतसिक धर्मों की प्रवृत्ति की दृष्टि से तीन असंस्कृत धर्मों की व्यवस्था की गई है । रूपी धर्म सप्रतिघ होते हैं । अर्थात् अपने से व्याप्त देश में अन्य रूपी धर्मों को आने नहीं देते हैं । उनके आगमन में प्रतिघात (बाधा) करते हैं, इसलिए सप्रतिघ कहलाते हैं । किन्तु रूपी धर्म इधर–उधर प्रवृत्त होते हैं । अतः रूपी धर्मों की प्रवृत्ति के लिए 'आकाश' नामक असंस्कृत धर्म माना गया है ।

जब कुशल चित्त उत्पन्न होता है, उस समय वह अकुशल चित्त को प्रवृत्त नहीं होने देता । उसका यह प्रवृत्त न होने देना दो दृष्टियों से होता है । एक तो यह कि उस अकुशल का प्रहाण कर देना तथा दूसरा यह कि प्रहाण न करने पर भी उसे उत्पन्न न होने देना । इन दो दृष्टियों से दो निरोध की व्यवस्था की गई है ।

नित्य–अनित्य

अनित्य–प्रथम क्षण में उत्पन्न, द्वितीय क्षण में स्थित एवं तृतीय क्षण में विनष्ट होने वाले धर्म 'अनित्य' कहलाते हैं । वस्तु की अनित्यता प्रथम या द्वितीय क्षण में नहीं होती, अपि तु उसके विनाश क्षण में अर्थात् तृतीय क्षण में

उत्पन्न होती है । अपि च, वह अनित्यता (नाश या ध्वंस) उस वस्तु के उत्पादक हेतुओं से उत्पन्न नहीं होती, अपि तु उसके उत्पादक हेतु उनसे भिन्न होते हैं । जैसे घट के विनाशक हेतु घट के उत्पादक मिट्टी आदि हेतु न होकर दण्ड, मुद्गर आदि होते हैं । इस तरह वैभाषिक मत में विनाश सहेतुक होता है, अहेतुक नहीं, जैसे सौत्रान्तिक आदि अन्य बौद्ध अहेतुक विनाश मानते हैं । जो हेतु–प्रत्ययों से उत्पन्न नहीं होते, वे असंस्कृत धर्म 'नित्य' भी होते हैं ।

स्कन्ध–आयतन–धातु

स्कन्ध का अर्थ 'राशि' (ढेर) होता है, जैसे–तण्डुलराशि, मुद्ग–राशि आदि । स्कन्ध पाँच होते हैं, यथा–रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध एवं विज्ञानस्कन्ध । रूपस्कन्ध में अतीत, अनागत, वर्तमान, हीन, मध्यम, उत्तम, दूरस्थ, निकटस्थ सभी रूपों का ग्रहण होता है । इसी तरह अन्य वेदना आदि स्कन्धों को भी जानना चाहिए ।

आयतन– चित्त–चैतसिक की प्रवृत्ति के द्वार 'आयतन' कहलाते हैं । ये १२ होते हैं । इनमें छह आध्यात्मिक एवं छह बाह्य आयतन होते हैं ।

बाह्य–आयतन	आध्यात्मिक आयतन
(१) रूपायतन	(७) चक्षुरायतन
(२) शब्दायतन	(८) श्रोत्रायतन
(३) गन्धायतन	(९) घ्राणायतन
(४) रसायतन	(१०) जिह्वायतन
(५) स्प्रष्टव्यायतन	(११) कायायतन
(६) धर्मायतन	(१२) मन–आयतन

पाँच बाह्यायतन 'विषय' एवं पाँच आध्यात्मिक आयतन इन्द्रिय हैं । स्कन्ध की दृष्टि से इन विषय–आयतन और इन्द्रिय आयतनों अर्थात् १० आयतनों का संग्रह रूप स्कन्ध में होता है । विज्ञानस्कन्ध मन–आयतन है तथा रूप और विज्ञानस्कन्ध से अवशिष्ट वेदना, संज्ञा और संस्कार तीन स्कन्ध

धर्मायतन हैं । धर्मायतन में ही निर्वाण, अविज्ञप्ति और विप्रयुक्त संस्कारों का भी ग्रहण होता है ।

धातुएं– धातु का अर्थ गोत्र या बीज होता है । धातु १८ होती हैं । इनमें ६ धातु विषय ६ धातुएं इन्द्रियां और छह विज्ञान होते हैं ।

विषय धातु	इन्द्रिय धातु	विज्ञान धातु
रूपधातु	चक्षुर्धातु	चक्षुर्विज्ञानधातु
शब्दधातु	श्रोत्रधातु	श्रोत्रविज्ञानधातु
गन्धधातु	घ्राणधातु	घ्राणविज्ञानधातु
रसधातु	जिह्वाधातु	जिह्वाविज्ञानधातु
स्प्रष्टव्यधातु	कायधातु	कायविज्ञानधातु
धर्मधातु	मनोधातु	मनोविज्ञानधातु

आयतन की दृष्टि से जो धर्मायतन है, वही धातु की दृष्टि से धर्मधातु होता है । छह विज्ञानधातु और मनोधातु विज्ञानस्कन्ध और मन आयतन है तथा शेष १० धातु रूपस्कन्ध के अन्तर्गत गृहीत हैं ।

मनोधातु

समनन्तर निरुद्ध चक्षुरादि छह विज्ञान 'मनोधातु' कहलाते हैं । मनोधातु मनोविज्ञान धातु का अधिपतिप्रत्यय होता है ।

पदार्थ–विभाजन का अन्य प्रकार

स्कन्ध, आयतन एवं धातु के अलावा वैभाषिक समस्त धर्मों का विभाजन एक अन्य प्रकार से भी करते हैं, यथा–चित्त, चित्तसम्प्रयुक्त (चैतसिक), चित्तविप्रयुक्त, रूप एवं निर्वाण । इन पाँच धर्मों में समस्त धर्मों का संग्रह हो जाता है ।

(१) चित्त– चित्त, मनस् एवं विज्ञान एकार्थक हैं । वह कुशल, अकुशल आदि का संचय करता है, अतः 'चित्त' है । वह मनन करता है, अतः 'मनस्' है तथा वह अपने आलम्बन को जानता है, अतः 'विज्ञान' है ।

एक अन्य निर्वचन के अनुसार क्योंकि वह शुभ–अशुभ धातुओं से चित्रित होता है, अतः 'चित्त' है। क्योंकि वह दूसरे चित्तों का आश्रय होता है, अतः 'मन' है। क्योंकि वह इन्द्रिय और आलम्बन पर आश्रित होता है, अतः 'विज्ञान' है।

चित्त का स्कन्धों में परिगणन करने पर वह 'विज्ञान–स्कन्ध' है। आयतनों में वह 'मन आयतन' तथा धातुओं में सात विज्ञान धातु अर्थात् चक्षुर्विज्ञानधातु, श्रोत्रविज्ञानधातु, घ्राणविज्ञानधातु, जिह्वाविज्ञानधातु, कायविज्ञान–धातु, मनोविज्ञानधातु एवं मनोधातु है।

वैभाषिक चित्त का अनेकविध विभाजन करते हैं, किन्तु स्थूल रूप से चित्त १२ प्रकार के हैं। कामधातु में चार प्रकार के चित्त होते हैं, यथा–कुशल, अकुशल, निवृताव्याकृत एवं अनिवृताव्याकृत। रूपधातु और अरूपधातु में तीन तीन प्रकार के चित्त होते हैं, यथा–कुशल, निवृताव्याकृत एवं अनिवृताव्याकृत। इनमें अकुशल चित्त नहीं होते। लोकोत्तरधातु में दो अनास्रव चित्त होते हैं, यथा–शैक्ष एवं अशैक्ष। इस तरह कुल १२ प्रकार के चित्त होते हैं। इनके भी अनेक भेद होते हैं, किन्तु उनका वर्णन विस्तार–भय से छोड़ा जा रहा है।

कुशल चित्त एक प्रकार का होता है। अकुशल चित्त के दो प्रकार हैं– (१) अविद्यामात्र से सम्प्रयुक्त और (२) राग आदि अन्य क्लेशों से सम्प्रयुक्त। अव्याकृत चित्त दो प्रकार के होते हैं–(१) निवृताव्याकृत एवं (२) अनिवृताव्याकृत। इन्हें अव्याकृत इसलिए कहते हैं, क्योंकि इनका कुशल और अकुशल में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। जो (अव्याकृत) सत्कायदृष्टि एवं अन्तग्राहदृष्टि से सम्प्रयुक्त होता है, वह 'निवृताव्याकृत' तथा विपाकज आदि चित्त 'अनिवृताव्याकृत' कहलाते हैं।

(२) चित्तसम्प्रयुक्त (चैतसिक)–वैभाषिक मत के अनुसार चैतसिक चित्त से पृथक् द्रव्य होते हैं। किन्तु चित्त के साथ इनका सहोत्पाद और सह निरोध होता है। चित्त के आश्रय को ही चैतसिक भी आश्रय बनाते हैं और चित्त के आलम्बन को ही अपना आलम्बन बनाते हैं। चित्त वस्तुमात्र या वस्तुसामान्य का ग्रहण करते हैं, जबकि चैतसिक उनके विशेष (अर्थात् नील, पीत, स्त्री, पुरुष, सुख, दुःख आदि) का ग्रहण करते हैं। अभिधर्मकोश के अनुसार चैतसिकों की

संख्या ४६ होती है, यथा–१० महाभूमिक, जो सभी चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं। १० कुशल महाभूमिक होते हैं, जो केवल सभी कुशल चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं। ६ चैतसिक क्लेश महाभूमिक होते हैं, जो सभी क्लिष्ट चित्तों से सम्प्रयुक्त होते हैं। २ अकुशल महाभूमिक होते हैं, जो अकुशल चित्तों में पाये जाते हैं। १० चैतसिक परीत्तक्लेशभूमिक होते हैं, क्योंकि इनकी भूमि परीत्तक्लेश हैं। परीत्त का अर्थ 'अल्प' होता है। अर्थात् ये राग, द्वेष आदि क्लेशों से सम्प्रयुक्त नहीं होते, अपितु अविद्यामात्र से सम्प्रयुक्त होते हैं। इनके अलावा कौकृत्य, मिद्ध आदि कुछ अनियत चैतसिक भी होते हैं।

(३) चित्तविप्रयुक्त–ये वे धर्म हैं, जो ज्ञानजातीय नहीं होते, अतः इनका चित्त–चैतसिकों में ग्रहण नहीं होता। ये रूपस्वभाव भी नहीं होते, अतः इनका रूप स्कन्ध में भी ग्रहण नहीं होता। ये संस्कार–स्कन्ध में संगृहीत होते हैं, अतः 'चित्तविप्रयुक्त संस्कार' भी कहलाते हैं। ये चित्त से विप्रयुक्त होते हैं, फिर भी अरूपी होने के कारण चित्त के समानजातीय होते हैं। अभिधर्मकोश में इनकी संख्या १४ गिनाई गई है, किन्तु अन्त में 'आदि' शब्द का भी प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है ये चौदह से भी अधिक होते हैं। प्राप्ति, अप्राप्ति, सभागता, आसंज्ञिक, असंज्ञिसमापत्ति, निरोध–समापत्ति, जीवितेन्द्रिय, ४ लक्षण (उत्पाद, स्थिति, जरता एवं अनित्यता), नामकाय, पदकाय एवं व्यञ्जनकाय। इनके स्वरूप का विस्तार से ज्ञान अभिधर्मकोश आदि ग्रन्थों से कर लेना चाहिए।

(४) रूप–अचेतन या जड होना 'रूप' का अर्थ है। **'रूप्यते' इति रूपम्**–अर्थात् जो रूपित होता है, वह रूप है। यहाँ आचार्यों ने 'रूप्यते' का अर्थ तीन प्रकार से किया है–(१) जो नष्ट होता है, शीत, ताप आदि से, हाथ के स्पर्श से नष्ट होता है, वह रूप है। जो विकृत होता है अर्थात् जो दूसरे ही क्षण में अपने स्वरूप में नहीं रहता, वह 'रूप' है। जिसमें परिणमन होता है, वह रूप है। क्षण–क्षण में परिवर्तन होना, इन सबका अर्थ है। यद्यपि नष्ट होना, विकृत होना या परिणमित होना चित्त–चैतसिकों में भी होता है, किन्तु वह अत्यन्त सूक्ष्म होने से लक्षित नहीं होता, अतः उन्हें रूप नहीं कहते। जड पदार्थों में नाश, विकार एवं परिणाम स्थूल होने से प्रकट होते हैं, अतः उन्हें ही 'रूप' कहते हैं।

(२) 'रूप्यते' का दूसरा अर्थ 'निरूप्यते' है । अर्थात् जिसका निरूपण किया जा सके । अर्थात् जिसके बारे में अंगुलि से यह निर्देश किया जा सके कि यह 'यहाँ' है, यह 'वहाँ' है—इत्यादि ।

(३) 'रूप्यते' का तीसरा अर्थ 'बाध्यते' है । अर्थात् जो बाधित होता है या बाधित करता है । जिस स्थान में कोई रूप होता है, उस स्थान (देश) में वह अन्य रूप को आने नहीं देता । अर्थात् अन्य रूप को अपने देश में उत्पन्न नहीं होने देता । यही 'बाध्यते' का अर्थ है और इसी अर्थ में रूप सप्रतिघ कहा जाता है ।

रूप का अर्थ 'रूपस्कन्ध' होता है । इसमें चक्षुष् आदि पाँच इन्द्रियाँ, रूप, शब्द आदि पाँच विषय एवं अविज्ञप्ति—इस तरह ११ पदार्थ संगृहीत होते हैं । यहाँ पाँच विषयों में जो रूप कहा गया है, उसका अर्थ नील, पीत, हरित, लोहित, कृष्ण, अवदात आदि वर्ण हैं । शब्द आठ प्रकार का, रस छह प्रकार का और गन्ध चार प्रकार का होता है तथा स्प्रष्टव्य ११ प्रकार का होता है । इन सबका वर्णन अभिधर्मकोश में विस्तार से किया गया है । अधिक जानकारी के लिए इसका अवलोकन वहीं करना चाहिए ।

(५) निर्वाण—वैभाषिकों के अनुसार निर्वाण एक असंस्कृत एवं नित्य द्रव्य है । वस्तु का स्वभाव उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग है । निर्वाण का वस्तुस्वभाव नहीं होने के कारण उसे नित्य कहा गया है । अर्थात् वह अवस्तुस्वभाव एक द्रव्य है । मेरे विचार में वैभाषिक अभाव को भी द्रव्य मानते हैं, जैसे वैशेषिक अभाव को पदार्थ मानते हैं । फिर भी वैभाषिक सभी अभावों को अर्थात् अभावमात्र को द्रव्य नहीं मानते, किन्तु क्लेशाभाव और दुःखाभाव मात्र को द्रव्य मानते हैं । क्योंकि इस अवस्था में शान्त–आकार का अनुभव होता है । यह योगी के निर्विकल्प प्रत्यक्ष का गोचर भी होता है, अतः इसे वे द्रव्य मानते हैं । किन्तु उसकी कोई अर्थक्रिया नहीं होती, वह एक निष्क्रिय द्रव्यमात्र है और यही निर्वाण है ।

चार आर्यसत्यों में निरोध आर्यसत्य ही निर्वाण है । निरोध भी वैभाषिकों के मतानुसार दो प्रकार का होता है—प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध । असंस्कृत का प्रतिपादन करते समय इनके स्वरूप का ऊपर प्रतिपादन किया जा चुका है ।

हेतु–फलवाद

इसे वैभाषिकों का कार्य–कारणभाव भी कह सकते हैं । इनके मत में छह हेतु, चार प्रत्यय और चार फल माने जाते हैं । छह हेतु इस प्रकार हैं—कारणहेतु, सहभूहेतु, सभागहेतु, सम्प्रयुक्तकहेतु, सर्वत्रगहेतु एवं विपाकहेतु । चार प्रत्यय हैं, यथा—हेतु–प्रत्यय, समनन्तर–प्रत्यय, आलम्बन–प्रत्यय एवं अधिपति–प्रत्यय । चार फल हैं, यथा—विपाकफल, अधिपतिफल, निष्यन्दफल एवं पुरुषकारफल ।

'हेतु और प्रत्यय' के अर्थ के बारे में बौद्धों में मतभेद हैं । कुछ लोगों के अनुसार मुख्य कारण हेतु होते हैं और सहायक कारण प्रत्यय । जैसे बीज अङ्कुर का हेतु है और मिट्टी, पानी आदि प्रत्यय । किन्तु ऐसा लगता है कि वैभाषिक इस प्रकार का विभाजन नहीं मानते । अर्थात् उनके मत में हेतु और प्रत्यय दोनों एकार्थक हैं । इसीलिए वे छह हेतुओं का चार प्रत्ययों में अन्तर्भाव भी करते हैं । यथा—छह हेतुओं में कारणहेतु को छोड़कर शेष पाँच हेतु 'हेतु–प्रत्यय' हैं । अर्हत् के चरम च्युति–चित को छोड़कर पूर्व उत्पन्न चित्त–चैतसिक अपने बाद उत्पन्न होनेवाले चित्त–चैतसिकों के 'समनन्तर–प्रत्यय' हैं । सभी संस्कृत, असंस्कृत धर्म चित्त–चैतसिकों के आलम्बन प्रत्यय होते हैं तथा पूर्वोक्त छह हेतुओं में कारणहेतु 'अधिपति–प्रत्यय' कहलाता है ।

कारणहेतु— सभी धर्म अपने से अन्य सभी धर्मों के कारणहेतु होते हैं । कोई भी धर्म अपना कारणहेतु नहीं होता । अर्थात् सभी धर्म उत्पन्न होनेवाले समस्त संस्कृत धर्मों के कारणहेतु होते हैं, क्योंकि इनका उनके उत्पाद में अविघ्नभाव से अवस्थान होता है । आशय यह है कि कार्यों के उत्पाद में विघ्न न करना कारणहेतु का लक्षण है ।

सहभूहेतु—सहभूहेतु वे धर्म हैं, जो परस्पर एक–दूसरे के फल होते हैं । जैसे चारों महाभूत परस्पर एक दूसरे के हेतु और फल होते हैं, यथा—एक तिपाही के तीनों पाँव एक दूसरे को खड़ा रखते हैं । सभी संस्कृत धर्म यथासम्भव सहभूहेतु हैं, बशर्ते कि वे अन्योऽन्यफल के रूप में सम्बद्ध हों ।

सभागहेतु—सदृश धर्म सभागहेतु होते हैं । सदृश धर्म सदृश धर्मों के सभागहेतु होते हैं । यथा—कुशल धर्म कुशल के और क्लिष्ट धर्म क्लिष्ट धर्मों के सभागहेतु होते हैं ।

सम्प्रयुक्तकहेतु—चित्त और चैतसिक सम्प्रयुक्तक हेतु होते हैं । वे ही चित्त–चैतसिक परस्पर सम्प्रयुक्तकहेतु होते हैं, जिनका आश्रय सम या अभिन्न होता है । जैसे चक्षुरिन्द्रिय का एक क्षण एक चक्षुर्विज्ञान और तत्सम्प्रयुक्त वेदना आदि चैतसिकों का आश्रय होता है । इसी तरह मन–इन्द्रिय का एक क्षण, एक मनोविज्ञान एवं तत्सम्प्रयुक्त चैतसिकों का आश्रय होता है । वे हेतु सम्प्रयुक्तक कहलाते हैं, जिनकी सम प्रवृत्ति होती है । चित्त और चैतसिक पाँच समताओं से सम्प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि उनके आश्रय, आलम्बन और आकार एक ही होते हैं । क्योंकि वे एक साथ उत्पन्न होते हैं । क्योंकि इनका काल भी एक ही होता है । इन पाँच समताओं में से यदि एक का भी अभाव हो तो उनकी सम–प्रवृत्ति नहीं हो सकती । ऐसी स्थिति में वह सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते ।

सर्वत्रगहेतु—पूर्वोत्पन्न सर्वत्रग स्वभूमिक क्लिष्ट धर्मों के सर्वत्रगहेतु होते हैं । अर्थात् पूर्वोत्पन्न याने अतीत या प्रत्युत्पन्न स्वभूमिक सर्वत्रग बाद में उत्पन्न होने वाले स्वभूमिक क्लिष्ट धर्मोंके सर्वत्रगहेतु होते हैं । सर्वत्रग हेतु क्लिष्ट धर्मों के सामान्य कारण हैं । ये निकायान्तरीय क्लिष्ट धर्मों के भी हेतु होते हैं । अर्थात् इनके प्रभाव से अन्य निकायों (शरीरों) में सपरिवार क्लेश उत्पन्न होते हैं ।

विपाकहेतु—अकुशल और सास्रव कुशल धर्म विपाकहेतु होते हैं । क्योंकि विपाक देना इनकी प्रकृति है । अव्याकृत धर्म विपाकहेतु नहीं हो सकते, क्योंकि वे दुर्बल होते हैं ।

फलव्यवस्था—विपाकफल अन्तिम विपाकहेतु से उत्पन्न होता है । इसके दो अर्थ किये जाते हैं, यथा—एक विपाक का हेतु और दूसरा विपाक ही हेतु । विपाक शब्द के दोनों अर्थ युक्त हैं । प्रथम कारण हेतु का अधिपतिफल होता है । सभाग और सर्वत्रग हेतु का निःष्यन्द फल होता है तथा सहभूहेतु और सम्प्रयुक्तकहेतु का पुरुषकार फल होता है ।

वैशिष्ट्य

वैभाषिकों को छोड़कर अन्य सभी बौद्ध कार्य और कारण को एककालिक नहीं मानते । किन्तु वैभाषिकों की यह विशेषता है वे कि हेतु और फल को एककालिक भी मानते हैं, यथा—सहजात (सहभू) हेतु ।

सत्यद्वय व्यवस्था

वैभाषिक भी अन्य बौद्धों की भांति दो सत्यों की व्यवस्था करते हैं । सत्य दो हैं, यथा—संवृतिसत्य एवं परमार्थसत्य ।

संवृतिसत्य— अवयवों का भेद अर्थात् उन्हें अलग–अलग कर देने पर जिस विषय में तद्बुद्धि का नाश हो जाता है, उसे संवृति–सत्य कहते हैं, जैसे घट या अम्बु (जल) । जब घट का मुद्गर आदि से विनाश कर दिया जाता है और जब वह कपाल के रूप में परिणत हो जाता है, तब उस (घट) में जो पहले घटबुद्धि हो रही थी, वह नष्ट हो जाती है । इसी तरह अम्बु का बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने पर अम्बुबुद्धि भी समाप्त हो जाती है । इसी प्रकार उपकरणों द्वारा या बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने पर जिन विषयों में तद्विषयक बुद्धि का विनाश हो जाता है, वे धर्म संवृतिसत्य कहलाते हैं । सांवृतिक दृष्टि से घट या अम्बु कहने वाला व्यक्ति सत्य ही बोलता है, मिथ्या नहीं, अतः इन्हें 'संवृतिसत्य' कहते हैं ।

परमार्थ सत्य

संवृतिसत्य से विपरीत सत्य परमार्थसत्य है । अर्थात् उपकरण या बुद्धि द्वारा भेद कर देने पर भी जिन विषयों में तद्विषयक बुद्धि का नाश नहीं होता, वे धर्म 'परमार्थसत्य' हैं, यथा—रूप, वेदना, ज्ञान, निर्वाण आदि । रूप का परमाणु में विभाजन कर देने पर भी रूपबुद्धि नष्ट नहीं होती । इसी तरह अन्य विषयों के बारे में भी जानना चाहिए । ये धर्म परमार्थतः सत्य होते हैं, अतः 'परमार्थसत्य' कहलाते हैं । अथवा जो धर्म आर्य योगी के समाहित लोकोत्तर ज्ञान द्वारा जैसे गृहीत होते हैं, उसी रूप में पृष्ठलब्ध ज्ञान द्वारा भी गृहीत होते हैं, वे 'परमार्थसत्य' हैं । यदि वैसे ही गृहीत नहीं होते तो वे संवृति सत्य हैं ।

दुःखसत्य, समुदयसत्य, निरोधसत्य एवं मार्गसत्य—इस तरह चार सत्य होते हैं । ऊपर जो दो सत्य कहे गये हैं, उनसे इनका कोई विरोध नहीं है । चार

आर्यसत्य दो में या दो सत्य चार में परस्पर संगृहीत किये जा सकते हैं । जैसे निरोध सत्य परमार्थ सत्य है तथा शेष तीन संवृतिसत्य ।

परमाणु विचार

वैभाषिक मत में परमाणु निरवयव माने जाते हैं । संघात होने पर भी उनका परस्पर स्पर्श नहीं होता । परमाणु द्विविध हैं, यथा—द्रव्यपरमाणु एवं संघातपरमाणु । अकेला निरवयव परमाणु द्रव्यपरमाणु कहलाता है । संघात परमाणु में कम से कम आठ परमाणु अवश्य रहते हैं, यथा ४ महाभूतों (पृथ्वी, अप्, तेजस् और वायु) के तथा चार उपादाय रूपों (रूप, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य) के परमाणु एक कलाप (संघात) में निश्चित रूप से रहते हैं । यह व्यवस्था कामधातु के संघात के बारे में है । कामधातु का एक परमाणुकलाप, जिसमें शब्द और इन्द्रिय परमाणु नहीं है, वह निश्चय ही अष्टद्रव्यात्मक होता है ।

सौत्रान्तिक द्रव्यपरमाणु की सत्ता नहीं मानते, वे केवल संघात परमाणु ही मानते हैं । आचार्य वसुबन्धु भी सौत्रान्तिकों के इस मत से सहमत हैं ।

परमाणु सप्रतिघ होता है । अभिप्राय यह है कि जब परमाणु किसी स्थान (देश) में स्थित होता है, तब वह किसी दूसरे सजातीय परमाणु को अपने देश में आने नहीं देता । किन्तु विजातीय परमाणु के आने में बाधा नहीं करता । अर्थात् सजातीय की दृष्टि से परमाणु सप्रतिघ है, विजातीय की दृष्टि से नहीं । आठ विजातीय परमाणु एक स्थान में स्थित रह सकते हैं । इनके बीच में आकाश नहीं होता—ऐसा एक प्रकार के वैभाषिक मानते हैं ।

दूसरे प्रकार के वैभाषिकों का कहना है कि अणु विजातीय परमाणुओं की दृष्टि से भी सप्रतिघ होता है । अन्यथा सहस्रों परमाणुओं का संयोग होने पर भी स्थौल्य नहीं हो सकेगा तथा रूप और स्प्रष्टव्य परमाणु के एक देश में रहने पर उनमें अभेद हो जाएगा । फलतः संघात के अन्तर्गत होने वाले परमाणु परस्पर सन्निहित तो रहते हैं, किन्तु उनका देश एक ही नहीं होता । ऐसा प्रतीत होता है कि इनके मत में उनके मध्य आकाश रहता है ।

उपर्युक्त दोनों मतों में संघातपरमाणुओं में स्पर्श नहीं होता । दूसरे मत से आचार्य वसुबन्धु सहमत हैं । ऐसा उनके भाष्य से स्पष्ट होता है ।

सौत्रान्तिकों के अनुसार संघातपरमाणु एक और अविभक्त होता है । उसमें आठ द्रव्य शक्तिरूप में निहित रहते हैं । अर्थात् उसमें ८ द्रव्यों में परिणत होने का सामर्थ्य होता है । उसमें जिस द्रव्य की शक्ति या बीज प्रबल होता है, वह उसी का परमाणु कहलाता है । जैसे किसी में तेजस् की शक्ति उद्भूत है तथा अन्य शक्ति उद्भूत नहीं है तो वह तेजस् का परमाणु कहलाता है । इस मत से आचार्य वसुबन्धु भी सहमत हैं ।

ज्ञानमीमांसा

वैभाषिक भी दो ही प्रमाण मानते हैं, यथा—प्रत्यक्ष और अनुमान । प्रत्यक्ष इनके मत में तीन ही हैं, यथा—इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष एवं योगिप्रत्यक्ष । ये स्वसंवेदनप्रत्यक्ष नहीं मानते, जैसे कि सौत्रान्तिक आदि न्यायानुसारी बौद्ध मानते हैं । इसका कारण यह है कि ये ज्ञान में ग्राह्याकार नहीं मानते, इसलिए ग्राहकाकार (स्वसंवेदन) भी नहीं मानते । इनके मत में ज्ञान निराकार होता है । स्वसंवेदन नहीं मानने से इनके अनुसार ज्ञान की सत्ता का निश्चय परवर्ती ज्ञान द्वारा हुआ करता है । वह परवर्ती ज्ञान स्मृत्यात्मक या कल्पनात्मक ही होता है । आशय यह है कि इनके अनुसार ज्ञान स्मृत हुआ करता है । वह स्वयंप्रकाश नहीं होता ।

इन्द्रियप्रत्यक्ष—इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान इन्द्रियप्रत्यक्ष है । इनके मत में यद्यपि चक्षुष् ही रूप को देखता है, तथापि ये चक्षुर्विज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं । इन्द्रियप्रत्यक्ष पाँच हैं, यथा—चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान एवं कायविज्ञान ।

मानसप्रत्यक्ष—इन्द्रिय विज्ञानों के अनन्तर उन्हीं के विषय को ग्रहण करता हुआ यह मानसप्रत्यक्ष उत्पन्न होता है । समनन्तर अतीत छह विज्ञान अर्थात् मनोधातु इसका अधिपतिप्रत्यय होता है ।

योगिप्रत्यक्ष—योगी दो प्रकार के होते हैं—लौकिक एवं लोकोत्तर । इनमें से लोकोत्तर योगी का प्रत्यक्ष ही योगिप्रत्यक्ष होता है, इसे लोकोत्तर मार्गज्ञान भी कह सकते हैं । चार आर्यसत्य, निर्वाण एवं नैरात्म्य इसके विषय होते हैं । लौकिक योगी की दिव्यश्रोत्र, दिव्यचक्षुष् आदि अभिज्ञाएं मानसप्रत्यक्ष ही हैं, योगिप्रत्यक्ष नहीं ।

कल्पना—जो ज्ञान वस्तु से उत्पन्न न होकर शब्द को अधिपतिप्रत्यय बनाकर उत्पन्न होता है अथवा जो ज्ञान चक्षुरादि प्रत्यक्ष विज्ञानों के अनन्तर अध्यवसाय करते हुए उत्पन्न होता है, वह 'कल्पना' या 'विकल्प' है।

वैभाषिक मत में शब्द सुनकर जो प्रतिभासाकार उत्पन्न होता है, उस आकार को ये लोग सौत्रान्तिकों की भाँति नित्य या अवस्तु नहीं मानते, अपि तु उसे एक प्रकार की वस्तु ही मानते हैं। इसीलिए इनका कहना है कि भगवान् ने ८० हजार धर्मस्कन्ध कहे हैं।

ज्ञानाकार—इनके मत में ज्ञान में आकार नहीं माना जाता। ये ज्ञान को साकार नहीं, अपि तु निराकार मानते हैं। इसी प्रकार ये वस्तु में भी आकार नहीं मानते। निराकार ज्ञान परमाणु-समूह को देखता है। परमाणु वस्त्वाकार नहीं होते। यदि ज्ञान साकार वस्तु का ग्रहण करेगा तो आकारमात्र का दर्शन करेगा, वस्तु का नहीं।

मार्ग-फल-व्यवस्था—मार्ग पाँच होते हैं, यथा—सम्भारमार्ग, प्रयोगमार्ग, दर्शनमार्ग, भावनामार्ग एवं अशैक्षमार्ग। प्रथम दो मार्ग पृथग्जन अवस्था के मार्ग हैं और ये लौकिक मार्ग कहलाते हैं। शेष तीन मार्ग आर्य पुद्गल के मार्ग हैं और लोकोत्तर हैं। आर्य के मार्ग ही वस्तुतः 'मार्गसत्य' हैं। प्रथम दो मार्ग यद्यपि मार्ग हैं, किन्तु मार्गसत्य नहीं।

सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों में १२ (४ स्मृत्युपस्थान, ४ प्रहाण और ४ ऋद्धिपाद) ये सम्भारमार्ग में संगृहीत होते हैं। ये भी मृदु, मध्य एवं अधिमात्र भेद से त्रिविध हैं। अर्थात् ४ स्मृत्युपस्थान 'मृदु', ४ प्रहाण 'मध्य' तथा ४ ऋद्धिपाद 'अधिमात्र' होते हैं।

५ इन्द्रिय और ५ बल ये १० प्रयोगमार्ग के अन्तर्गत परिगणित हैं। प्रयोगमार्ग की चार अवस्थाएं होती है—ऊष्मगत, मूर्धा, क्षान्ति और अग्रधर्म। इन चारों अवस्थाओं में ये १० बोधिपाक्षिक धर्म होते हैं। ७ बोध्यङ्ग और ८ आर्याष्टांगिक मार्ग ये १५ दर्शनमार्ग और भावनामार्ग के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार सभी ३७ बोधिपक्षीय धर्म ४ मार्गों में संगृहीत हो जाते हैं। ये चारों मार्ग 'शैक्षमार्ग' कहलाते हैं।

वैभाषिकों के मत में प्रतिपक्ष (मार्ग) के काल में ही हेय धर्मों का भी अस्तित्व माना जाता है जो (प्रतिपक्ष) हेय का प्रहाण करते हैं। प्रतिपक्ष के विनाश-क्षण में हेय का भी विनाश होता है।

अशैक्षमार्ग—अशैक्षमार्ग के क्षण में कोई हेय क्लेश अवशिष्ट नहीं रहता। केवल शरीर ही अवशिष्ट रहता है। अशैक्ष मार्ग लोकोत्तर प्रज्ञा है, जिसका आलम्बन केवल निर्वाण होता है।

त्रियानव्यवस्था—श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान एवं बोधिसत्त्वयान—ये तीन यान होते हैं। श्रावकगोत्रीय पुद्गल का लक्ष्य प्रायः पुद्गलनैरात्म्य का साक्षात्कार करनेवाली प्रज्ञा द्वारा अपने क्लेशों का प्रहाण कर चार्य आर्यसत्यों का साक्षात्कार करके श्रावकीय अर्हत्त्व पद प्राप्त करना है। इसके लिए सर्वप्रथम अकृत्रिम निर्याण चित्त का उत्पाद आवश्यक है। सम्भारमार्ग प्राप्त होने के अनन्तर अत्यन्त तीक्ष्णप्रज्ञ पुद्गल तीन जन्मों में अर्हत्त्व प्राप्त कर लेता है। स्रोतापत्ति मार्ग प्राप्त होने के अनन्तर आलसी साधक भी कामधातु में सात से अधिक जन्मग्रहण नहीं करता।

कम से कम १०० कल्पों तक पुण्यसंचय करके पुद्गल प्रत्येकबुद्ध होता है। इसके अतिरिक्त श्रावक और प्रत्येकबुद्ध अर्हत् दोनों की सारी प्रक्रियाएं और अवस्थाएं प्रायः समान होती हैं।

अर्हत् भी तीन प्रकार के होते हैं—श्रावक अर्हत्, प्रत्येकबुद्ध अर्हत् एवं महा अर्हत् अर्थात् बुद्ध। आयु के ह्रास काल में जब मनुष्य की आयु १०० वर्ष होती है, तब बुद्ध का आविर्भाव होता है, इससे पहले प्रत्येकबुद्ध होते हैं।

श्रावकयान में चतुर्विध आर्य पुद्गल होते हैं, यथा—स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्। विभाग करने पर इनकी संख्या २० हो जाती है। ये पुद्गल 'संघ' कहलाते हैं।

बोधिसत्त्व कम से कम तीन असंख्येय कल्पपर्यन्त पुण्यसम्भार का संचय करके जब मनुष्य की आयु १०० वर्ष या उससे कम होती है, तब बुद्धत्व प्राप्त करता है। जिस जन्म में बुद्धत्व प्राप्त करना है, उस अन्तिम भव में पुद्गल सम्भारमार्ग की अवस्था में मातृकुक्षि में प्रवेश करता है और उसी अवस्था में मातृकुक्षि से निर्गत होता है। बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए जब वह बोधिवृक्ष के

नीचे आसन लगाकर बैठता है, तब उसी एक आसन पर समाहित अवस्था में उसे प्रयोगमार्ग से लेकर अशैक्ष मार्ग तक की प्राप्ति होती है। बीच में वह उस आसन से व्युत्थित नहीं होगा और न उसकी समाधि टूटेगी। इसी पूरी प्रक्रिया में अधिक से अधिक ४ याम (प्रहर=१२ घंटे) लगते हैं।

सम्भारमार्ग और प्रयोगमार्ग की प्राप्ति के अनन्तर दर्शनमार्ग की प्राप्ति में १६ क्षण लगते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि १६वां क्षण भावनामार्ग होता है, अतः दर्शनमार्ग १५ क्षणों का ही होता है। इन मार्ग के क्षणों में चारों आर्यसत्यों का साक्षात्कार होता है और उसके बल से दर्शनहेय क्लेशों का प्रहाण होता है। प्रत्येक सत्य के साक्षात्कार में चार क्षण होते हैं, यथा–दुःखसत्य के साक्षात्कार में (१) दुःखे धर्मक्षान्ति, (२) दुःखे धर्मज्ञान, (३) दुःखे अन्वयक्षान्ति और (४) दुःखे अन्वयज्ञान। इसी तरह समुदय सत्य आदि अवशिष्ट तीन सत्यों में ४–४ क्षण होने से कुल १६ क्षण होते हैं। इन १६ क्षणों में ८ क्षान्ति क्षण होते हैं और ८ ज्ञान क्षण। ८ क्षान्तिक्षण आनन्तर्य मार्ग कहलाते हैं और ८ ज्ञानक्षण विमुक्ति मार्ग। क्षान्तिक्षणों (आनन्तर्य मार्ग की अवस्था) में दर्शन हेय क्लेशों का प्रहाण होता है। ८ क्षान्ति क्षणों में भी ४ धर्मक्षान्ति क्षण और ४ अन्वयक्षान्ति क्षण होते हैं। अर्थात् प्रत्येक सत्य में एक धर्मक्षान्ति क्षण और एक अन्यवयक्षान्ति क्षण होता है। धर्मक्षान्ति में कामभूमिक क्लेशों का तथा अन्वयक्षान्ति क्षण में रूप–अरूप भूमि के क्लेशों का प्रहाण होता है। उदाहरणार्थ प्रथम क्षान्तिक्षण में दुःखालम्बन कामक्लेशों का तथा द्वितीय क्षान्तिक्षण में समुदयालम्बन कामक्लेशों का प्रहाण होता है। इसी प्रकार अन्य दो धर्म क्षान्ति क्षणों में निरोध और मार्ग का आलम्बन करनेवाले कामक्लेशों का प्रहाण जानना चाहिए। इसी तरह प्रथम अन्वयक्षान्ति के क्षण में रूप–अरूप भौमिक दुःखालम्बन क्लेशों का, द्वितीय अन्वय क्षान्तिक्षण में समुदयालम्बन रूप–अरूप–भूमिक क्लेशों का प्रहाण होता है। इसी तरह अन्य अन्वय क्षान्ति क्षणों में प्रहेय क्लेशों को जानना चाहिए। ८ विमुक्तिमार्ग किसी भी क्लेश का प्रहाण नहीं करते, अपितु वे केवल अपने पूर्ववर्ती क्षान्ति क्षणों द्वारा प्रहीण क्लेशों के प्रहाण का साक्षात्कार करते हुए स्थित रहते हैं या क्लेश प्रहाण को धारण करते हैं। उपर्युक्त १६ क्षणों में १५ क्षणपर्यन्त मुख्य दर्शनमार्ग हैं तथा १६वाँ क्षण भावना–मार्ग का प्रारम्भ है। दर्शनमार्ग प्राप्त पुद्गल (व्यक्ति) स्रोत–आपन्न कहलाता है।

भावनामार्ग की प्राप्ति में क्षणों की चर्चा नहीं है, फिर भी इसमें १८ क्षण होते हैं। भावनामार्ग के तीन भेद होते हैं, यथा–मृदुभावना मार्ग, मध्य–भावनामार्ग एवं अधिमात्र भावनामार्ग। मृदु–भावनामार्ग के पुनः तीन भेद होते हैं, यथा–मृदु मृदुभावनामार्ग, मध्य मृदुभावनामार्ग तथा अधिमात्र मृदुभावनामार्ग। इसी तरह मध्य और अधिमात्र भावनामार्ग के भी तीन–तीन भेद होते हैं। इस तरह भावनामार्ग कुल ९ प्रकार का होता है। इसके भी आनन्तर्यमार्ग और विमुक्तिमार्ग ये दो भेद होते हैं। अर्थात् ९ आनन्तर्यमार्ग और ९ विमुक्तिमार्ग होते हैं। कामभूमि १, रूपभूमि ४, एवं अरूपभूमि ४ इस तरह कुल ९ भूमियों के भावनाहेय क्लेशों का ९ आनन्तर्यमार्गों द्वारा प्रहाण होता है। इनमें से जब कामराग, प्रतिघ, दृष्टि, शीलव्रतपरामर्श एवं विचिकित्सा नामक अवरभागीय संयोजन दुर्बल कर दिये जाते हैं, तब पुद्गल सकृदागामी तथा जब इनका सम्यक् प्रहाण कर दिया जाता है और ऊपर के रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या नामक ऊर्ध्वभागीय संयोजन दुर्बल हो जाते हैं, तब पुद्गल अनागामी हो जाता है। भावनामार्ग के आनन्तर्य मार्ग द्वारा भावनाहेय क्लेशों का प्रहाण किया जाता है और विमुक्तिमार्ग उस क्लेशनिरोध का साक्षात्कारी या आधार (धारण करनेवाला) होता है। ९वें भावनामार्ग का आनन्तर्य मार्गक्षण 'वज्रोपमसमाधि' कहलाता है। इसके द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म भी भावनाहेय क्लेशों का सर्वथा प्रहाण हो जाता है और पुद्गल अर्हत् हो जाता है। इस अवस्था का पुद्गल अशैक्ष होता है। अर्हत्–मार्ग की प्राप्ति के साथ उसका शैक्ष्यत्व समाप्त हो जाता है। इसके पहले की अवस्थाओं में वह पुद्गल शैक्ष्य होता है। स्रोतापत्ति मार्ग द्वारा पुद्गल पृथग्जन गोत्र का प्रहाण कर 'आर्य' हो जाता है।

वैभाषिक मतानुसार अर्हत्त्व की प्राप्ति के बाद भी उससे च्युति सम्भव है, किन्तु उसकी स्रोतापन्नत्व से च्युति नहीं होती। उसकी दर्शनमार्ग से च्युति नहीं होती। वह स्रोतापन्न बना रहता है। मन्दप्रज्ञ पुद्गल, जो बिना ध्यान प्राप्त किये लोकोत्तर मार्ग द्वारा अर्हत् हो गया है, वह अत्यधिक सुखसाधन उपलब्ध होने पर अर्हत्त्व से च्युत हो सकता है। अर्हत् भी दो प्रकार के होते हैं–सोपधिशेष अर्हत् एवं निरुधिशेष अर्हत्। च्युति से पूर्व सोपधिशेष एवं च्युति के अनन्तर निरुधिशेष अर्हत् होता है।

बुद्ध–वैभाषिक मतानुसार बोधिसत्त्व जब बुद्धत्व प्राप्त कर लेता है, तब भी उसका शरीर सास्रव ही होता है तथा वह दुःखसत्य और समुदयसत्य होता है,

किन्तु उसकी सन्तान में क्लेश सर्वथा नहीं होते । क्लेशावरण के अलावा ज्ञेयावरण का अस्तित्व ये लोग बिलकुल नहीं मानते । बुद्ध के १२ चरित्र होते हैं । उनमें से १. तुषित क्षेत्र से च्युति, २. मातृकुक्षिप्रवेश, ३. लुम्बिनी उद्यान में अवतरण, ४. शिल्प विषय में नैपुण्य एवं कौमार्योचित ललित क्रीडा तथा ५. रानियों के परिवार के साथ राज्यग्रहण—ये पाँच गृहस्थपाक्षिक चरित्र हैं तथा ६. रोगी, वृद्ध आदि चार निमित्तों को देखकर ससंवेग प्रव्रज्या, ७. नेरंजना के तट पर ६ वर्षों तक कठिन तपश्चरण, ८. बोधिवृक्ष के मूल में उपस्थिति, ९. मार का सेना के साथ दमन, १०. वैशाख पूर्णिमा की रात्रि में बुद्धत्वप्राप्ति, ११. धर्मचक्र प्रवर्तन तथा १२. कुशीनगर में महापरिनिर्वाण—ये सात चरित्र प्रव्रज्यापाक्षिक हैं ।

श्रावक—अर्हत्, प्रत्येकबुद्ध अर्हत् एवं बुद्ध इन तीनों को जब अनुपधिशेषनिर्वाण की प्राप्ति हो जाती है, तब इनकी जड सन्तति एवं चेतन–सन्तति दोनों धाराएं सर्वथा समाप्त हो जाती हैं । इन दोनों धाराओं का अभाव ही अनुपधिशेषनिर्वाण है और इसकी भी द्रव्यसत्ता वैभाषिक स्वीकार करते हैं । इनके मत में सभी धर्म द्रव्यसत् और अर्थक्रियाकारी माने जाते हैं । आकाश, निर्वाण आदि सभी धर्म इसी प्रकार के होते हैं । जो सर्वथा नहीं होते, जैसे शशविषाण, वन्ध्यापुत्र आदि वे असत् होते हैं । कुछ ऐसे भी वैभाषिक थे, जो निरुधिशेषनिर्वाण के अनन्तर भी चेतनधारा का अस्तित्व मानते थे । वैभाषिकों के मत में सम्भोगकाय एवं धर्मकाय नहीं होता । केवल निर्माणकाय ही होता है ।

सौत्रान्तिक दर्शन

यथा हि अङ्गसम्भारा होति सद्दो रथो इति ।
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तो ति सम्मुति ॥

(संयुक्तनिकाय, सगाथवग्ग, पृ० १३५)

आत्मा आत्मेति भिक्षवो, बालोऽश्रुतवान् पृथग्जनः प्रज्ञप्ति–मनुपतितो न त्वत्रात्मा वा आत्मीयं वा दुःखमिदमुत्पद्यमानमुत्पद्यते ।

(बिम्बिसारसूत्र)

ये केचिद् भिक्षवः, श्रमणा वा ब्राह्मणा वा आत्मेति समनुपश्यन्तः समनुपश्यन्ति सर्वे त इमानेव पञ्चोपादानस्कन्धानिति ।

(भगवद्वचन, उद्धृत, अभिधर्मकोशभाष्य, पृ० ४६७)

सौत्रान्तिक दर्शन

सौत्रान्तिक निकाय का उद्भव एवं विकास

सामान्यतया विद्वानों की धारणा है कि सौत्रान्तिक निकाय का प्रादुर्भाव बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर द्वितीय शतक में हुआ । पालि–परम्परा के अनुसार वैशाली की द्वितीय संगीति के तत्काल बाद कौशाम्बी में आयोजित महासंगीति में महासांघिक निकाय का गठन किया गया और बौद्ध संघ दो भागों में विभक्त हो गया । थोड़े ही दिनों के अनन्तर स्थविर निकाय से महीशासक और वृजिपुत्रक (वज्जिपुत्तक) निकाय विकसित हुए । उसी शताब्दी में महीशासक निकाय से सर्वास्तिवाद, उससे काश्यपीय; उनसे संक्रान्तिवादी, फिर उससे सूत्रवादी निकाय का जन्म हुआ । आशय यह कि सभी अठारह निकाय उसी शताब्दी में विकसित हो गये ।

विभिन्न मत

(क) बुद्ध के परिनिर्वाण के तृतीय शतक में प्रायः सभी निकाय विद्यमान थे, क्योंकि सम्राट् अशोक के काल में जो तृतीय संगीति आयोजित की गई थी, उस अवसर पर मुद्गलीपुत्र तिष्य ने स्थविरवाद से भिन्न सभी सत्रह निकायों का निराकरण करते हुए स्थविरवाद के समर्थन में 'कथावत्थु' (कथावस्तु) नामक ग्रन्थ की रचना की थी । स्थविर तिष्य ने यद्यपि सभी अन्य सिद्धान्तों की समालोचना की, किन्तु निकाय के नामों का समुल्लेख अपने ग्रन्थ में नहीं किया । यह काम उनके अनन्तर पाँचवी शताब्दी में उत्पन्न प्रसिद्ध अट्ठकथाकार आचार्य बुद्धघोष ने सम्पन्न किया । इससे यह भी सिद्ध होता है कि तिष्य स्थविर के काल में यद्यपि भिक्षु संघों में सिद्धान्तगत मतभेद थे और भिक्षुओं में अपने–अपने सिद्धान्त के प्रति दृढ़ आग्रह भी था, परस्पर विवाद भी प्रचलित थे, जिनका खण्डन स्थविर तिष्य ने किया, किन्तु फिर भी उस समय सिद्धान्तविशेष के साथ निकायविशेष का नाम सम्भवतः विकसित नहीं हुआ था । सिद्धान्त के साथ निकाय के नाम का संयोजन सम्भवतः पश्चात्कालिक है । इस तरह पालिपरम्परा के अनुसार बुद्ध के परिनिर्वाण के द्वितीय शतक में उस निकाय से सभी अन्य निकाय विकसित हो गये थे । इस क्रम में सौत्रान्तिक निकाय स्थविरवादी निकाय का अन्तिम विकास है ।

(ख) इस बात की भी सम्भावना है कि निकायों के विकास के सम्बन्ध में स्थविरों में भी विभिन्न मत रहे हों, किन्तु बुद्धघोष द्वारा अट्ठकथाओं की रचना कर देने के अनन्तर वे सभी समाप्त हो गये । बुद्धघोष का मत अवश्य ही सिंहल देश में विकसित स्थविरवाद केअभयगिरिवासी, महाविहारवासी आदि उपनिकायों में से किसी एक के मत से प्रभावित होगा, क्योंकि वहीं (सिंहल देश) में बैठकर बुद्धघोष ने अट्ठकथाओं की रचना की थी । आचार्य वसुमित्र, भव्य, विनीतदेव आदि ने अष्टादश निकायों के विकास की जो भिन्न–भिन्न प्रक्रिया और तालिकाएं प्रस्तुत की हैं, उनसे उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि होती है ।

(ग) अन्य निकायों के अनुसार, जिनका प्रचार–प्रसार उत्तरभारत में था, निकायभेद का यह क्रम यद्यपि आचरण सम्बन्धी विवादों के समाधानार्थ वैशाली में आयोजित द्वितीय संगीति के बाद ही प्रारम्भ हुआ, किन्तु उस संगीति के काल के विषय में कुछ विवाद है । उनमें से कुछ के अनुसार यह संगीति बुद्ध के बाद ११0वें वर्ष में और कुछ के अनुसार ११६वें वर्ष में सम्पन्न हुई । सौत्रान्तिक निकाय का जन्म किस निकाय से हुआ ? इस विषय में परम्परा में कोई स्पष्ट निर्देश उपलब्ध नहीं होता । आचार्य वसुमित्र के अनुसार जो निकायवादी धर्मोत्तर को अपना आचार्य मानते हैं, वे धर्मोत्तरीय ही कभी 'सूत्रान्तवादी' और कहीं 'संक्रान्तिवादी' कहलाते हैं । उन (वसुमित्र) के अनुसार सर्वास्तिवाद से इस सौत्रान्तिक निकाय का विकास हुआ । आशय यह है कि सौत्रान्तिक निकाय का विकास यद्यपि परम्परया स्थविरवाद से ही हुआ है, किन्तु साक्षात् जन्म सर्वास्तिवाद से हुआ ।

(घ) इस निकाय–विभाजन के विषय में सर्वास्तिवादियों के दो प्रकार के मत उपलब्ध होते हैं । उनमें से एक के मतानुसार मूलसंघ से स्थविरवाद, सर्वास्तिवाद आदि १० निकाय तथा महासांघिकों के साथ आठ निकाय विकसित हुए । द्वितीय मत के अनुसार मूलनिकाय चार हैं, यथा–स्थविरवाद, सर्वास्तिवाद, महासांघिक एवं सम्मितीय । इनसे सभी निकाय विकसित हुए । दोनों ही मतों के अनुसार सौत्रान्तिक निकाय द्वितीय बुद्धाब्द में उत्पन्न हुआ ।

(ङ) महासांघिक मतानुसार मूल निकाय तीन हैं, यथा–स्थविरवाद, सर्वास्तिवाद एवं विभज्यवाद । इनके मतानुसार सौत्रान्तिक निकाय सर्वास्तिवाद से और द्वितीय बुद्धाब्द में उत्पन्न हुआ ।

(च) भदन्त वसुमित्र इन उपर्युक्त मतों से भिन्न एक स्वतन्त्र मत उपस्थापित करते हैं । उनके अनुसार सौत्रान्तिक निकाय सर्वास्तिवाद से चतुर्थ बुद्ध शताब्दी में विकसित हुआ । आचार्य धर्मोत्तर इस निकाय के प्रवर्तक थे । इसीलिए यह निकाय उत्तरापथिक या उत्तरीय भी कहलाता है । कभी–कभी सूत्रवाद और कहीं–कहीं यह निकाय संक्रान्तिवाद भी कहलाता है । अनेक स्थलों पर संक्रान्तिवाद सौत्रान्तिकवाद का पूर्ववर्ती और उसका जनक भी कहा गया है । संक्रान्तिक और सौत्रान्तिकों का पर्याय रूप में उल्लेख भी कहीं कहीं मिलता है । किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें मतभेद भी था । कालान्तर में ये स्वतन्त्र निकाय के रूप में विकसित हुए ।

समीक्षा

(१) निकायों के नामों और काल के विषय में जो मतभेद उपलब्ध होते हैं । उसका कारण देशभेद और आवागमन की सुविधा का अभाव भी प्रतीत होता है । उदाहरणार्थ भारत के पश्चिमोत्तर में अर्थात् कश्मीर, गान्धार आदि प्रदेशों में सौत्रान्तिक निकाय कश्मीर वैभाषिकों से पृथक् होकर विलम्ब से अस्तित्व में आया, अतः वसुमित्र उसका उद्भवकाल चतुर्थ बुद्ध शताब्दी निश्चित करते हैं । उस निकाय ने मध्य देश अर्थात् मथुरा आदि स्थानों में पहले ही अपना स्वरूप प्राप्त कर लिया, अतः वसुमित्र से अन्य आचार्यों का मत भिन्न हो गया । इस प्रकार का मतभेद होने पर भी उनमें मौलिक एकरूपता दृष्टिगोचर होती है । उदाहरण के रूप में काश्यपीय निकाय के विभिन्न नाम विभिन्न प्रदेशों में थे ।

(२) ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सौत्रान्तिक निकाय के बीज बुद्धकाल में ही विद्यमान थे । पालिभाषा में उपनिबद्ध और उपलब्ध प्रामाणिक बुद्धवचनों में तथा भोटभाषा और चीनी भाषा में उपलब्ध एवं सुरक्षित उनके अनुवादों में 'सुत्तन्तिक', 'सुत्तधर' (सूत्रधर) 'सुत्तवादी' (सूत्रवादी) आदि शब्द बहुलतया उपलब्ध होते हैं । ज्ञात है कि उस काल में सिद्धान्तविशेष के लिए 'वाद' शब्द प्रयुक्त होता था । सूत्रों में 'सुत्तधर', 'सुत्तवादी', 'सुत्तन्तिक', 'सुत्तन्तवादी' आदि शब्द उन भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त होता था, जो सूत्रपिटक के विशेषज्ञ होते थे, जिन्हें सूत्रपिटक कण्ठस्थ था और जो उसके व्याख्यान में निपुण थे ।

पाँच सौ अर्हत् भिक्षुओं की जो प्रथम संगीति राजगृह में आयोजित थी, उसके विवरण से यह भी ज्ञात होता है कि स्थविर आनन्द सूत्रान्तवादियों में तथा उपालि विनयधरों में अग्रगण्य थे । उपस्थित या सम्मिलित सभी अर्हत् भिक्षु यह भी जानते थे कि आनन्द बहुश्रुत हैं और न केवल समस्त बुद्धवचनों के ज्ञाता ही हैं, अपितु उनके आन्तरिक महत्त्व को भी जानते हैं, फिर भी विनय का संगायन उपालि द्वारा तथा मातृकाओं का संगायन महाकाश्यप द्वारा सम्पन्न किया गया । आनन्द भी जब तक अर्हत् नहीं हुए तब तक सूत्र या धर्म का संगायन आरम्भ नहीं हुआ । इस घटना से आनन्द का सूत्रवादित्व या सूत्रधरत्व प्रकट होता है । इसी संगीति के विवरणों में सुत्तधर, सुत्तन्तिक, धर्मधर, विनयधर, मातृकाधर, त्रैपिटक भिक्षु आदि सम्बोधन भी भिक्षुओं के उपलब्ध होते हैं । इससे यह भी निष्कर्ष प्रतिफलित होता है कि जो भिक्षु सूत्ररहस्य के मर्मज्ञ थे अथवा सूत्रपिटक को अन्य पिटकों की अपेक्षा अधिक महत्त्वशाली समझते थे, वे सूत्रवादी या सूत्रधर कहलाते थे । इसी तरह जो विनय के मर्मज्ञ थे या उसे महत्त्वशाली समझते थे, वे विनयधर कहलाते थे । यद्यपि उस समय सूत्रधरों और विनयधरों के पृथक् संघटन नहीं थे, किन्तु बौद्धिक क्षेत्र में उनका पृथक् अस्तित्व था ।

इन संकेतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सौत्रान्तिक निकाय के बीज या उसकी पृष्ठभूमि भगवान् बुद्ध के जीवनकाल में ही निर्मित हो गई थी । यद्यपि उस समय सौत्रान्तिक निकाय के नाम से कोई निकाय अलग से संघटित नहीं हुआ था, फिर भी सूत्रविशेषज्ञों की स्वतन्त्र और विशेष स्थिति दृष्टिगोचर होती है । प्रतीत होता है कि ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में पृथक् निकाय या दर्शनप्रस्थान के रूप में इसका प्रादुर्भाव हुआ ।

सौत्रान्तिक विचारों का उद्भव एवं विकास

परिभाषा—जो निकाय सूत्रों का या सूत्रपिटक का सबसे अधिक प्रामाण्य स्वीकार करता है, उसे सौत्रान्तिक कहते हैं । अट्ठसालिनी में सूत्र शब्द के अनेक अर्थ कहे गये हैं, यथा :

अत्थानं सूचनतो सुवुत्ततो सवनतो थ सूदनतो ।
सुत्ताणा सुत्तसभागतो च सुत्तं सुत्तं ति अक्खातं ॥

(अट्ठसालिनी, निदानकथावण्णना, पृ० ३९)

सूत्र को ही 'सूत्रान्त' भी कहते हैं अथवा सूत्र के आधार पर प्रवर्तित सिद्धान्त 'सूत्रान्त' कहलाते हैं । उनसे सम्बद्ध निकाय 'सौत्रान्तिक' है । जिन वचनों के द्वारा भगवान् जगत् का हित सम्पादित करते हैं, वे वचन 'सूत्र' हैं । अथवा जैसे मणि, सुवर्ण आदि के दानों को एक धागे में पिरोकर सुन्दर हार (आभूषण) का निर्माण किया जाता है, उसी तरह नाना अध्याशय एवं रुचि वाले सत्त्वों के लिए उपदिष्ट नाना बुद्धवचनों को निर्वाण के अर्थ में जिनके द्वारा आबन्धन किया जाता है, वे सूत्र हैं । महायानी परम्परा के अनुसार बुद्ध का कोई एक भी वचन ऐसा नहीं है, जिसमें ज्ञेय, मार्ग और फल संगृहीत न हो । इसलिए बुद्धवचन ही 'सूत्र' है । अतः 'सूत्र' यह बुद्धवचनों का सामान्य नाम है । यशोमित्र ने अभिधर्मकोशभाष्य की टीका में सौत्रान्तिक शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है: '**कः सौत्रान्तिकार्थः ? ये सूत्रप्रामाणिकाः, न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिकाः**' (अभिधर्मकोशभाष्यटीका, स्फुटार्था, पृ० १५) अर्थात् सौत्रान्तिक शब्द का क्या अर्थ है ? जो सूत्र को, न कि शास्त्र को प्रमाण मानते हैं, वे सौत्रान्तिक हैं । इन्हें ही दार्ष्टान्तिक भी कहते हैं, क्योंकि वे दृष्टान्त के माध्यम से बुद्ध वचनों का व्याख्यान करने में अत्यन्त निपुण होते हैं । इस निर्वचन के द्वारा त्रिपिटक के सम्बन्ध में सौत्रान्तिकों की दृष्टि का संकेत भी कर दिया गया है ।

त्रिपिटक—इस विषय में किसी का कोई विवाद नहीं है कि महाकाश्यप आदि महास्थविरों ने बुद्धवचनों का संकलन करके उन्हें त्रिपिटक का स्वरूप प्रदान किया । काल के क्रम में आगे चलकर बुद्धवचनों के सम्बन्ध में परस्पर विरुद्ध विविध मत-मतान्तर और विविध साम्प्रदायिक दृष्टियाँ प्रस्फुटित हुई । इस विषय में सौत्रान्तिकों की विशेष दृष्टि है । इनके मतानुसार स्थविरवादियों का अभिधर्मपिटक, जिसमें धम्मसंगणि, विभंग आदि ७ ग्रन्थ संगृहीत हैं तथा सर्वास्तिवादियों का अभिधर्मपिटक, जिसमें ज्ञानप्रस्थान आदि ७ ग्रन्थ संगृहीत हैं, वह (अभिधर्मपिटक) बुद्धवचन नहीं माना जा सकता । इनका कहना है कि इन ग्रन्थों में असंस्कृत धर्मों की द्रव्यसत्ता आदि अनेक युक्तिहीन सिद्धान्त प्रतिपादित हैं । भगवान् बुद्ध कभी भी युक्तिहीन बातें नहीं बोलते, अतः इन्हें बुद्धवचन के रूप में स्वीकार करना असम्भव है । वस्तुतः ये (सातों) ग्रन्थ परवर्ती हैं और आभिधार्मिकों की कृति हैं । अतः ये शास्त्र हैं । उन्होंने इनके रचयिताओं के नामों का भी उल्लेख किया है, यथा—ज्ञानप्रस्थान के कर्ता आर्यकात्यायनीपुत्र, प्रकरणपाद के वसुमित्र, विज्ञानकाय के देवशर्मा, धर्मस्कन्ध

के शारीपुत्र, प्रज्ञप्तिशास्त्र के मौद्गल्यायन, धातुकाय के पूर्ण तथा संगीतिपर्याय के महाकौष्ठिल्ल कर्ता हैं। ये ग्रन्थ किसी प्रामाणिक पुरुष द्वारा रचित नहीं हैं और न प्रथम संगीति में इनका संगायन ही हुआ है, अतः पृथग्जनों द्वारा विरचित होने से हम सौत्रान्तिक इन्हें बुद्धवचन नहीं मानते। इनका कहना है कि बुद्ध द्वारा उपदिष्ट सूत्र ही हमारे मत में प्रमाण हैं, न कि कोई अन्य शास्त्र।

सौत्रान्तिकों की युक्तियों में कुछ–कुछ सत्यांश भी प्रतीत होता है। यह आश्चर्य की ही बात है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के दो सौ वर्षों के अनन्तर (तृतीय संगीति के अवसर पर) मौद्गलीपुत्र तिष्य के द्वारा विरचित कथावत्थु नामक ग्रन्थ स्थविरवादियों के द्वारा बुद्धवचन के रूप में मान्य है। इसी तरह स्थविर धर्मत्रात द्वारा विरचित उदानवर्ग सर्वास्तिवादियों के द्वारा बुद्धवचन के रूप में माना जाता है। अपने मत की पुष्टि के लिए स्थविरवादियों द्वारा यह कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध अनागत के ज्ञाता और त्रिकालदर्शी थे। उन्होंने यह भविष्यवाणी कर दी थी कि मेरे बाद भविष्य में मुद्गलीपुत्र तिष्य उत्पन्न होगा और वह मेरे द्वारा उपदिष्ट मातृकाओं का विस्तार करते हुए कथावत्थु नामक प्रकरण का निर्माण करेगा। अतः बुद्ध की भविष्यवाणी के अनुसार निर्मित होने से यह प्रकरण बुद्धवचन है। सौत्रान्तिकों का कहना है कि स्थविरवादियों की यह युक्ति मान ली जाए तो नागार्जुन के ग्रन्थों को भी बुद्धवचन मानना होगा, क्योंकि उनके बारे में भी लङ्कावतार सूत्र एवं मंजुश्रीमूलकल्प आदि में बुद्ध की भविष्यवाणी उपलब्ध है।

इस विषय में स्थविरवादी, सर्वास्तिवादी आदि सौत्रान्तिकों पर आक्षेप करते हैं कि यदि धम्मसंगणि आदि और ज्ञानप्रस्थान आदि ग्रन्थ अभिधर्मपिटक के रूप में बुद्धवचन नहीं हैं तथा प्रथम संगीति आदि के अवसर पर उनका संगायन भी नहीं हुआ है तो बुद्धवचनों का त्रिपिटक में संग्रह और त्रिपिटकव्यवस्था सर्वथा निरर्थक हो जाएगी। इतना ही नहीं, सूत्रविरोध भी होगा, क्योंकि सूत्रों में बहुत स्थानों पर 'अभिधर्मपिटक', 'त्रैपिटक भिक्षु' आदि शब्द (सूत्रवचन) उपलब्ध होते हैं। ये सूत्रवचन (शब्द) न तो अप्रामाणिक हैं और न निरर्थक ही। इसलिए आप (सौत्रान्तिकों) का मत समीचीन नहीं है। अपि च, आपके मत के अनुसार तो अभिधर्मपिटक का अभाव ही हो जाएगा, क्योंकि उन ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, जिन्हें अभिधर्मपिटक कहा जा सके।

दार्ष्टान्तिक इन आक्षेपों का युक्तियुक्त समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि आपका यह कहना सही है कि उन ग्रन्थों के अलावा अभिधर्म के अन्य ग्रन्थ नहीं हैं, फिर भी अभिधर्म के अभाव का दोष नहीं है तथा अभिधर्म के अभाव का दोष भी हम पर लागू नहीं होता, क्योंकि धर्मसंगणि, ज्ञानप्रस्थान आदि ग्रन्थों को अभिधर्मपिटक के रूप में मानकर सूत्रों में 'अभिधर्मपिटक' और 'त्रैपिटक भिक्षु' आदि शब्दों का व्यवहार नहीं किया गया है, और न तो भगवान् ने सूत्रपिटक और विनयपिटक से अतिरिक्त अभिधर्मपिटक की देशना ही की है, फिर भी उन्होंने अभिधर्म की देशना तो की ही है। सूत्रों में ही अनेक जगहों पर (अनेक सूत्रों में) उन्होंने धर्मों के स्वलक्षण और सामान्यलक्षण आदि की विवेचना की है, सूत्रों के ऐसे स्थल या वचन ही वस्तुतः अभिधर्म हैं। जिन सूत्रों में इस प्रकार का धर्मप्रविचय या धर्मों का विश्लेषण उपलब्ध होता है, ऐसे सूत्रविशेष ही हमारे मतानुसार अभिधर्म हैं, जैसे अर्थविनिश्चय आदि सूत्र, न कि धम्मसंगणि, ज्ञानप्रस्थान आदि ग्रन्थ। 'मातृका' शब्द भी अभिधर्म के पर्याय के रूप में सूत्रों में मिलता है। अभिधर्मधर के लिए मातृकाधर शब्द का प्रयोग स्वयं भगवान् ने ही किया है। प्रथम पंचशतिका संगीति में भी अभिधर्म का संगायन महाकाश्यप आदि महास्थविरों ने मातृका के रूप में ही किया है। इसलिए 'अभिधर्मपिटक' 'त्रैपिटक भिक्षु' आदि शब्दों के आधार पर कोई दोष या सूत्रविरोध का आक्षेप हम पर नहीं दिया जा सकता। स्थविरवादी, सर्वास्तिवादी आदि द्वारा भी माना जाता है कि अभिधर्म की देशना भगवान् ने प्रकीर्ण रूप में की है, आर्य कात्यायनीपुत्र आदि ने बाद में उनका संकलन करके ग्रन्थरूप प्रदान किया। इसी से यह भी स्पष्ट होता है कि प्रथम संगीति के अवसर पर अभिधर्म का अस्तित्व तो था, किन्तु अभिधर्म ग्रन्थों का जैसा स्वरूप आज उपलब्ध है, वैसा उस समय नहीं था।

प्रथम संगीति के प्राचीन वर्णनों के प्रसंग में अभिधर्मपिटक के संगायन का स्पष्ट उल्लेख समुपलब्ध नहीं होता। सर्वास्तिवादियों के क्षुद्रकागम में यद्यपि अभिधर्म के संगायन का उल्लेख मिलता है, तथापि वहां महाकाश्यप द्वारा अभिधर्म मातृकाओं के संगायन का ही उल्लेख है। हमारी इस सम्भावना का अपलाप करना शक्य नहीं है कि उस समय वर्तमान अभिधर्म ग्रन्थों का अस्तित्व ही नहीं था। सौत्रान्तिकों का यह कथन वस्तुस्थिति को ही प्रकट करता है कि सात ग्रन्थों वाला अभिधर्म शास्त्र है, न कि सूत्र तथा हम सूत्र को

प्रमाण मानने वाले हैं, न कि शास्त्र को प्रमाण मानने वाले । उनका ऐसा कहना साम्प्रदायिक प्रवृत्ति का द्योतक भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जब वैभाषिक ज्ञानप्रस्थान आदि ग्रन्थों को बुद्धवचन के रूप में प्रतिपादित करते हैं, तब स्थविर धर्मत्रात द्वारा संगृहीत उदानवर्ग को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं । अर्थात् बुद्ध के द्वारा प्रकीर्ण (बिखरे हुए) रूप में उपदिष्ट वचनों का धर्मत्रात द्वारा किया हुआ 'उदान' नामक संग्रह जैसे बुद्धवचन माना जाता है. वैसे ही ज्ञानप्रस्थान आदि भी संगृहीत ग्रन्थ हैं. अतः उन्हें भी बुद्धवचन मानना चाहिए । किन्तु सौत्रान्तिक उदानवर्ग को भी शास्त्र ही मानते हैं, न कि सूत्र ।

परवर्ती सौत्रान्तिक आचार्य, जिन पर महायान का अधिक प्रभाव था, वे भी यही मानते हैं कि सर्वास्तिवादी आदि निकायों के अभिधर्मग्रन्थ बुद्धवचन नहीं है । महायानी आचार्यों का मत भी प्रायः इसी प्रकार का है । सात अभिधर्म ग्रन्थों एवं धर्मत्रातकृत उदानवर्ग का आंशिक बुद्धवचनत्व ही उन्हें मान्य है । इन ग्रन्थों में जो सूत्रवचन उद्धृत हैं, उन सूत्रवचनों को ही वे बुद्धवचन के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं । आचार्य वसुबन्धु का मत भी उनके अभिधर्मकोश और उसके स्वभाष्य आदि में इसी प्रकार परिलक्षित होता है ।

बुद्धवचनों की नेय–नीतार्थता

बुद्ध के बाद उनके अनुयायियों में उनके वचनों की व्याख्या की दो पद्धतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं । एक पद्धति में त्रिपिटक के विशिष्ट वचनों एवं सन्दर्भों की ही व्याख्या की जाती है, न कि समस्त बुद्धवचनों का सामंजस्य या समन्वय सिद्ध किया जाता है । दूसरी पद्धति में न केवल क्लिष्ट वचन और सन्दर्भों का ही अभिप्राय स्पष्ट किया जाता है, अपितु समस्त बुद्धवचनों का समन्वय भी सिद्ध किया जाता है । इसी दूसरी पद्धति द्वारा बुद्धवचनों की नेयार्थता एवं नीतार्थता का विभाजन एवं अभिप्राय और अभिसन्धि का आश्रय ग्रहण करके इष्ट की सिद्धि की गई है ।

इस दूसरी पद्धति के पुरस्कर्ता एवं प्रथम प्रमुख आचार्य महायानपथ के प्रदर्शक नागार्जुन थे । स्थविरवाद, वैभाषिक आदि निकाय–परम्परा में भी सूत्रव्याख्यान के अवसर पर नेयार्थ–नीतार्थ की चर्चा दृष्टिगोचर होती है । सौत्रान्तिक परम्परा में भी यह पद्धति उपलब्ध होती है । सौत्रान्तिकों के भी अनेक भेद–प्रभेद हैं । यह सम्भव है कि प्राचीन सौत्रान्तिकों में यह मान्यता

प्रचलित न हो, किन्तु आचार्य वसुमित्र (सौत्रान्तिक) ने अपने समयभेदो–परचनचक्र नाम के ग्रन्थ में लिखा है कि क्योंकि सभी सूत्रवचन नीतार्थ विषयक नहीं हैं, अतः सभी सूत्र नीतार्थ ही न होकर वे नेयार्थ भी होते हैं ।

आचार्य वसुमित्र एवं भदन्त सुभूतिघोष आदि के ग्रन्थों में यद्यपि यह लिखा हुआ है कि सौत्रान्तिकों को भी बुद्धवचनों की नेयार्थता और नीतार्थता अभीष्ट है, किन्तु कौन सूत्र नीतार्थ हैं और कौन नेयार्थ हैं–इसका स्पष्ट निर्देश नहीं है । परवर्ती आचार्य धर्मकीर्ति एवं शुभगुप्त के ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि ये प्रथम धर्मचक्र से सम्बद्ध सूत्रों को नीतार्थ तथा प्रज्ञापारमिता सूत्रों को नेयार्थ मानते हैं, क्योंकि ये प्रज्ञापारमिता सूत्रों को बुद्धवचन मानकर उनका अभिप्राय प्रकट करते हैं । अतः वे सूत्र आभिप्रायिक अर्थात् नेयार्थ हैं ।

आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में प्रमाणसमुच्चय के दुरूह स्थलों की टीका करते हुए बाह्यार्थवादी दृष्टि से प्रज्ञापारमितासूत्रों का अभिप्राय प्रकट किया है । उन्होंने कहा है कि प्रज्ञापारमितासूत्रों में शून्यता, निःस्वभावता आदि शब्दों का जो कई बार प्रयोग हुआ है, उनका अर्थ शब्दशः नहीं ग्रहण करना चाहिए । भगवान् ने उनका प्रयोग साभिप्राय किया है । अतः उनके अभिप्राय का अन्वेषण करना चाहिए । फलतः वे सूत्र आभिप्रायिक अर्थात् नेयार्थ हैं, न कि नीतार्थ ।

आचार्य वसुमित्र के अनुसार महायानसूत्रों के सर्वधर्म–निःस्वभावता, शून्यता आदि पदों का अभिप्राय स्वतन्त्र सृष्टिकर्ता (ईश्वर), कर्मकर्ता और फलभोक्ता (आत्मा) का निषेध है तथा सभी धर्मों की क्षणभंगता का प्रतिपादन है और अतीत, अनागत धर्मों की द्रव्यसत्ता का निषेध है । निःस्वभावता, शून्यता आदि निषेधवाचक पद खपुष्प के समान अत्यन्ताभाव का प्रकाशन नहीं करते, अपितु अल्पता प्रकट करते हैं । जैसे धन की अल्पता को धन का अभाव कहा जाता है । अथवा ये निषेधवचन कुत्सित अर्थ को प्रकट करते हैं, जैसे कुपुत्र को अपुत्र कहते हैं । क्योंकि सभी संस्कृत धर्मों की सत्ता अत्यल्प क्षणमात्र होती है और असंस्कृत धर्मों की तो सत्ता होती ही नहीं, अतः सभी संस्कृत, असंस्कृत धर्मों को भगवान् ने शून्य कहा है । क्योंकि निर्वाण से अतिरिक्त सभी धर्म रिक्त, तुच्छ एवं निःसार हैं, अतः कुत्सित एवं निरुपादेय होने से भी वे निःस्वभाव या शून्य कहे गये हैं ।

आचार्य धर्मकीर्ति ने अन्य प्रकार से उनका अभिप्राय प्रकट किया है। उनका कहना है कि धर्मों में जो सामान्य–विशेषभाव, कार्यकारणभाव, लक्ष्यलक्षणभाव, आश्रयाश्रयिभाव आदि दिखलाई पड़ते हैं, उन सारे सम्बन्धों की द्रव्यसत्ता या परमार्थसत्ता बिलकुल नहीं है–इसी बात को ध्यान में रखकर भगवान् ने प्रज्ञापारमितासूत्रों में सभी धर्मों को निःस्वभाव या शून्य कहा है, जैसे प्रमाणवार्तिक में उन्होंने कहा है :

व्यापारोपाधिकं सर्वं स्कन्धादीनां विशेषतः ।
लक्षणं स च तत्त्वं न तेनाप्येते विलक्षणाः ॥

(प्रमाणवार्तिक २ : २१६)

धर्मकीर्ति के बाद जो सौत्रान्तिक आचार्य हुए, उन सभी ने इन्हीं युक्तियों का अनुसरण किया है। मध्यमकालंकार और उसकी पंजिका में सौत्रान्तिकों के बारे में यही लिखा है कि वे बुद्धवचनों की नेयार्थता और नीतार्थता का विभाजन करते हैं। ऐसा कहकर वहां सौत्रान्तिक आचार्य शुभगुप्त के मतों का खण्डन भी किया गया है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि नागार्जुन से पूर्ववर्ती सौत्रान्तिक सभी बुद्धवचनों को नीतार्थ ही मानते थे। भद्रचर्या–प्रणिधानसूत्र, षडायतन आदि सूत्र ही उनके आधारभूत प्रमुख सूत्र थे। महायानसूत्रों को वे बुद्धवचन मानने के पक्ष में नहीं थे। परवर्ती सौत्रान्तिक अन्य निकायवादियों के समान बुद्धवचनों की नेयनीतार्थता पर विचार करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रक्रिया में उनकी प्रमुख युक्तियां क्या थीं, इसका उल्लेख उपलब्ध नहीं है। आचार्य शुभगुप्त, धर्मकीर्ति आदि की युक्तियां ही प्रधान प्रतीत होती हैं। इतना होने पर भी ऐसा लगता है कि नेयार्थ–नीतार्थ विषयक चर्चा का सौत्रान्तिक मत में उतना महत्त्व नहीं है, जितना योगाचार और माध्यमिक मतों में है।

निष्कर्ष–सौत्रान्तिक निकाय का अस्तित्व तो तृतीय संगीति के अवसर पर सम्राट् अशोक के काल में विद्यमान था, किन्तु दार्शनिक प्रस्थान के रूप में उसका विकास सम्भवतः ईसापूर्व प्रथम शतक में सम्पन्न हुआ।

निकाय के साथ सौत्रान्तिक शब्द का प्रयोग तो सम्भवतः तब प्रारम्भ हुआ, जब अन्य निकायों और उनकी मान्यताओं के बीच विभाजन–रेखा

अधिक सुस्पष्ट हुई। सात अभिधर्म ग्रन्थों का संग्रह परवर्ती है, इसलिए बुद्धवचनों के रूप में सौत्रान्तिकों ने उन्हें मान्यता प्रदान नहीं की। सूत्रपिटक और विनयपिटक को प्रामाणिक बुद्धवचन मान कर सौत्रान्तिकों ने अपने सिद्धान्तों की अन्य निकायों से अलग स्थापना की। तभी से सौत्रान्तिक निकाय की परम्परा प्रारब्ध हुई। ऐसा लगता है कि अन्य लोगों ने जब बुद्धवचनों का अभिधर्मपिटक के रूप में संग्रह किया और उन्हें बुद्धवचन के रूप में माना, तब प्रारम्भ में सौत्रान्तिकों ने विरोध किया होगा, किन्तु अन्य निकाय वालों ने उनका विरोध मानने से इन्कार कर दिया होगा, तब विवश होकर उन्होंने पृथक् निकाय की स्थापना की। यह घटना द्वितीय बुद्धाब्द में घटनी चाहिए। महाराज अशोक के काल में सभी निकायों के त्रिपिटक अस्तित्व में आ गये थे। इसीलिए अशोक के समय कथावत्थु नामक ग्रन्थ में अन्य मतों की समालोचना सम्भव हो सकी। इसलिए यह निश्चित होता है कि अभिधर्म का बुद्धवचन सम्बन्धी विवाद एवं सौत्रान्तिक निकाय का गठन उससे पूर्ववर्ती है। यही विवाद अन्ततोगत्वा अन्य निकायों से सौत्रान्तिक निकाय के पृथक् होने के रूप में परिणत हुआ। यही सौत्रान्तिक निकाय के उद्गम का हेतु और काल है।

निकाय के लिए सौत्रान्तिक नाम अत्यन्त सार्थक है। श्रवण मात्र से उनके विचारों और सिद्धान्तों का स्थूल अवबोध हो जाता है। समय–समय पर उनके लिए अन्य नाम भी प्रयुक्त हुए, जैसे कभी हेतुवादी, कभी उत्तरापथिक आदि। दार्ष्टान्तिक भी एक अत्यधिक प्रचलित उनका नाम है। यशोमित्र ने सौत्रान्तिकों के लिए 'दार्ष्टान्तिक–विशेष' शब्द का प्रयोग किया है। इसका यह मतलब नहीं है कि दार्ष्टान्तिक नाम का सौत्रान्तिकों में कोई सम्प्रदाय था, अपितु ऐसा कहने के पीछे यशोमित्र का अभिप्राय यह था कि यह मत कुछ विशिष्ट सौत्रान्तिक आचार्यों का है। क्योंकि ये लोग बुद्धवचनों का अभिप्राय जनता के बीच दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट करते थे, अतः इस विशेषता के कारण उनका नाम 'दार्ष्टान्तिक' पड़ा। यह उचित भी था, क्योंकि भगवान् बुद्ध ने भी अधिकतर दृष्टान्तों के द्वारा ही अपना अभिमत प्रकाशित किया था। इस विधि से बड़ी आसानी से लोग तत्त्व का अवबोध कर लेते हैं। भगवान् बुद्ध की इसी शैली का सौत्रान्तिकों ने अनुगमन किया। यही शैली आगे चलकर बौद्ध न्याय शास्त्र के विकास की आधार बनी। बौद्ध न्यायशास्त्र के विकास में सौत्रान्तिकों

का योगदान विद्वानों से छिपा नहीं है । दार्शनिक प्रस्थान के रूप में उसका विकास चतुर्थ या पंचम बुद्धाब्द में सम्पन्न हुआ ।

सारांश–भगवान् बुद्ध का आविर्भाव ऐसी परिस्थिति में हुआ था, जब मानवीय मूल्य गिर गये थे और सांस्कृतिक दृष्टि से समाज संकटापन्न अवस्था में था । बुद्धत्व–प्राप्ति के बाद ४५ वर्षों तक उन्होंने गांव–गांव और नगर–नगर में चारिका करके अनाथ, अनाश्वस्त और दुःखी जनों को अपने उपदेश रूपी अमृत से तृप्त एवं आश्वस्त किया । ८० वर्ष की आयु में जगत् के एक मात्र शरण और जगत् के एकमात्र हितैषी बुद्ध ने परिनिर्वाण प्राप्त कर लिया । उनके अनुयायियों ने अपनी–अपनी सामर्थ्य के अनुसार उनके उपदेशों का संग्रह किया, संरक्षण किया और देश–विदेश में उनके विचारों का प्रचार–प्रसार किया । मानव–कल्याण का जो लक्ष्य बुद्ध के सम्मुख था, उसकी पूर्ति वे शताब्दियों तक करते रहे और आज भी अपनी शक्तिभर सम्पन्न कर रहे हैं । उनके अनुयायियों में बड़े–बड़े विद्वान्, साधक और अर्हत् हुए, जिन्हें सूत्रधर, विनयधर, धर्मधर और मातृकाधर कहते थे । कालक्रम में उनके अनुयायियों की वह परम्परा अनेक निकायों में विभक्त हो गई । उसी क्रम में सूत्रधरों की परम्परा पहले सौत्रान्तिक निकाय के रूप में और आगे चलकर सौत्रान्तिक दर्शनप्रस्थान के रूप में विकसित हुई ।

सौत्रान्तिक आचार्य और उनकी कृतियां

सभी बौद्ध दार्शनिक प्रस्थान बुद्धवचनों को ही अपने–अपने प्रस्थान के आरम्भ का मूल मानते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि विश्व के चिन्तन क्षेत्र में बुद्ध के विचारों का अपूर्व और मौलिक योगदान है । बुद्ध की परम्परा के पोषक, उन–उन दर्शन–सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों और परवर्ती उनके अनुयायियों का महत्त्व भी विद्वानों से छिपा नहीं है । यहाँ हम सौत्रान्तिक दर्शन के प्रवर्तक और प्रमुख आचार्यों का परिचय प्रस्तुत करना चाहते हैं ।

हमने पहले भी कहा है कि बुद्ध ने अपने अनुयायियों को जो विचारों की स्वतन्त्रता प्रदान की, स्वानुभव की प्रामाणिकता पर बल दिया और किसी भी शास्ता, शास्त्रों के वचनों को विना परीक्षा किये ग्रहण न करने का जो उपदेश दिया, उसकी वजह से उनका शासन उनके निर्वाण के कुछ ही वर्षों के भीतर अनेक धाराओं में विकसित हो गया । अनेक प्रकार की हीनयानी और महायानी संगीतियों का आयोजन इसका प्रमाण है । दो सौ वर्षों के भीतर १८ निकाय विकसित हो गये । इस क्रम में यद्यपि सूत्रवादियों का मत प्रभावशाली और व्यापक रहा है, फिर भी जब उन्होंने देखा कि दूसरे नैकायिकों के मत बुद्ध के साक्षात् उपदेशों से दूर होते जा रहे हैं तो उन्होंने शास्त्रप्रामाण्य का निराकरण करते हुए बुद्ध के द्वारा साक्षात् उपदिष्ट सूत्रों के आधार पर स्वतन्त्र निकाय के रूप में अपने मत की स्थापना की । इस प्रकार उन्होंने सूत्रों में अनेक प्रकार के प्रक्षेपों से बुद्धवचनों की रक्षा की और लोगों का ध्यान मूल बुद्धवचनों की ओर आकृष्ट किया । प्रथम और तृतीय संगीतियों के मध्यवर्ती काल में रचित धम्मसङ्गणि, कथावत्थु, ज्ञानप्रस्थान आदि ग्रन्थों की बुद्धवचन के रूप में प्रामाणिकता का उन्होंने जम कर खण्डन किया । उन्होंने कहा कि ये ग्रन्थ आचार्यों द्वारा रचित शास्त्र हैं, न कि बुद्धवचन । जबकि सर्वास्तिवादी और स्थविरवादी उन्हें बुद्धवचन मानने के पक्ष में थे ।

आचार्य परम्परा–सामान्य रूप से आचार्य कुमारलात सौत्रान्तिक दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं । तिब्बती और चीनी स्रोतों से भी इसकी पुष्टि होती है । किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि कुमारलात से पहले भी अनेक सौत्रान्तिक आचार्य हुए हैं । आचार्य कुमारलात कश्मीर के निवासी थे । ये नागार्जुन, आर्यदेव आदि के समकालीन थे । यह ज्ञात ही है कि

सौत्रान्तिक मत अशोक के काल में पूर्णरूप से विद्यमान था । वसुमित्र आदि आचार्यों ने यद्यपि सौत्रान्तिक, धर्मोत्तरीय, संक्रान्तिवाद आदि का उद्भवकाल बुद्ध की तीसरी–चौथी शताब्दी माना था, किन्तु गणनापद्धति कैसी थी, यह सोचने की बात है । पालिपरम्परा और सर्वास्तिवादियों के क्षुद्रकवर्ग से ज्ञात होता है कि धर्माशोक के समय सभी १८ निकाय विद्यमान थे । उन्होंने तृतीय संगीति में प्रविष्ट अन्य मतावलम्बियों का निष्कासन सबसे पहले किया, उसके बाद संगीति आरम्भ हुई । महान् अशोक सभी १८ बौद्ध निकायों के प्रति समान श्रद्धा रखता था और उनका दान–दक्षिणा आदि से सत्कार करता था । इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि अशोक के समय सौत्रान्तिक मत सुपुष्ट था और आचार्य कुमारलात निश्चय ही अशोक से परवर्ती हैं, इसलिए तथा और भी अनेक आचार्य निश्चय ही कुमारलात से पहले हुए होंगे, इसलिए भी कुमारलात को ही सर्वप्रथम प्रवर्तक आचार्य मानना सन्देह से परे नहीं है । इसमें कहीं कुछ विसंगति प्रतीत होती है ।

सौत्रान्तिकों में दो परम्पराएं मानी जाती हैं–आगमानुयायी और युक्ति–अनुयायी । आगमानुयायियों की भी दो शाखाओं का उल्लेख आचार्य भव्य के प्रज्ञाप्रदीप के भाष्यकार अवलोकितेश्वर ने अपने ग्रन्थों में किया है, यथा–क्षणभङ्गवादी और द्रव्यस्थिरवादी । किन्तु इस द्रव्यस्थिरवाद के नाममात्र को छोड़कर उनके सिद्धान्त आदि का उल्लेख वहां नहीं है । इस शाखा के आचार्यों का भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता । संक्रान्तिवादी निकाय का काल ही इसका उद्भव काल है ।

ऐसा संकेत मिलता है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद तीन चार सौ वर्षों तक निकाय के साथ आचार्यों के नामों के संयोजन की प्रथा प्रचलित नहीं थी । संघनायक ही प्रमुख आचार्य हुआ करता था । संघशासन ही प्रचलित था । आज भी स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी परम्परा में संघ प्रमुख की प्रधानता दिखलाई पड़ती है । ऐसा ही अन्य निकायों में भी रहा होगा । सौत्रान्तिकों में भी यही परम्परा रही होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है ।

सौत्रान्तिक प्रायशः सवास्तिवादी मण्डल में परिगणित होते हैं, क्योंकि वे उन्हीं से निकले हैं । सर्वास्तिवादियों के आचार्यों की परम्परा शास्त्रों में उपलब्ध होती है । और भी अनेक आचार्य सूचियां उपलब्ध होती हैं । उनमें मतभेद और

विसंगतियां भी हैं, किन्तु इतना निश्चित है कि बुद्ध से लेकर अश्वघोष या नागार्जुन तक के आचार्य पूरे बौद्ध शासन के प्रति निष्ठावान् हुआ करते थे ।

सौत्रान्तिक दर्शन के प्रथम आचार्य

(क) आचार्य भदन्त

साक्ष्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि सौत्रान्तिक दर्शन के आचार्यों की लम्बी परम्परा रही है । भोटदेशीय साक्ष्य के अनुसार सौत्रान्तिकों के प्रथम आचार्य कश्मीर निवासी महापण्डित महास्थविर भदन्त थे । ये कनिष्क के समकालीन थे । उस समय कश्मीर में 'सिंह' नामक राजा राज्य कर रहे थे । बौद्ध धर्म के प्रति अत्यधिक श्रद्धा के कारण वे संघ में प्रव्रजित हो गये । संघ ने उन्हें 'सुदर्शन' नाम प्रदान किया । स्मृतिमान् एवं सम्प्रजन्य के साथ भावना करते हुए उन्होंने शीघ्र ही अर्हत्त्व प्राप्त कर लिया । उनके विश्रुत यश को सुनकर महाराज कनिष्क भी उनके दर्शनार्थ पहुंचा और उनसे धर्मोपदेश ग्रहण किया । उस समय कश्मीर में शूद्र या सूत्र नामक एक अत्यन्त धनाढ्य ब्राह्मण रहता था । उसने दीर्घकाल तक सौत्रान्तिक आचार्य भदन्त प्रमुख पाँच हजार भिक्षुओं की सत्कारपूर्वक सेवा की । यद्यपि आचार्य भदन्त कनिष्ककालीन थे, फिर भी यह घटना कनिष्क के प्रारम्भिक काल की है । बहुत काल के बाद कनिष्क के अन्तिमकाल में उनकी संरक्षता में जालन्धर या कश्मीर में तृतीय संगीति (सर्वास्तिवादी सम्मत) आयोजित की गई । उसी संगीति में 'महाविभाषा' नामक बुद्धवचनों की प्रसिद्ध टीका का निर्माण हुआ । महाविभाषा शास्त्र में सौत्रान्तिक सिद्धान्तों की चर्चा के अवसर पर अनेक स्थानों पर स्थविर भदन्त के नाम का उल्लेख भी उपलब्ध होता है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्थविर भदन्त सौत्रान्तिक दर्शन के महान् आचार्य थे और कनिष्ककालीन संगीति के पूर्व विद्यमान थे ।

(ख) भदन्त दार्ष्टान्तिक

अभिधर्मपिटक की प्रथम व्याख्या महाविभाषा में दार्ष्टान्तिकों के मत का भी उल्लेख है । प्राथमिक सौत्रान्तिक आचार्य अन्य निकायों के द्वारा दार्ष्टान्तिक कहे जाते थे । भोट परम्परा के अनुसार दार्ष्टान्तिक नाम के एक आचार्य भी हुए हैं । वे 'भदन्त दार्ष्टान्तिक' कहलाते थे । जम–डुब्–था नाम के तिब्बती

ग्रन्थ में उनके सिद्धान्तों की भी चर्चा है। यदि यह तिब्बती मान्यता सही है तो इन आचार्य दार्ष्टान्तिक का काल निश्चय ही स्थविर भदन्त से पहले होना चाहिए। यह भी सम्भव है कि इन भदन्त दार्ष्टान्तिक के नाम पर निकाय का नाम भी दार्ष्टान्तिक हो गया हो। यह भी सम्भवाना है कि दृष्टान्तपंक्ति नामक ग्रन्थ कुमारलात का न होकर इन्हीं की रचना हो। क्योंकि यह ग्रन्थ पूर्वोक्त सौत्रान्तिक आचार्य स्थविर भदन्त के सम्मुख विद्यमान था। इस ग्रन्थ के आधार पर स्थविर भदन्त जनता में व्याख्यान किया करते थे। भदन्त निश्चय ही कुमारलात से पूर्ववर्ती थे, अतः यह कुमारलात की रचना नहीं है। यदि भदन्त दार्ष्टान्तिक एक सौत्रान्तिक आचार्य थे तो निश्चय ही वही पहले सौत्रान्तिक आचार्य थे।

(ग) स्थविर धर्मोत्तर

चीनी परम्परा के अनुसार संक्रान्तिवादी, उत्तरीय (धर्मोत्तरीय) और ताम्रशाटीय ये तीनों निकाय पर्यायवाची हैं। दार्ष्टान्तिक निकाय पहले ताम्रशाटीय निकाय का ही एक भाग (हिस्सा) था, वही सूत्रवादी या सौत्रान्तिक भी कहलाते थे। इसलिए ये अष्टादश निकाय से बहिर्भूत नहीं हैं। ताम्रशाटीय या संक्रान्तिवादियों के प्रमुख आचार्य धर्मोत्तर थे। इसीलिए उनके द्वारा प्रवर्तित निकाय उत्तरीय या धर्मोत्तरीय कहलाता है। इन बातों में ऐतिहासिक तथ्य कितना है, यह कहना मुश्किल है। आचार्य वसुमित्र ने अपने समयभेदो-परचनचक्रशास्त्र में लिखा है कि सर्वास्तिवादियों से संक्रान्तिवादियों का प्रादुर्भाव हुआ है। वे ही सूत्रवादी भी कहलाते थे। वे आचार्य धर्मोत्तर को अपने निकाय का प्रवर्तक मानते थे। वसुमित्र के इस कथन से उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है। इसकी भी सम्भावना है कि भदन्त दार्ष्टान्तिक इन्हीं का नाम हो। धर्मोत्तर से पूर्ववर्ती किसी सौत्रान्तिक आचार्य की सूचना नहीं है। वसुमित्र विरचित इस शास्त्र का अनुवाद करते हुए प्रसिद्ध चीनी विद्वान् ह्वेनसांग ने लिखा है कि स्थविर आनन्द ही सौत्रान्तिक मत के प्रथम आचार्य थे, किन्तु सूक्ष्मरूप से ध्यान देने पर ऐसा लगता है कि भदन्त आनन्द यद्यपि प्रसिद्ध सूत्रधर एवं सूत्रविशेषज्ञ थे, किन्तु सूत्रवादी निकाय के वही संस्थापक भी थे, यह नहीं कहा जा सकता। यह सत्य है कि सूत्रवादियों की परम्परा ही आगे चलकर सौत्रान्तिक निकाय या दर्शन-प्रस्थान के रूप में परिणत हुई, किन्तु आर्य आनन्द किसी भी मतविशेष

के प्रवर्तक नहीं थे, अपि तु वे समग्र बुद्धशासन के मेरुदण्ड एवं शासनधर थे और सभी निकायों के अधिपति या आचार्य थे।

स्थविर भदन्त विषयक समीक्षा

निकायों के विभाजन के क्रम में किस निकाय से किसका जन्म हुआ, सौत्रान्तिक निकाय के सर्वप्रथम आचार्य कौन थे-इन विषयों पर विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है। यह विषय अत्यन्त विवादास्पद एवं अस्पष्ट है। जो सामग्री उपलब्ध है, वह इस विषय के निश्चय में अपर्याप्त और अत्यल्प है। जो सामग्री उपलब्ध है, उसमें जिन सौत्रान्तिक आचार्यों के नाम उपलब्ध होते हैं, उनमें काल की दृष्टि से स्थविर भदन्त ही सर्वप्रथम हैं। भदन्त निश्चित रूप से सौत्रान्तिक आचार्य थे, यह बात वसुबन्धु आदि परवर्ती विद्वानों द्वारा भी पुष्ट होती है। महाविभाषा, अभिधर्मकोशभाष्य की स्फुटार्था टीका आदि ग्रन्थों में स्थविर भदन्त सौत्रान्तिक आचार्य के रूप में अनेक बार याद किये गये हैं।

महाविभाषाशास्त्र की रचना के बारे में दो मत उपलब्ध होते हैं। चङ्क्या-डुब्-था नामक भोटदेशीय ग्रन्थ के अनुसार स्थविर उपगुप्त आदि महाविभाषा के रचयिता हैं। ये उपगुप्त अशोककालीन उपगुप्त नहीं हैं, अपि तु उन से भिन्न और उनसे पूर्ववर्ती हैं, क्योंकि उनके द्वारा महाविभाषा की रचना अशोक से पूर्ववर्ती काल में हुई है। भोटदेशीय और चीनदेशीय विद्वानों का एक दूसरा मत भी है, जिसके अनुसार महाविभाषाशास्त्र के रचयिता वसुमित्र आदि सर्वास्तिवादी महास्थविर हैं। जो कुछ भी हो, उपलब्ध महाविभाषा की रचना निश्चय ही चतुर्थ बुद्ध शताब्दी में कनिष्क के अन्तिम काल में हुई है। इससे यह निष्कर्ष प्रतिफलित होता है कि भदन्त का समय महाविभाषा से पूर्ववर्ती है। इसलिए स्थविर भदन्त चतुर्थ बुद्ध शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे, यह अनुमान किया जा सकता है। यदि भदन्त दार्ष्टान्तिक नाम के कोई आचार्य हुए हैं तो वे भी इसी काल के हैं। विभाषा में दार्ष्टान्तिक के नाम की भी बहुधा चर्चा उपलब्ध होती है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि सौत्रान्तिक दर्शन का जो उद्भवकाल है, वही स्थविर भदन्त का भी काल है। भदन्त वसुमित्र ने भी

कहा है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर तृतीय शतक में या चतुर्थ शतक के प्रारम्भ में सर्वास्तिवादी निकाय से धर्मोत्तर को अपना आचार्य कहने वाले सूत्रवादी प्रादुर्भूत हुए । उन्होंने संक्रान्तिवाद नामक पृथक् निकाय स्थापित किया । भाष्यकार और अन्य अनेक आचार्य इस मत का समर्थन करते हैं । बुद्धघोष केवल इससे सहमत नहीं है । उनका मत है कि अशोक के समय आयोजित तृतीय संगीति के अवसर पर सभी १८ निकाय अस्तित्व में थे । किन्तु कथावत्थु का सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर भी उसमें सभी १८ निकायों के नाम दृष्टिगोचर नहीं होते । आचार्य बुद्धघोष का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि उस समय १८ प्रकार के सिद्धान्तभेद या निकायबीज विद्यमान थे । उन सिद्धान्तों का अनुसरण करनेवाले या उन सिद्धान्तों के प्रति आग्रहशील भिक्षुसमूह भी शायद विद्यमान रहा हो, किन्तु सिद्धान्तों के साथ निकाय के नामों का संयोजन परवर्ती काल में सम्पन्न हुआ । सूत्रवादियों के दर्शननिकाय का उद्भव तो उनके अनुसार भी सबसे अन्त में हुआ है । सौत्रान्तिक निकाय के उद्भव के बाद फिर कोई अन्य निकाय विकसित नहीं हुआ । इसके बाद तो महायान का ही विकास हुआ है । यद्यपि सौत्रान्तिक निकाय की दार्शनिक चिन्तनधारा की पृष्ठभूमि बुद्धवचन (सूत्र) ही थे, किन्तु बुद्धवचनों में अनुदिन प्रक्षेप आदि को देखकर और कई निकायों के विविध मतों को बुद्ध के मूल उपदेशों से दूर चले गये देखकर परवर्ती शास्त्रों के प्रामाण्य का निरास करते हुए सौत्रान्तिकों ने अपने स्वतन्त्र निकाय की स्थापना कर ली । प्रारम्भ में यह निकायपरम्परा अन्य निकायों की परम्पराओं के साथ–साथ चलती रही, किन्तु चतुर्थ बुद्धाब्द के प्रारम्भ में यह निकाय स्वतन्त्र दार्शनिक प्रस्थान के रूप में प्रतिष्ठित हुआ । यही स्थविर भदन्त का भी समय है । इस आलोक में स्थविर भदन्त के प्रथम सौत्रान्तिक आचार्य होने में कोई असंगति नहीं है । स्थविर भदन्त प्रभावशाली भिक्षु थे । यह हमेशा पांच हजार भिक्षुओं के साथ चारिका करते थे ।

दूसरी ओर इस बात के भी पर्याप्त संकेत हैं कि स्थविर भदन्त और भदन्त दार्ष्टान्तिक दोनों एक ही व्यक्ति हैं और दृष्टान्तपंक्ति इन्हीं की रचना है । जम्–डुब्–था और डुब्–था–कुनशेस् नामक भोटग्रन्थों में भदन्त दार्ष्टान्तिक का न केवल नामोल्लेख ही है, अपितु उनका मत भी उल्लिखित है । वे सुखवेदना की स्वतन्त्र सत्ता मानते थे । अभिधर्मकोश में भी सुख वेदना के प्रतिपादन के अवसर पर स्थविर भदन्त के नाम का उल्लेख है । इस स्थिति में

दोनों के एक व्यक्ति होने की सम्भावना अधिक बलवती हो जाती है । फलतः स्थविर भदन्त या भदन्त दार्ष्टान्तिक सौत्रान्तिक दर्शन के प्रथम आचार्य हैं—ऐसा निश्चय किया जा सकता है ।

ये स्थविर भदन्त कौन हैं—इस विषय में प्राचीन काल से ही विवाद रहा है । भगवद्–विशेष का कहना है कि यह धर्मत्रात हैं । यशोमित्र भगवद्–विशेष के इस मत का स्फुटार्था में खण्डन करते हैं । वे कहते हैं कि धर्मत्रात तो अतीत, अनागत की सत्ता माननेवाले वैभाषिक आचार्य हैं, वे सौत्रान्तिक या दार्ष्टान्तिक कतई नहीं हैं और स्थविर भदन्त तो सौत्रान्तिक हैं । फिर धर्मत्रात तो भावान्यथिकवादी वैभाषिक के रूप में प्रसिद्ध हैं, जबकि विभाषा में स्थविर भदन्त सौत्रान्तिक मतावलम्बी के रूप में बहुधा उल्लिखित हैं । फलतः स्थविर भदन्त निश्चय ही भदन्त धर्मत्रात से भिन्न हैं । यद्यपि धर्मत्रात नाम के भी अनेक आचार्य हुए हैं, किन्तु काल की दृष्टि से वे सभी स्थविर भदन्त से परवर्ती हैं । एक स्थविर धर्मत्रात जरूर स्थविर भदन्त के समकालीन हुए हैं, किन्तु विभाषा में उन्हें वैभाषिक कहा गया है । इन साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्थविर भदन्त निश्चित रूप से भदन्त धर्मत्रात से भिन्न हैं । यशोमित्र भी इसी अवधारणा के समर्थक हैं । संक्षेप में यह निष्कर्ष है कि सूत्रवादियों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । बुद्ध के बाद ही स्थविर आनन्द सूत्रविशेषज्ञों में प्रथम और सर्वश्रेष्ठ हुए । परिनिर्वाण के अनन्तर दो तीन सौ वर्षों तक संगीतियों का क्रम चलता रहा, जिनमें बुद्धवचनों का संकलन, संकलित ग्रन्थों की बुद्धवचन के रूप में मान्यता आदि क्रम चलते रहे । तथागत की प्रेरणा से भिक्षुसंघ में उद्भूत विचारस्वातन्त्र्य और कुण्ठाहीन जीवनदर्शन की वज़ह से तथा परस्पर सिद्धान्तगत मतभेदों, व्यक्तिनिष्ठाओं और परिमित दृष्टियों के कारण बुद्धशासन क्रमशः १८ निकायों में विभक्त या विकसित हो गया । सभी निकाय के अनुयायियों ने विपरीत परिस्थितियों में भी भगवान् बुद्ध के मूलभूत उपदेशों की प्राणपण से रक्षा की ।

चतुर्थ बुद्धाब्द के प्रारम्भ में सौत्रान्तिक दर्शन प्रस्थान अन्य निकायों से पृथक् रूप से पूर्णतया अस्तित्व में आ गया । इस स्वरूप को लाने में स्थविर भदन्त का महान् योगदान रहा । स्थविर भदन्त सौत्रान्तिक थे, यह बात महाविभाषा और यशोमित्र की स्फुटार्था आदि अनेक ग्रन्थों से परिपुष्ट होती है ।

दुर्भाग्य से स्थविर भदन्त के जीवनवृत्त के विषय में इससे (उपर्युक्त विवरण से) अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है।

कृतियाँ

प्रारम्भिक सौत्रान्तिक आचार्यों की अनेक कृतियां हो सकती हैं, किन्तु उनका नाम भी कहीं सुनाई नहीं देता। प्राचीन ग्रन्थों, जिनमें सौत्रान्तिक सिद्धान्तों की चर्चा है, दो ग्रन्थों के नाम दिखलाई पड़ते हैं—दृष्टान्तपंक्ति (दृष्टान्तमूलागम) और त्रिपिटकधरभेदसम्परिग्रह (या पिटकधरमुष्टि)।

महायान के विकास के बाद सौत्रान्तिक प्रस्थान का स्वतन्त्र अस्तित्व प्रायः विलुप्त हो गया। उनके शास्त्र भी विरल हो गये। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने ६२९ से ६४४ तक के ईसवीय वर्षों में भारत की यात्रा की थी और वे भारत के विभिन्न स्थानों पर गये थे। उन्होंने सुघ्न नामक स्थान पर अन्तिम रूप से सौत्रान्तिक या दार्ष्टान्तिक आचार्यों को देखा था। ऊपर जिन दो ग्रन्थों की चर्चा की गई है, वे भी आज उपलब्ध नहीं हैं। चीन में चीनी भाषा में अनूदित एक सौत्रान्तिक ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसे उस भाषा में 'जों जि छु रोङ्' कहते हैं। इसमें वैभाषिक मतों की आलोचना के साथ सौत्रान्तिक मत स्थापित किया गया है। यह ग्रन्थ अवश्य ही प्राचीन है। छठवीं–सातवीं सदी में यह चीन में विद्यमान था। किन्तु इसके रचयिता और रचनाकाल के बारे में कोई सूचना नहीं है। इन सब स्थितियों में सौत्रान्तिक दर्शन पर कुछ कहने के लिए निश्चय ही दीर्घकालीन सुनियोजित शोध अपेक्षित है, क्योंकि जब हम प्राचीन सौत्रान्तिक आचार्यों की रचनाओं पर विचार करना प्रारम्भ करते हैं तो अनेक समस्याएं सम्मुख उपस्थित हो जाती हैं और यह कार्य दुरूह प्रतीत होने लगता है।

(२) श्रीलात

सौत्रान्तिक आचार्य परम्परा में स्थविर भदन्त के बाद काल की दृष्टि से दूसरे आचार्य श्रीलात प्रतीत होते हैं। ग्रन्थों में उनके श्रीलात, श्रीलाभ, श्रीलब्ध, श्रीरत आदि अनेक नाम उपलब्ध होते हैं। इनमें से उनका कौन नाम वास्तविक है, इसका निश्चय करना मुश्किल है। भोट–अनुवाद के अनुसार श्रीलात नाम

ठीक प्रतीत होता है। अभिधर्मकोशभाष्य में अनेक जगह यही नाम प्रयुक्त हुआ है। हम भी इसी नाम का आगे प्रयोग करेंगे।

स्थविर श्रीलात से सम्बद्ध उनके जीवनवृत्त का व्यवस्थित और पर्याप्त विवरण कहीं उपलब्ध नहीं होता। बौद्ध धर्म के इतिहास ग्रन्थों में और ह्वेनसांग की भारत यात्रा के विवरण में प्रसङ्गवश उनके नाम का उल्लेख हुआ है। अभिधर्मकोशभाष्य और उसकी टीकाओं में सिद्धान्तों के खण्डन या मण्डन के अवसरों पर श्रीलात या श्रीलाभ के सिद्धान्तों के उद्धरण दिखलाई पड़ते हैं। इसी तरह माध्यमिक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में आचार्य के नाम का उल्लेख किया है। इन सब आधारों पर स्थविर श्रीलात का जीवनवृत्तान्त संक्षेप में निम्नलिखित है :

आचार्य श्रीलात कश्मीर के निवासी थे। सम्भवतः तक्षशिला में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित थे। इनके शिष्य परिवार में बहुसंख्यक श्रामणेर और भिक्षु विद्यमान थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। इससे विपरीत चीनी यात्री ह्वेनसांग इनका निवास स्थान अयोध्या बतलाते हैं। उस समय अयोध्या प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र था। हो सकता है कि श्रीलात जैसे प्रसिद्ध विद्वान् वहां भी आये हों और निवास किया हो। यह असंगत भी नहीं है, क्योंकि गन्धार देश में जन्मे आचार्य असंग और वसुबन्धु का भी विद्याक्षेत्र अयोध्या ही रहा है। अयोध्या उस समय बौद्ध और अबौद्ध सभी प्रकार के विद्वानों की समवाय–स्थली थी। ह्वेनसांग अपने यात्राविवरण में आगे लिखते हैं कि अयोध्या से कुछ दूरी पर सम्राट् अशोक द्वारा निर्मित एक संघाराम है, उसमें लगभग २०० फुट ऊँचा एक स्तूप है। उस स्तूप के समीप एक दूसरा भी भग्न (खंडहर के रूप में) संघाराम है, जिसमें बैठकर श्रीलब्ध शास्त्री ने सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के अनुरूप एक 'विभाषाशास्त्र' की रचना की थी। इस वृत्तान्त से बुद्धशासन से सम्बद्ध श्रीलात के कार्यों की सूचना मिलती है। अन्य ग्रन्थों में उनके जन्मस्थान की चर्चा नहीं मिलती, किन्तु अयोध्या या मध्यदेश का सर्वत्र चारिका करने वाले बौद्ध भिक्षु का विद्याक्षेत्र होना आश्चर्यकर नहीं है।

स्थविर भदन्त और श्रीलात के काल में अधिक अन्तर नहीं है। भदन्त के कुछ ही वर्षों बाद आचार्य श्रीलात का समय निर्धारित किया जा सकता है। कनिष्क के निधन के बाद उनका पुत्र सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसी समय नागार्जुन के गुरु विद्वन्मूर्धन्य सरहपाद, सरोरुहवज्र अथवा राहुलभद्र भी विद्यमान

थे। उसी समय वाराणसी में वैभाषिक आचार्य बुद्धदेव भी हजारों भिक्षुओं के साथ विराजमान थे। ये सभी आचार्य समानकालिक हैं। यह वह समय था, जब सौत्रान्तिक चिन्तन पराकाष्ठा को प्राप्त था। इस तरह आचार्य श्रीलात का समय हम बुद्धाब्द चतुर्थ शतक के अन्तिम भाग अथवा ईसा–पूर्व प्रथम शताब्दी में या इसके आसपास निश्चित कर सकते हैं, क्योंकि सम्राट् कनिष्क के अवसान के समय इनके अस्तित्व का साक्ष्य उपलब्ध है। यही आचार्य नागार्जुन के जीवन का आदिम काल भी है।

कृतियाँ

ऊपर कहा गया है कि आचार्य श्रीलात ने सौत्रान्तिक सम्मत विभाषाशास्त्र की रचना की थी। इनके अतिरिक्त भी उनकी रचनाएं सम्भावित हैं, किन्तु यह मात्र कल्पना ही है और न तो इस समय विभाषाशास्त्र ही उपलब्ध है। आचार्य के कुछ विशिष्ट सिद्धान्त तथा दार्शनिक विशेषताएं अभिधर्मकोशभाष्य और उसकी यशोमित्रकृत स्फुटार्था टीका में उद्धरण के रूप में मिलते हैं। किन्तु इतने मात्र से उनके सम्पूर्ण दर्शन का आकलन सम्भव नहीं है।

(३) कुमारलात

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद चौथे–पाँचवें शतक में प्रायः सभी निकाय विभिन्न स्थानों में वृद्धिंगत एवं पुष्ट होते हुए बुद्धशासन का प्रचार–प्रसार करते दृष्टिगोचर होते हैं। दक्षिण भारत में प्रायः स्थविरों का बाहुल्य और प्राबल्य था। मथुरा से लेकर मगध पर्यन्त मध्यदेश में सर्वास्तिवादियों का अधिक प्रचार था। भारत के पश्चिमी भाग में जालन्धर से लेकर कश्मीर और गान्धार पर्यन्त सर्वास्तिवादी और सौत्रान्तिकों का विशेष प्रभाव था। इसी समय आचार्य कुमारलात का जन्म हुआ। विविध ग्रन्थों में कुमारलात के नाम में कुछ–कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, यथा–कुमारलात, कुमारलाभ, कुमारलब्ध, कुमाररत आदि। भोटदेशीय परम्परा कुमारलात का जन्मस्थान पश्चिमभारत निर्दिष्ट करती है। चीनी यात्री फाहियान और ह्वेनसांग दोनों का कहना है कि आचार्य का जन्मस्थान तक्षशिला था। ह्वेनसांग कुमारलात के बारे में निम्न विवरण प्रस्तुत करते हैं :

"तक्षशिला से लगभग १२–१३ 'ली' की दूरी पर महाराज अशोक ने एक स्तूप का निर्माण कराया था। यह वही स्थान है, जहां पर बोधिसत्त्व

चन्द्रप्रभ ने अपने शरीर का दान किया था। स्तूप के समीप एक संघाराम है, जो भग्नावस्था में दिखाई देता है, उसी संघाराम में कुछ भिक्षु निवास करते हैं। इसी स्थान पर बैठकर (निवास करते हुए) सौत्रान्तिक दर्शनसम्प्रदाय के अनुयायी कुमारलब्ध शास्त्री ने प्राचीनकाल में कुछ ग्रन्थों की रचना की थी। अन्य इतिहासज्ञ भी तक्षशिला को आचार्य का जन्मस्थान कहते हैं"। ह्वेनसांग पुनः कहते हैं :

"कुमारलात ने तक्षशिला में निवास किया। बचपन से ही वे विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न थे। कम उम्र में ही वे विरक्त होकर प्रव्रजित हो गये थे। उनका सारा समय पवित्र ग्रन्थों के अवलोकन में तथा अध्यात्मचिन्तन में व्यतीत होता था। वे प्रतिदिन ३२००० शब्दों का स्वाध्याय और उतने ही का लेखन करते थे। अपने साथियों और सहाध्यायियों में उनकी विलक्षण योग्यता की प्रायः चर्चा होती थी। उनकी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो गई थी। सद्धर्म के सिद्धान्तों को उन्होंने लोक में निर्दोष निरूपित किया और अनेक विधर्मी तैर्थिकों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। शास्त्रार्थ कला में उनके विलक्षण चातुर्य की लोक में चर्चा होती थी। शास्त्रसम्बन्धी ऐसी कोई कठिनाई नहीं थी, जिसका उचित समाधान करने में वे सक्षम न हों। सारे भारत के विभिन्न भागों से जिज्ञासु लोग उनके दर्शनार्थ आते रहते थे और उनका सम्मान करते थे। उन्होंने लगभग २० ग्रन्थों की रचना की। ये ही सौत्रान्तिक दर्शनप्रस्थान के प्रतिष्ठापक थे"।

इन विवरणों से ज्ञात होता है कि आचार्य कुमारलात पश्चिम भारत में तक्षशिला महाविहार में पण्डित पद पर प्रतिष्ठित थे। उनके अध्ययन–अध्यापन की कीर्ति विस्तृत रूप से फैली हुई थी। भोटदेशीय परम्परा भी इस मत की समर्थक है। सौत्रान्तिक दर्शन के प्रथम आचार्य कौन थे ? इस विषय का हमने पहले विवेचन किया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग के मत का अनुसरण करते हुए प्रायः इतिहास–विशेषज्ञ स्थविर कुमारलात को ही सौत्रान्तिक दर्शन का प्रवर्तक निरूपित करते हैं।

कुमारलात का समय

"आचार्य कुमारलात के काल के बारे में प्रायः सभी ऐतिहासिक स्रोत, सामग्री एवं विद्वान् एक मत है कि उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। ह्वेनसांग का कहना है :

पूर्व दिशा में अश्वघोष, दक्षिण में आर्यदेव, पश्चिम में नागार्जुन तथा उत्तर में कुमारलब्ध समानकालीन थे। ये चारों महापण्डित संसार–मण्डल को प्रकाशित करनेवाले चार सूर्यों के समान थे। कश्य–अन्टो (?) देश के राजा ने उनके गुणों और पाण्डित्य से आकृष्ट होकर उनका अपहरण कर लिया था और उनके लिए वहाँ एक संघाराम का निर्माण किया था"।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि कुमारलात नागार्जुन के समकालिक थे। नागार्जुन के काल के बारे में भी विद्वानों में बहुत विवाद है। इस विषय की चर्चा यहाँ प्रासंगिक नहीं है, फिर भी उनका काल ईसा की प्रथम शताब्दी का पूर्वार्द्ध समीचीन प्रतीत होता है। यही कुमारलात का भी काल है और आर्यदेव का भी, क्योंकि आर्यदेव नागार्जुन के साक्षात् शिष्य थे।

यद्यपि कुमारलात का नाम अभिधर्मकोश से सम्बद्ध भाष्य और टीकाओं में प्रचुर रूप से उपलब्ध होता है, किन्तु महाविभाषा, जो अभिधर्मपिटक की प्राचीनतम व्याख्या है, उसमें उनके नाम की चर्चा नहीं है। उसमें स्थविर भदन्त और उनके दार्ष्टान्तिक सिद्धान्तों की चर्चा है। यदि कुमारलात महाविभाषा की रचना के पूर्व विद्यमान होते तो यह सम्भव नहीं था कि इतने महान् और लोकविश्रुत महापण्डित के नाम का उल्लेख उसमें न होता। इसलिए यह निश्चय होता है कि कुमारलात महाविभाषाशास्त्र की रचना से परवर्ती हैं।

हमारे विचारों में कुमारलात सौत्रान्तिक दर्शन के प्रथम प्रवर्तक आचार्य नहीं थे, अपि तु आचार्यपरम्परा के क्रम में उनका स्थान तृतीय है। शास्त्रनैपुण्य और गम्भीर ज्ञान की दृष्टि से उनका स्थान प्रथम हो सकता है, किन्तु काल की दृष्टि से वे प्रथम थे–विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर ऐसा कहने में हम असमर्थ हैं।

कृतियाँ

हमने पहले लिखा है कि आचार्य कुमारलात ने २० ग्रन्थों की रचना की थी, किन्तु उनमें से आज कोई भी उपलब्ध नहीं है। परवर्ती शास्त्रों में उनके ग्रन्थों में से कुछ संकेत अवश्य उपलब्ध होते हैं। चीनीस्रोत के आधार पर 'दृष्टान्तपंक्ति' नामक ग्रन्थ उनके द्वारा प्रणीत है, ऐसा उल्लेख मिलता है, किन्तु यह ग्रन्थ कुमारलात से पूर्व स्थविर भदन्त के समय विद्यमान था, इसकी

भी सूचना प्राप्त होती है, जिसकी चर्चा हमने ऊपर की है। 'कल्पनामण्डितिका' आचार्य की ही कृति है, इसका संकेत और स्रोत उपलब्ध है। भोटदेशीय विद्वान् छिम्–जम्–पई–यंग महोदय ने आचार्य कुमारलात के मतों का निरूपण करते हुए उनके 'दुःखसप्तति' नामक एक ग्रन्थ से एक पद्य उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ भी उनकी रचना है। इन के अलावा अन्य ग्रन्थों के साथ कुमारलात के सम्बन्ध की सूचना आजकल उपलब्ध नहीं है। इस सम्बन्ध की सामग्री अत्यल्प होने से इससे अधिक कहना सम्भव नहीं है।

अन्य प्राचीन आचार्य

किसी जीवित निकाय का यही लक्षण है कि उसकी अविच्छिन्न आचार्यपरम्परा विद्यमान रहे। यदि वह बीच में टूट जाती है तो वह निकाय समाप्त हो जाता है। यही स्थिति प्रायः सौत्रान्तिक निकाय की है। भदन्त कुमारलात के अनन्तर उस निकाय में कौन आचार्य हुए, यह अत्यन्त स्पष्ट नहीं है। यद्यपि छिटपुट रूप में कुछ आचार्यों के नाम ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, यथा–भदन्त रत (लात), राम, वसुवर्मा आदि, किन्तु इतने मात्र से कोई अविच्छिन्न परम्परा सिद्ध नहीं होती और न तो उनके काल और कृतियों के बारे में ही कोई स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते हैं। ये सभी सौत्रान्तिक निकाय के प्राचीन आचार्य 'आगमानुयायी सौत्रान्तिक' थे, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, क्योंकि नागार्जुनकालीन ग्रन्थों में इनके नाम की चर्चा नहीं है। हालांकि अभिधर्मकोश आदि वैभाषिक या सर्वास्तिवादी ग्रन्थों में इनके नाम यत्र तत्र यदा कदा दिखलाई पड़ते हैं। वसुबन्धु के बाद यशोमित्र भी आगमानुयायी सौत्रान्तिक परम्परा के आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने अपनी स्फुटार्था टीका में अपनी सौत्रान्तिकप्रियता प्रकट की है, यह अन्तःसाक्ष्य के आधार पर जानकार विद्वानों द्वारा स्वीकार किया जाता है।

(४) वसुबन्धु

बौद्ध जगत् में आचार्य वसुबन्धु के प्रकाण्ड पाण्डित्य और शास्त्रार्थ–पटुता की बड़ी प्रतिष्ठा है। अपनी अनेक कृतियों द्वारा उन्होंने बुद्ध के मन्तव्य का लोक में प्रसार करके लोक का महान् कल्याण सिद्ध किया है। उनके इस परहित कृत्य को देखकर विद्वानों ने उन्हें 'द्वितीय बुद्ध' की उपाधि से विभूषित किया। आचार्य वसुबन्धु शास्त्रार्थ में अत्यन्त निपुण थे। उन्होंने महावैयाकरण

वसुरात को शास्त्रार्थ में पराजित किया था । सुना जाता है कि सांख्याचार्य विन्ध्यवासी ने उनके गुरु बुद्धमित्र को पराजित कर दिया था । इस पराजय का बदला लेने के लिए वसुबन्धु विन्ध्यवासी के पास शास्त्रार्थ करने पहुंचे, किन्तु तब तक विन्ध्यवासी का निधन हो गया था । फलतः उन्होंने विन्ध्यवासी के 'सांख्यसप्तति' ग्रन्थ के खण्डन में 'परमार्थसप्तति' नामक ग्रन्थ की रचना की ।

गान्धार प्रदेश के पुरुषपुर (पेशावर) में आचार्य का जन्म हुआ था । ये कौशिकगोत्रीय ब्राह्मण थे । ये तीन भाई थे । बड़े भाई का नाम असंग, छोटे का विरिञ्चिवत्स था और ये उन दोनों के मध्य में थे । भोटदेशीय इतिहासकार लामा तारानाथ और बुदोन के अनुसार इन्होंने संघभद्र से विद्याध्ययन किया था । आचार्य परमार्थ के अनुसार इनके गुरु बुद्धमित्र थे । ह्वेनसांग के मतानुसार परमार्थ इनके गुरु थे । सम्भव है कि इन्होंने विभिन्न गुरुओं के समीप बैठकर ज्ञानार्जन किया हो ।

उस काल में अयोध्या प्रधान विद्याकेन्द्र के रूप प्रतिष्ठित थी । यहीं निवास करते हुए उन्होंने गम्भीर दर्शनों का तलस्पर्शी अध्ययन–अध्यापन और अभिधर्मकोश आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों का प्रणयन किया था । तारानाथ के मतानुसार नालन्दा में प्रव्रजित होकर वहीं उन्होंने सम्पूर्ण श्रावकपिटक का अध्ययन किया था और उसके बाद विशेष अध्ययन के लिए ये आचार्य संघभद्र के समीप गये थे । इनकी विद्वत्ता की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त थी । इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर अयोध्या के सम्राट् चन्द्रगुप्त सांख्य मत को छोड़कर बौद्ध मत के अनुयायी हो गये थे । उन्होंने अपने पुत्र बालादित्य को और अपनी पत्नी महारानी ध्रुवा को अध्ययन के लिए इनके समीप भेजा था । तत्त्वसंग्रह नामक ग्रन्थ की पञ्जिका के रचयिता आचार्य कमलशील ने अपने ग्रन्थ में इनके वैदुष्य की बड़ी प्रशंसा की है । अस्सी वर्ष की आयु में अयोध्या में ही इनका देहावसान हुआ । तारानाथ के मतानुसार नेपाल में और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार गान्धार में इनका निधन हुआ ।

जीवन के प्रारम्भिक काल में ये सर्वास्तिवादी थे । आचार्य संघभद्र के प्रभाव से ये 'कश्मीर–वैभाषिक' हो गए और उसी समय इन्होंने अभिधर्मकोश का प्रणयन किया । इस ग्रन्थ का विद्वत्समाज में बड़ा आदर था । महाकवि बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित ग्रन्थ में अभिधर्मकोश का उल्लेख किया है ।

सिंहलद्वीप के महाकवि श्रीराहुल संघराज ने १५वीं विक्रम शताब्दी में प्रणीत अपने ग्रन्थ मोग्गलानपंचिकाप्रदीप में अभिधर्मकोश के वचन का उद्धरण किया है ।

आचार्य वसुबन्धु सभी अठारह निकाय के तथा महायान के दार्शनिक सिद्धान्तों के अद्वितीय ज्ञाता थे, यह बात उनकी कृतियों से स्पष्ट होती है । सर्वप्रथम वे सर्वास्तिवादी निकाय में प्रव्रजित हुए । तदनन्तर उन्होंने कश्मीर में वैभाषिक शास्त्रों का अध्ययन किया । उस समय कश्मीर में सौत्रान्तिकों का प्रभावक्षेत्र विस्तृत एवं घनीभूत हो रहा था । सौत्रान्तिकों का दार्शनिक परिवेश निश्चय ही वैभाषिकों की अपेक्षा सूक्ष्म भी था और युक्तिसंगत भी । फलतः आचार्य ने अपने अभिधर्मकोश और उसके स्वभाष्य में यत्र तत्र वैभाषिकों की विसंगतियों की ओर इंगित भी किया और उनकी आलोचना भी की है । उनकी रचनाओं के अध्ययन से एक बात निश्चय ही स्पष्ट होती है कि वे एक स्वतन्त्र विचारक एवं प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे तथा सौत्रान्तिक विचारों की ओर उनकी विशेष अभिरुचि थी । यह बात इस घटना से भी पुष्ट होती है कि वैभाषिक आचार्य संघभद्र ने वसुबन्धु के अभिधर्मकोश के खण्डन में 'न्यायानुसार' नामक ग्रन्थ लिखा । जिन–जिन स्थलों पर वसुबन्धु वैभाषिक विचारों से दूर होते दृष्टिगोचर हुए, उन उन स्थलों पर संघभद्र उनकी समालोचना करते हैं । भोटदेशीय आचार्यों का कहना है कि वसुबन्धु अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में सौत्रान्तिक दर्शन से सम्बद्ध थे । वहां के तक्–छङ् लोचावा शेरब्–रिन्छेन का तो यहाँ तक कहना है कि वे सौत्रान्तिक दर्शन के प्रथम आचार्य थे । किन्तु उनके इस कथन में आंशिक ही सत्यता है । क्योंकि चतुर्थ–पंचम शताब्दी के आचार्य वसुबन्धु से बहुत पहले ही सौत्रान्तिकों की दार्शनिक विचारधारा पर्याप्त विकसित हो चुकी थी । इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य वसुबन्धु असाधारण विद्वान् थे, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे प्रथम आचार्य थे । सौत्रान्तिकदर्शन से सम्बद्ध उनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है । इतना ही नहीं, विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में उन्होंने सौत्रान्तिकों का जमकर खण्डन भी किया है । निश्चय ही वसुबन्धु सौत्रान्तिक दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान्, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र एवं प्रामाणिक विद्वान् थे । उनके बारे में इतना कहना ही उपयुक्त है । वे केवल सौत्रान्तिक दर्शन के ही आचार्य नहीं थे ।

समय—वसुबन्धु के काल के विषय में बहुत विवाद है । ताकाकुसू के अनुसार ४२०—५०० ईसवीय वर्ष उनका काल है । वोगिहारा महोदय के मतानुसार आचार्य ३९० से ४७० ईसवीय वर्षों में विद्यमान थे । सिलवां लेवी उनका समय पांचवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानते हैं । एन० पेरी महोदय उनका समय ३५० ईसवीय वर्ष सिद्ध करते हैं । फ्राउ वाल्नर महोदय इसी मत का समर्थन करते हैं । इन सब विवादों के समाधान के लिए कुछ विद्वान् दो वसुबन्धुओं का अस्तित्व मानते हैं । उनमें एक वसुबन्धु तो आचार्य असङ्ग के छोटे भाई थे, जो महायानशास्त्रों के प्रणेता हुए तथा दूसरे वसुबन्धु सौत्रान्तिक थे, जिन्होंने अभिधर्मकोश की रचना की । विन्टरनित्ज़, मैकडोनल, डॉ० स्मिथ, डॉ० विद्याभूषण, डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य आदि विद्वान् आचार्य को ईसवीय चतुर्थ शताब्दी का मानते हैं । परमार्थ ने आचार्य वसुबन्धु की जीवनी लिखी है । परमार्थ का जन्म उज्जैन में हुआ था और उनका समय ४९९ से ५६९ ईसवीय वर्षों के मध्य माना जाता है । ५६९ में चीन के कैन्टन नगर में उनका देहावसान हुआ था । ताकाकुसू ने परमार्थ की इस वसुबन्धु की जीवनी का न केवल अनुवाद ही किया है, अपि तु उसका समीक्षात्मक विशिष्ट अध्ययन भी प्रस्तुत किया है । उनके विवरण के अनुसार वसुबन्धु का जन्म बुद्ध के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष के अनन्तर हुआ । इस गणना के अनुसार ईसवीय पंचम शताब्दी उनका समय निश्चित होता है । इससे विक्रमादित्य—बालादित्य की समकालीनता भी समर्थित हो जाती है । महाकवि वामन ने अपने काव्यालङ्कार में भी यह बात कही है ।

आचार्य कुमारजीव ने वसुबन्धु के अनेक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया है । वे ३४४ से ४१३ ईसवीय वर्षों में विद्यमान थे । सुना जाता है कि कुमारजीव ने अपने गुरु सूर्यसोम से वसुबन्धु के सद्धर्मपुण्डरीकोपदेश—शास्त्र का अध्ययन किया था । आर्यदेवविरचित शतशास्त्र की वसुबन्धुरचित व्याख्या का चीनी भाषा में अनुवाद ४०४वें ईसवीय वर्ष में तथा वसुबन्धुप्रणीत बोधिचित्तोत्पादशास्त्र का ४०५वें वर्ष में चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था । बोधिरुचि ने वसुबन्धुकृत वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिताशास्त्र की वज्रर्षिकृत व्याख्या का अनुवाद ५३५ ईसवीय वर्ष में सम्पन्न किया था । इन प्रमाणों के आधार पर महायान—ग्रन्थों के रचयिता वसुबन्धु का समय चतुर्थ ईसवीय शताब्दी निश्चित होता है । चतुर्थ शतक में उत्पन्न वसुबन्धु अभिधर्मकोशकार वसुबन्धु से भिन्न

प्रतीत होते हैं । अभिधर्मकोश के व्याख्याकार यशोमित्र अपनी व्याख्या में वसुबन्धु नामक एक अन्य आचार्य की सूचना देते हैं । वे उन्हें 'वृद्धाचार्य वसुबन्धु' कहते हैं । तिब्बती परम्परा आचार्य को बुद्ध के नवम शतक में विद्यमान मानती है । बीसवीं शताब्दी में भोटदेशीय इतिहासकार गे—दुन्—छोस्—फेल महोदय का कहना है कि भोटदेशीय सम्राट् स्रोङ्—चन्—गम्पो, भारतीय सम्राट् श्रीहर्ष, आचार्य दिङ्नाग, कवि कालिदास, आचार्य दण्डी, इस्लाम धर्मप्रवर्तक मोहम्मद साहब ये सब महापुरुष कुछ काल के अन्तर से प्रायः समान कालिक थे । परमार्थ, ह्वेनसांग, तारानाथ, ताकाकुसू आदि इतिहासवेत्ताओं का कहना है दो वसुबन्धुओं की कल्पना निरर्थक है, वसुबन्धु एक ही थे और वे ४२० से ५०० ईसवीय वर्षों के मध्य विद्यमान थे । आधुनिक इतिहासकार भी इसी मत का समर्थन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं ।

कृतियाँ

आचार्य वसुबन्धु की अनेक कृतियां हैं । हम उनके ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में संलग्न कर रहे हैं, जिनका आधार विशेषतः तिब्बती कंजूर और तंजूर है[१] ।

परवर्ती परम्परा

आचार्य वसुबन्धु के बाद सभी अठारह बौद्ध निकायों में तत्त्वमीमांसा की प्रणाली में कुछ नया परिवर्तन दिखाई देता है । तत्त्वचिन्तन के विषय में यद्यपि इसके पहले भी तर्कप्रधान विचारपद्धति सौत्रान्तिकों द्वारा आरम्भ की गई थी और आचार्य नागार्जुन ने इसी तर्कपद्धति का आश्रय लेकर महायान दर्शनप्रस्थान को प्रतिष्ठित किया था, स्वयं आचार्य वसुबन्धु भी प्रमाणमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और वादविधि के प्रकाण्ड पण्डित थे, फिर भी वसुबन्धु के बाद ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में कुछ इस प्रकार का विकास दृष्टिगोचर होता है, जिससे सौत्रान्तिकों की वह प्राचीन प्रणाली अपने स्थान से किञ्चित् परिवर्तित सी दिखाई देती है । उनके सिद्धान्तों और पूर्व मान्यताओं में भी परिवर्तन दिखलाई पड़ता है । अपनी तर्कप्रियता, विकासोन्मुख प्रकृति एवं मुक्तचिन्तन की पक्षपातिनी दृष्टि के कारण वे अन्य दर्शनों की समकक्षता में आ गये । ज्ञात है कि प्राचीन

१. द्र०— प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३४४ ।

समय—वसुबन्धु के काल के विषय में बहुत विवाद है। ताकाकुसू के अनुसार ४२०—५०० ईसवीय वर्ष उनका काल है। वोगिहारा महोदय के मतानुसार आचार्य ३९० से ४७० ईसवीय वर्षों में विद्यमान थे। सिलवां लेवी उनका समय पांचवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानते हैं। एन० पेरी महोदय उनका समय ३५० ईसवीय वर्ष सिद्ध करते हैं। फ्राउ वाल्नर महोदय इसी मत का समर्थन करते हैं। इन सब विवादों के समाधान के लिए कुछ विद्वान् दो वसुबन्धुओं का अस्तित्व मानते हैं। उनमें एक वसुबन्धु तो आचार्य असङ्ग के छोटे भाई थे, जो महायानशास्त्रों के प्रणेता हुए तथा दूसरे वसुबन्धु सौत्रान्तिक थे, जिन्होंने अभिधर्मकोश की रचना की। विन्टरनित्ज़, मैकडोनल, डॉ० स्मिथ, डॉ० विद्याभूषण, डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य आदि विद्वान् आचार्य को ईसवीय चतुर्थ शताब्दी का मानते हैं। परमार्थ ने आचार्य वसुबन्धु की जीवनी लिखी है। परमार्थ का जन्म उज्जैन में हुआ था और उनका समय ४९९ से ५६९ ईसवीय वर्षों के मध्य माना जाता है। ५६९ में चीन के कैन्टन नगर में उनका देहावसान हुआ था। ताकाकुसू ने परमार्थ की इस वसुबन्धु की जीवनी का न केवल अनुवाद ही किया है, अपि तु उसका समीक्षात्मक विशिष्ट अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। उनके विवरण के अनुसार वसुबन्धु का जन्म बुद्ध के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष के अनन्तर हुआ। इस गणना के अनुसार ईसवीय पंचम शताब्दी उनका समय निश्चित होता है। इससे विक्रमादित्य—बालादित्य की समकालीनता भी समर्थित हो जाती है। महाकवि वामन ने अपने काव्यालङ्कार में भी यह बात कही है।

आचार्य कुमारजीव ने वसुबन्धु के अनेक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया है। वे ३४४ से ४१३ ईसवीय वर्षों में विद्यमान थे। सुना जाता है कि कुमारजीव ने अपने गुरु सूर्यसोम से वसुबन्धु के सद्धर्मपुण्डरीकोपदेश—शास्त्र का अध्ययन किया था। आर्यदेवविरचित शतशास्त्र की वसुबन्धुरचित व्याख्या का चीनी भाषा में अनुवाद ४०४वें ईसवीय वर्ष में तथा वसुबन्धुप्रणीत बोधिचित्तोत्पादशास्त्र का ४०५वें वर्ष में चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। बोधिरुचि ने वसुबन्धुकृत वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिताशास्त्र की वज्रर्षिकृत व्याख्या का अनुवाद ५३५ ईसवीय वर्ष में सम्पन्न किया था। इन प्रमाणों के आधार पर महायान—ग्रन्थों के रचयिता वसुबन्धु का समय चतुर्थ ईसवीय शताब्दी निश्चित होता है। चतुर्थ शतक में उत्पन्न वसुबन्धु अभिधर्मकोशकार वसुबन्धु से भिन्न

प्रतीत होते हैं। अभिधर्मकोश के व्याख्याकार यशोमित्र अपनी व्याख्या में वसुबन्धु नामक एक अन्य आचार्य की सूचना देते हैं। वे उन्हें 'वृद्धाचार्य वसुबन्धु' कहते हैं। तिब्बती परम्परा आचार्य को बुद्ध के नवम शतक में विद्यमान मानती है। बीसवीं शताब्दी में भोटदेशीय इतिहासकार गे—दुन्—छोस्—फेल महोदय का कहना है कि भोटदेशीय सम्राट् स्रोङ्—चन्—गम्पो, भारतीय सम्राट् श्रीहर्ष, आचार्य दिङ्नाग, कवि कालिदास, आचार्य दण्डी, इस्लाम धर्मप्रवर्तक मोहम्मद साहब ये सब महापुरुष कुछ काल के अन्तर से प्रायः समान कालिक थे। परमार्थ, ह्वेनसांग, तारानाथ, ताकाकुसू आदि इतिहासवेत्ताओं का कहना है दो वसुबन्धुओं की कल्पना निरर्थक है, वसुबन्धु एक ही थे और वे ४२० से ५०० ईसवीय वर्षों के मध्य विद्यमान थे। आधुनिक इतिहासकार भी इसी मत का समर्थन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

कृतियाँ

आचार्य वसुबन्धु की अनेक कृतियां हैं। हम उनके ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में संलग्न कर रहे हैं, जिनका आधार विशेषतः तिब्बती कंजूर और तंजूर है[१]।

परवर्ती परम्परा

आचार्य वसुबन्धु के बाद सभी अठारह बौद्ध निकायों में तत्त्वमीमांसा की प्रणाली में कुछ नया परिवर्तन दिखाई देता है। तत्त्वचिन्तन के विषय में यद्यपि इसके पहले भी तर्कप्रधान विचारपद्धति सौत्रान्तिकों द्वारा आरम्भ की गई थी और आचार्य नागार्जुन ने इसी तर्कपद्धति का आश्रय लेकर महायान दर्शनप्रस्थान को प्रतिष्ठित किया था, स्वयं आचार्य वसुबन्धु भी प्रमाणमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और वादविधि के प्रकाण्ड पण्डित थे, फिर भी वसुबन्धु के बाद ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में कुछ इस प्रकार का विकास दृष्टिगोचर होता है, जिससे सौत्रान्तिकों की वह प्राचीन प्रणाली अपने स्थान से किञ्चित् परिवर्तित सी दिखाई देती है। उनके सिद्धान्तों और पूर्व मान्यताओं में भी परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। अपनी तर्कप्रियता, विकासोन्मुख प्रकृति एवं मुक्तचिन्तन की पक्षपातिनी दृष्टि के कारण वे अन्य दर्शनों की समकक्षता में आ गये। ज्ञात है कि प्राचीन

१. द्र०— प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३४४।

सौत्रान्तिक 'आगमानुयायी' कहलाते थे । उनका साम्प्रदायिक परिवेश अब बदलने लगा । यह परिवर्तन सौत्रान्तिकों में विचारों की दृष्टि से संक्रमण काल कहा जा सकता है । इसी काल में आचार्य दिङ्नाग का प्रादुर्भाव होता है । उन्होंने प्रमाणमीमांसा के आधार पर सौत्रान्तिक दर्शन की पुनः परीक्षा की और उसे नए तरीके से प्रतिष्ठापित किया । दिङ्नाग के बाद सौत्रान्तिकों की प्राचीन आगमानुयायी परम्परा प्रायः नामशेष हो गई । उस परम्परा में कोई प्रतिभासम्पन्न आचार्य उत्पन्न होते दिखलाई नहीं देता ।

(५) आचार्य दिङ्नाग

आचार्य दिङ्नाग का जन्म दक्षिण भारत के काञ्चीनगर के समीप सिंहवक्त्र नामक स्थान पर विद्या–विनयसम्पन्न ब्राह्मण कुल में हुआ था । उन्होंने अपने आरम्भिक जीवन में परम्परागत सभी तैर्थिक शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया था और उनमें पूर्ण पारंगत पण्डित हो गये थे । इसके बाद वे वात्सीपुत्रीय निकाय के महास्थविर नागदत्त से प्रव्रज्या ग्रहण कर बौद्ध भिक्षु हो गये । 'दिङ्नाग' यह नाम प्रव्रज्या के अवसर पर दिया हुआ उनका नाम है । महास्थविर नागदत्त से ही उन्होंने समस्त श्रावक पिटकों एवं शास्त्रों का अध्ययन किया था और उनमें परम निष्णात हो गये थे । एक दिन महास्थविर नागदत्त ने उन्हें शमथ और विपश्यना विषय को समझाते हुए अनिर्वचनीय पुद्गल की देशना की । दिङ्नाग अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि के स्वतन्त्र विचारक पण्डित थे । उन्हें अनिर्वचनीय पुद्गल का सिद्धान्त रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ । गुरु के उपदेश की परीक्षा के लिए अपने निवास–स्थान पर आकर उन्होंने दिन में सारे दरवाजों–खिड़कियों को खोलकर तथा रात में चारों ओर दीपक जलाकर कपड़ों को उतार कर सिर से पैर तक सारे अंगों को बाहर–भीतर सूक्ष्म रूप से निरीक्षण करते हुए अनिर्वचनीय पुद्गल को देखना शुरु किया । अपने साथ अध्ययन करने वाले साथियों के यह पूछने पर कि 'यह आप क्या कर रहे हैं' ? दिङ्नाग ने कहा–'पुद्गल की खोज कर रहा हूं' । सूक्ष्मतया निरीक्षण करने पर भी उन्होंने कहीं पुद्गल की प्राप्ति नहीं की । शिष्यपरम्परा से यह बात महास्थविर गुरु नागदत्त तक पहुंच गई । नागदत्त को लगा कि दिङ्नाग हमारा अपमान कर रहा है और अपने निकाय के सिद्धान्तों के प्रति उसे अविश्वास है । गुरु ने दिङ्नाग पर कुपित होकर उन्हें संघ से बाहर निकाल दिया । निकाल दिये जाने के बाद क्रमशः चारिका करते हुए वे आचार्य वसुबन्धु के समीप पहुँचे ।

इस अनुश्रुति से यह निष्कर्ष निकलता है कि दिङ्नाग पहले वात्सीपुत्रीय निकाय में प्रव्रजित हुए थे, किन्तु उस निकाय के दार्शनिक सिद्धान्त उन्हें रुचिकर प्रतीत नहीं हुए । इसके बाद आचार्य वसुबन्धु के समीप रहकर उन्होंने समस्त श्रावक और महायान पिटक, सम्पूर्ण बौद्ध शास्त्र और विशेषतः प्रमाणशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया ।

कहा जाता है कि आचार्य वसुबन्धु के चार शिष्य अपने–अपने विषयों में वसुबन्धु से भी अधिक विद्वान् थे । जैसे–(१) आचार्य गुणप्रभ विनय–शास्त्रों में, (२) आचार्य स्थिरमति अभिधर्म विषय में, (३) आर्य विमुक्तिसेन प्रज्ञापारमिताशास्त्र में तथा (४) आचार्य दिङ्नाग प्रमाणशास्त्र में । कुछ विद्वानों की राय है कि आचार्य विमुक्तिसेन दिङ्नाग के शिष्य थे, वसुबन्धु के नहीं । भोटदेशीय विद्वत्परम्परा तो उन्हें वसुबन्धु का शिष्य ही निर्धारित करती है । भारतीय इतिहास के मर्मज्ञ भोटविद्वान् लामा तारानाथ का कहना है कि त्रिरत्न दास और संघदास भी वसुबन्धु के शिष्य थे ।

समय

आचार्य दिङ्नाग के समय को लेकर विद्वानों में विवाद अधिक है । डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण उनका काल ईसवीय सन् ४५० से ५२० के बीच निर्धारित करते हैं । डॉ० एस०एन० दास गुप्त उन्हें ईसवीय पाँचवीं शताब्दी के अन्त में उत्पन्न मानते हैं । डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य मानते हैं कि वे ३४५ से ४२५ ईसवीय वर्षों में विद्यमान थे । पण्डित दलसुखभाई मालवणियां इस मत का समर्थन करते हैं । न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन और प्रशस्तपाद के मतों की दिङ्नाग ने युक्तिपूर्वक समालोचना की है तथा न्यायवार्तिकार उद्योतकर ने दिङ्नाग के मत की । दिङ्नाग की रचनाओं का अनुवाद चीनी भाषा में ५५७ से ५६९ ईसवीय वर्षों में सम्पन्न हो गया था । इन सब साक्ष्यों के आधार पर आचार्य दिङ्नाग का काल ईसवीय पांचवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानना समीचीन मालूम होता है । महापण्डित राहुल सांकृत्यायन भी उन्हें ४२५ ईसवीय वर्ष में विद्यमान मानते हैं ।

कृतियां

आचार्य दिङ्नाग की अनेक रचनाएं हैं । उन्होंने विभिन्न विषयों पर ग्रन्थों का प्रणयन किया है । सूची लम्बी है, अतः हम भोटभाषा में उपलब्ध तनग्युर–संग्रह के आधार पर उनकी कृतियों की एक तालिका प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में प्रकाशित कर रहे हैं[१] ।

युक्त्यनुयायी सौत्रान्तिक

आचार्य दिङ्नाग के प्रायः सभी ग्रन्थ विशुद्ध प्रमाणमीमांसा से सम्बद्ध तथा स्वतन्त्र एवं मौलिक ग्रन्थ हैं । इसीलिए वे भारतीय तर्कशास्त्र के प्रवर्तक महान् तार्किक माने जाते हैं । इन ग्रन्थों में जिन विषयों का आचार्य ने प्रतिपादन किया है, वे सौत्रान्तिक दर्शन सम्मत ही हैं । बाह्यार्थ की सत्ता एवं ज्ञान की साकारता को मानते हुए उन्होंने विषय का निरूपण किया है । प्रमाणसमुच्चय के अवलोकन से यह निश्चित होता है कि केवल प्रमाणफल के निरूपण के अवसर पर ही उन्होंने विज्ञानवादी दृष्टिकोण अपनाया है । प्रमाण और प्रमेयों की स्थापना उन्होंने विशेषतः सौत्रान्तिक दर्शन के अनुरूप ही की है । दिङ्नाग के इन विचारों ने सौत्रान्तिक निकाय के चिन्तन की एक अपूर्व दिशा उद्घाटित की है, जिससे उक्त निकाय के चिन्तन में नूतन परिवर्तन परिलक्षित होता है । दिङ्नाग के इस प्रयास से तत्त्वचिन्तन के क्षेत्र में तर्कविद्या की महती प्रतिष्ठा हुई और ज्ञान की परीक्षा के नए नियम विकसित हुए तथा वे नियम सभी शास्त्रीय–परम्पराओं और सम्प्रदायों में मान्य हुए । वास्तव में दिङ्नाग से ही विशुद्ध तर्कशास्त्र प्रारम्भ हुआ । फलतः सौत्रान्तिक निकाय ने आगम की परिधि से बाहर निकल कर अभ्युदय और निःश्रेयस के साधक दार्शनिक क्षेत्र में पदार्पण किया ।

दिङ्नाग के बाद आचार्य धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के ग्रन्थों में छिपे हुए गूढ तथ्यों का प्रकाशन करते हुए सात ग्रन्थों (सप्त प्रमाणशास्त्र) की रचना की । उन ग्रन्थों में न्यायपरमेश्वर धर्मकीर्ति ने बुद्धवचनों की नेयार्थता और नीतार्थता का विवेचन करते हुए शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि प्रज्ञापारमिता सूत्रों को बुद्धवचन के रूप में प्रमाणित किया । आचार्य धर्मकीर्ति के इस सत्प्रयास से

१. द्र० – प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३४७ ।

दिङ्नाग के बारे में जो मिथ्यादृष्टियां और भ्रम उत्पन्न हो गये थे, उनका निरास हुआ । लोग कहते थे कि दिङ्नाग ने केवल वाद–विवाद एवं जय–पराजय मूलक तर्कशास्त्रों की रचना की है । उनमें मार्ग और फल का निरूपण नहीं है और ऐसे शास्त्रों की रचना करना अध्यात्मप्रधान बौद्ध धर्म के अनुयायी एक भिक्षु को शोभा नहीं देता । धर्मकीर्ति की व्याख्या की वज़ह से दिङ्नाग समस्त बुद्ध वचनों के उत्कृष्ट व्याख्याता और महान् रथी सिद्ध हुए । और भी, सौत्रान्तिकों की दार्शनिक परम्परा का नया आयाम प्रकाशित हुआ । फलतः इन दोनों के बाद सौत्रान्तिक दर्शन के जो भी आचार्य उत्पन्न हुए, वे सब 'युक्ति–अनुयायी सौत्रान्तिक' कहलाए । इसी परम्परा में आगे चलकर प्रसिद्ध सौत्रान्तिक आचार्य शुभगुप्त भी उत्पन्न हुए ।

युक्ति–अनुयायी सौत्रान्तिक दर्शन–प्रस्थान के विकास में निःसन्देह आचार्य धर्मकीर्ति का योगदान रहा है, किन्तु इसका प्राथमिक श्रेय आर्य दिङ्नाग को जाता है । यह सही है कि प्रमाणशास्त्र और न्यायप्रक्रिया के विकास में आचार्य धर्मकीर्ति के विशिष्ट मत और मौलिक उद्भावनाएं रही हैं, किन्तु सभी परवर्ती आचार्य और विद्वान् उन्हें दिङ्नाग के व्याख्याकार ही मानते हैं । धर्मकीर्ति द्वारा प्रणीत सभी ग्रन्थों के विषय वे ही रहे हैं, जो दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय के हैं । यद्यपि धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक के प्रथम परिच्छेद में प्रमेयव्यवस्था और प्रमाणफल की स्थापना के सन्दर्भ में विज्ञप्तिमात्रता की चर्चा की है और इस तरह विज्ञानवाद की प्रतिष्ठा की है, किन्तु इन थोड़े स्थानों को छोड़कर शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ में सौत्रान्तिक दृष्टि से ही विषय की स्थापना की है । इसलिए आचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति यद्यपि महायान के अनुयायी हैं, फिर भी यह कहने में हमें कुछ भी संकोच नहीं है कि ये दोनों सौत्रान्तिक आचार्य थे । युक्ति–अनुयायी सौत्रान्तिक दर्शनपरम्परा का स्वरूप उसके दर्शन के स्वरूप का निरूपण करते समय आगे यथास्थान किया जाएगा ।

आचार्य धर्मकीर्ति के बारे में विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना यहां अनावश्यक है । उनके प्रमेय सम्बन्धी विचार आचार्य दिङ्नाग के समान ही हैं । धर्मकीर्ति द्वारा प्रणीत प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, सन्तानान्तरसिद्धि और वादन्याय सातों प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय की टीका के रूप में उपनिबद्ध हैं । यद्यपि इन ग्रन्थों में प्रमेयव्यवस्था के अवसर पर युक्ति–अनुयायी सौत्रान्तिक और युक्ति–अनुयायी

विज्ञानवादियों की विचारधारा के अनुरूप तत्त्वमीमांसा की विशेष रूप से चर्चा की गई है, तथापि ये ग्रन्थ मुख्य रूप से प्रमाणमीमांसा के प्रतिपादक ही हैं ।

प्रमाणसमुच्चय–ज्ञात है कि यह ग्रन्थ आचार्य दिङ्नाग की कृति है । यह आचार्य की अनेक छिटपुट रचनाओं का समुच्चय है और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । यह महनीय भावी बौद्ध न्याय के विकास का आधार और बौद्ध विचारों में नई उत्क्रान्ति का वाहक रहा है । इस ग्रन्थ के प्रभाव से भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारा में नए एवं विशिष्ट परिवर्तन का सूत्रपात हुआ । ज्ञान के सम्यक्त्व की परीक्षा, पूर्वाग्रहमुक्त तत्त्वचिन्तन, प्रमाण के प्रामाण्य आदि का निर्धारण आदि वे विशेषताएं हैं, जिनका विश्लेषण दिङ्नाग के बाद प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में बहुलता से प्रारम्भ होता है । इस प्रकार हम विशुद्ध ज्ञानमीमांसा और निरपेक्ष प्रमाणमीमांसा का प्रादुर्भाव दिङ्नाग के बाद घटित होते हुए देखते हैं ।

इस ग्रन्थ में छह परिच्छेद हैं, यथा–प्रत्यक्षपरिच्छेद, स्वार्थानुमान परिच्छेद, परार्थानुमान परिच्छेद, दृष्टान्तपरीक्षा, अपोहपरीक्षा एवं जात्युत्तर परीक्षा । इन परिच्छेदों के विषय उनके नाम से ही प्रकट है । इनमें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की सुस्पष्ट स्थापना, प्रमाणद्वय का स्पष्ट निर्धारण, ज्ञान की ही प्रमाणता, साधन और दूषण का विवेचन, शब्दार्थ–विषयक चिन्तन (अपोहविचार), प्रमाण और प्रमाणफल की एकात्मकता एवं प्रसङ्ग के स्वरूप का निर्धारण आदि विषय विशेष रूप से चर्चित हुए हैं ।

(६) आचार्य शुभगुप्त

इतिहास में इनके नाम की बहुत कम चर्चा हुई है । 'कल्याणरक्षित' नाम भी ग्रन्थों में उपलब्ध होता है । वस्तुतः भोट भाषा में इनके नाम का अनुवाद 'द्गे–सुङ्' हुआ है । 'शुभ' शब्द का अर्थ 'कल्याण' तथा 'गुप्त' शब्द का अर्थ 'रक्षित' भी होता है । अतः नाम के ये दो पर्याय उपलब्ध होते हैं । शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह की 'पंजिका' टीका में कमलशील ने 'शुभगुप्त' इस नाम का अनेकधा व्यवहार किया है । अतः यही नाम प्रामाणिक प्रतीत होता है, फिर भी इस विषय में विद्वान् ही प्रमाण हैं ।

शुभगुप्त कहाँ उत्पन्न हुए थे, इसकी प्रमाणिक सूचना नहीं है, फिर भी इनका कश्मीर–निवासी होना अधिक संभावित है । भोटदेशीय परम्परा इस सम्भावना की पुष्टि करती है । धर्मोत्तर इनके साक्षात् शिष्य थे, अतः तक्षशिला इनकी विद्याभूमि रही है । आचार्य धर्मोत्तर की कर्मभूमि कश्मीर–प्रदेश थी, ऐसा डॉ0 विद्याभूषण का मत है ।

समय

इनके काल के बारे में भी विद्वानों में विवाद है, फिर भी इतना निश्चित है कि आचार्य शान्तरक्षित और आचार्य धर्मोत्तर से ये पूर्ववर्ती थे । आचार्य धर्माकरदत्त और शुभगुप्त दोनों धर्मोत्तर के गुरु थे । भोटदेश के सभी इतिहासज्ञ इस विषय में एकमत हैं । परवर्ती भारतीय विद्वान् भी इस मत का समर्थन करते हैं । आचार्य शुभगुप्त शान्तरक्षित से पूर्ववर्ती थे, इस विषय में शान्तरक्षित का ग्रन्थ 'मध्यमकालङ्कार' ही प्रमाण है । सौत्रान्तिक मतों का खण्डन करते समय ग्रन्थकार ने शुभगुप्त की कारिका का उद्धरण किया है ।

पण्डित सुखलाल संघवी का कथन है कि आचार्य धर्माकरदत्त ७२५ ईसवीय वर्ष से पूर्ववर्ती थे । जैन दार्शनिक आचार्य अकलङ्क ने धर्मोत्तर के मत की समीक्षा की है । पण्डित महेन्द्रमार के मतानुसार अकलङ्क का समय ईसवीय वर्ष ७२०–७८० है । इसके अनुसार धर्मोत्तर का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित होता है । धर्मोत्तर शुभगुप्त के शिष्य थे, अतः उनके गुरु शुभगुप्त का काल ईशवीय सप्तम शतक निर्धारित करने में कोई बाधा नहीं दिखती ।

डॉ0 एस0 एन0 गुप्त धर्मोत्तर का समय ८४७ ईसवीय वर्ष निर्धारित करते हैं तथा डॉ0 विद्याभूषण उनके गुरु शुभगुप्त का काल ईसवीय ८२९ वर्ष स्वीकार करते हैं । डॉ0 विद्याभूषण के कालनिर्धारण का आधार महाराज धर्मपाल का समय है । किन्तु ये कौन धर्मपाल थे, इसका निश्चय नहीं है । दूसरी ओर आचार्य शान्तरक्षित जिस शुभगुप्त की कारिका उद्धृत करके उसका खण्डन करते हैं, उनका भोटदेश में ७९० ईसवीय वर्ष में निधन हुआ था । ७९२ ईसवीय वर्ष में भोटदेश में शान्तरक्षित के शिष्य आचार्य कमलशील का 'सम्या छिम्बु' नामक महाविहार में चीन देश के प्रसिद्ध विद्वान् 'ह्वशंग' के साथ माध्यमिक दर्शन पर शास्त्रार्थ हुआ था । इस शास्त्रार्थ में ह्वशंग की पराजय हुई थी, इसका उल्लेख चीन और जापान के प्रायः सभी इतिहासवेत्ता करते हैं ।

इन विवरणों से आचार्य शान्तरक्षित का काल सुनिश्चित होता है । फलतः डॉ0 विद्याभूषण का मत उचित एवं तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जिनके सिद्धान्तों का खण्डन शान्तरक्षित ने किया हो और जिनका निधन ७९० ईसवीय वर्ष में हो गया हो, उनसे पूर्ववर्ती आचार्य शुभगुप्त का काल ८२९ ईसवीय वर्ष कैसे हो सकता है ।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन आचार्य धर्मकीर्ति का काल ६०० ईसवीय वर्ष निश्चित करते हैं । उनकी शिष्य–परम्परा का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है, यथा–देवेन्द्रबुद्धि, शाक्यबुद्धि, प्रज्ञाकर गुप्त तथा धर्मोत्तर । आचार्य देवेन्द्रबुद्धि का काल उनके मतानुसार ६५० ईसवीय वर्ष है । गुरु–शिष्य के काल में २५ वर्षों का अन्तर सभी इतिहासवेत्ताओं द्वारा मान्य है । किन्तु यह नियम सभी के बारे में लागू नहीं होता । ऐसा सुना जाता है कि देवेन्द्रबुद्धि आचार्य धर्मकीर्ति से भी उम्र में बड़े थे । और उन्होंने आचार्य दिङ्नाग से भी न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था । धर्मोत्तर के दोनों गुरु धर्माकरदत्त और शुभगुप्त प्रज्ञाकरगुप्त के समसामयिक थे । इस स्थिति में शुभगुप्त का समय ईसवीय सप्तम शताब्दी निश्चित किया जा सकता है । महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की भी इस तिथि में विमति नहीं है । इस बारे में और भी वक्तव्य हैं, किन्तु विस्तारभय से यहीं विराम किया जा सकता है ।

कृतियां

भदन्त शुभगुप्त युक्ति–अनुयायी सौत्रान्तिकों के अन्तिम और लब्धप्रतिष्ठ आचार्य थे । उनके बाद ऐसा कोई आचार्य ज्ञात नहीं है, जिसने सौत्रान्तिक दर्शनपर स्वतन्त्र और मौलिक रचना की हो । यद्यपि धर्मोत्तर आदि भारतीय तथा जमयङ्–जद्–पई, तक्–छङ्–पा आदि भोट आचार्यों ने बहुत कुछ लिखा है, किन्तु वह पूर्व आचार्यों की व्याख्यामात्र है, नूतन और मौलिक नहीं है । आज भी दिङ्नागीय परम्परा के सौत्रान्तिक दर्शन के विद्वान् थोड़े–बहुत हो सकते हैं, किन्तु मौलिक शास्त्रों के रचयिता नहीं हैं ।

आचार्य शुभगुप्त ने कुल कितने ग्रन्थों की रचना की, इसकी प्रामाणिक जानकारी नहीं है । उनका कोई भी ग्रन्थ मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं है । भोट भाषा और चीनी भाषा में उनके पांच ग्रन्थों के अनुवाद सुरक्षित हैं,

यथा–(१) सर्वज्ञसिद्धिकारिका, (२) बाह्यार्थसिद्धिकारिका, (३) श्रुतिपरीक्षा, (४) अपोहविचारकारिका एवं (५) ईश्वरभङ्गकारिका ।

ये सभी ग्रन्थ लघुकाय हैं, किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । इनका प्रतिपाद्य विषय इनके नाम से ही स्पष्ट है, यथा–सर्वज्ञसिद्धिकारिका में विशेषतः जैमिनीय दर्शन का खण्डन है, क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं मानते । ग्रन्थ में युक्तिपूर्वक सर्वज्ञ की सिद्धि की गई है । बाह्यार्थसिद्धि कारिका में जो विज्ञानवादी बाह्यार्थ नहीं मानते, उनका खण्डन करके सप्रमाण बाह्यार्थ की सत्ता सिद्ध की गई है । श्रुतिपरीक्षा में शब्दनित्यता, शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता और शब्द की विधिवृत्ति का खण्डन किया गया है । 'श्रुति' का अर्थ वेद है । वेद की अपौरुषेयता का सिद्धान्त मीमांसकों का प्रमुख सिद्धान्त है, उसका ग्रन्थ में युक्तिपूर्वक निराकरण प्रतिपादित है । अपोहविचारकारिका में शब्दऔर कल्पना की विधिवृत्तिता का खण्डन करके उन्हें अपोहविषयक सिद्ध किया गया है । अपोह ही शब्दार्थ है, यह बौद्धों का प्रसिद्ध सिद्धान्त है, इसका इसमें मण्डन किया है । वैशिषिक सामान्य को शब्दार्थ स्वीकार करते हैं, ग्रन्थ में सामान्य का विस्तार के साथ खण्डन किया गया है । ईश्वरभङ्गकारिका में इस बात का खण्डन किया गया है, कि ईश्वर जो नित्य है, वह जगत् का कारण है । ग्रन्थ में नित्य को कारण मानने पर अनेक दोष दर्शाए गये हैं ।

इन ग्रन्थों से सौत्रान्तिक दर्शन की विलुप्त परम्परा का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है ।

भोटदेशीय सौत्रान्तिक आचार्य

यद्यपि शुभगुप्त के बाद कोई सौत्रान्तिक आचार्य और उनकी रचना इतिहास में ज्ञात नहीं है, किन्तु इनकी दर्शन परम्परा और व्याख्याकार आचार्य अवश्य रहे होंगे । अज्ञात ऐतिहासिक कारणों से १२–१३वीं ईसवीय शताब्दी में बौद्ध धर्म भारत से लुप्त हो गया, फलतः बौद्ध आचार्य और ग्रन्थ भारत में दुष्प्राप्य हो गये । यद्यपि बौद्ध धर्म तिब्बत में ७वीं शताब्दी में पहुंच गया था, किन्तु न्याशास्त्र परम्परा वहां भारत के महापण्डित शाक्यश्रीभद्र के १२वीं शताब्दी में पहुंचने पर प्रारब्ध हुई । साक्या पण्डित कुन्–गा–ग्यल्छन् ने 'प्रमाणयुक्तिनिधि' ग्रन्थ लिखकर इस परम्परा को वहां पुष्टि प्रदान की । इसकी प्रमेयव्यवस्था सौत्रान्तिक दर्शन–सम्मत है । इसके बाद चौदहवीं शताब्दी में

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, विविध शास्त्रों के ज्ञाता और रचयिता महापण्डित आचार्य सुमतिकीर्ति चोंखापा तिब्बत में उत्पन्न हुए । उन्होंने न्यायशास्त्र पर 'सप्तप्रमाणशास्त्रप्रवेशद्वार' नामक एक ग्रन्थ की रचना की । उनके शिष्यों में आचार्य 'खेडुब् जे' ने 'सप्तप्रमाणशास्त्रालङ्कार' ग्रन्थ का प्रणयन किया । १५–१६वीं शताब्दी में आचार्य 'गे–दुन्–डुब्' ने 'प्रमाणशास्त्रन्यायालङ्कार' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा । ये सब ग्रन्थ सौत्रान्तिक दर्शन का ही अनुविधान करते हैं । 'तक्–छङ्–डुब्–था' में भी सौत्रान्तिक दर्शन की विस्तृत एवं प्रामाणिक चर्चा है । १७वीं शताब्दी में उत्पन्न 'जम्–यङ्–जद्–पई' महोदय द्वारा निर्मित 'डुब् था' के नवम परिच्छेद में सौत्रान्तिक दर्शन भूरिशः चर्चित है, इसे हम सौत्रान्तिक दर्शन का स्वतन्त्र और मौलिक ग्रन्थ भी कह सकते हैं । १८वीं शताब्दी में वहां महापण्डित 'चङ्–क्या–रोल्–पई–दोर्जे का जन्म हुआ । उन्होंने अपने 'मुनिशासनसुमेरु' नामक 'डुब्–था' में सौत्रान्तिक दर्शन पर एक परिच्छेद लिखा है, जो सौत्रान्तिक दर्शन पर एक स्वतन्त्र एवं मौलिक ग्रन्थ के समकक्ष है । यद्यपि 'थोडकन्–छोस्–क्यि–त्रिमा' नामक विद्वान् का भी एक उच्च कोटि का 'डुब् था' है, किन्तु सौत्रान्तिक दर्शन की उसमें प्रसङ्गतः ही चर्चा है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सौत्रान्तिक दर्शन परम्परा भारत में १२–१३वीं शताब्दी तक अनवरत प्रवृत्त रही । उसके बाद भोट देश में ग्रन्थ प्रणयन होता रहा । यद्यपि अध्ययन–परम्परा आज भी विद्यमान है, किन्तु स्वतन्त्र लेखन का क्रम अब प्रायः अवरुद्ध है । हमने कहा है कि आचार्य दिङ्नाग के बाद इस दर्शन की प्रवृत्ति प्रमाणमीमांसा की ओर अभिमुख हो गई । यद्यपि आज सौत्रान्तिक निकाय विद्यमान नहीं है, किन्तु गम्भीर शास्त्रीय अध्ययन निश्चित रूप से उनके द्वारा स्थापित प्रमाणमीमांसा पर ही निर्भर है । आज सौत्रान्तिक दर्शन का कोई भी ग्रन्थ मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं है और न कहीं अनुवाद रूप में ही । प्रमाणशास्त्र के कुछ ग्रन्थ प्रमाणवार्तिक आदि अवश्य उपलब्ध हैं ।

प्रमुख सौत्रान्तिक सिद्धान्त

सौत्रान्तिकों की जो प्रमुख विशेषताएं हैं, जिनकी वज़ह से वे अन्य बौद्ध, अबौद्ध दार्शनिकों से भिन्न हो जाते हैं, अब हम उन विशेषताओं की ओर संकेत करना चाहते हैं ।

ज्ञात है कि बौद्ध धर्म में अनेक निकायों का विकास हुआ । यद्यपि उनकी दार्शनिक मान्यताओं में भेद हैं, फिर भी बुद्धवचनों के प्रति गौरव बुद्धि सभी में समान रूप से पाई जाती है । सभी निकायों के पास अपने–अपने त्रिपिटक थे । ऐतिहासिक क्रम में महायान का भी उदय हो गया । यह निःसन्दिग्ध है कि पुरुषार्थ–सिद्धि सभी भारतीय दर्शनों का परम लक्ष्य है । इसी लक्ष्य को ध्यान में रख कर बौद्धों में यानों की व्यवस्था की गई है । उनके दर्शनों का गठन भी यानव्यवस्था पर आधारित है । इसके आधारभूत तत्त्व तीन होते हैं, यथा–(१) आश्रय, वस्तु आलम्बन या पदार्थ (२) आश्रित मार्ग (शील, समाधि, प्रज्ञा) (३) प्रयोजन या लक्ष्यभूत फल ।

(१) आश्रय, वस्तु या पदार्थ–मीमांसा के अवसर पर दो सत्यों अर्थात् परमार्थ सत्य और संवृति सत्य की चर्चा की जाती है ।

परमार्थ सत्य–सौत्रान्तिकों की दो धाराओं में से आगम–अनुयायी सौत्रान्तिकों के अनुसार यन्त्र आदि उपकरणों के द्वारा विघटन कर देने पर अथवा बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने पर जिस विषय की पूर्व बुद्धि नष्ट नहीं होती वह 'परमार्थ सत्य' है । यथा–नील, पीत, चित्त, परमाणु, निर्वाण आदि का कितना ही विघटन या विश्लेषण किया जाए, फिर भी नीलबुद्धि, परमाणुबुद्धि या निर्वाणबुद्धि नष्ट नहीं होती, अतः ऐसे पदार्थ उनके मत में परमार्थ सत्य माने जाते हैं । इस मत में चारों आर्यसत्यों के जो सोलह आकार होते हैं, वे परमार्थतः सत् माने जाते हैं । ज्ञात है कि प्रत्येक सत्य के चार आकार होते हैं । जैसे दुःखसत्य के अनित्यता, दुःखता, शून्यता एवं अनात्मता ये चार आकार हैं । समुदय सत्य के समुदय, हेतु, प्रत्यय और प्रभव ये चार आकार, निरोध सत्य के निरोध, शान्त, प्रणीत एवं निःसरण ये चार आकार तथा मार्गसत्य के मार्ग, न्याय, प्रतिपत्ति और नैर्याण ये चार आकार होते हैं । इस तरह कुल १६ आकार होते हैं ।

युक्ति–अनुयायी सौत्रान्तिक मत के अनुसार जो परमार्थतः अर्थक्रिया–समर्थ है और प्रत्यक्ष आदि प्रामाणिक बुद्धि का विषय है, वह 'परमार्थ सत्य' है, जैसे–घट आदि । इस मत के अनुसार योगी का समाहित ज्ञान संस्कार स्कन्धों का ही साक्षात् प्रत्यक्ष करता है तथा उनकी आत्मशून्यता और निर्वाण का ज्ञान तो उस प्रत्यक्ष के सामर्थ्य से होता है ।

संवृतिसत्य–इस मत में पाँच स्कन्ध संवृतिसत्य हैं । परमार्थतः अर्थक्रियासमर्थ न होना संवृतिसत्य का लक्षण है । संवृतिसत्य, सामान्यलक्षण, नित्य, असंस्कृत एवं अकृतक धर्म पर्यायवाची हैं । संवृति का तात्पर्य विकल्प ज्ञान से है । उसके प्रतिभास स्थल में जो सत्य है, वह संवृतिसत्य है । विकल्प को संवृति इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह वस्तु की यथार्थ स्थिति के ग्रहण में आवरण करता है । आगमानुयायी सौत्रान्तिकों के अनुसार यन्त्र आदि उपकरणों द्वारा विघटन करने पर या बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने पर जिन पदार्थों की पूर्वबुद्धि नष्ट हो जाती है, वे संवृतिसत्य हैं, यथा–घट, अम्बु आदि ।

इस दर्शन में पाँच प्रकार के प्रमेय माने जाते हैं, यथा–रूप, चित्त, चैतसिक, विप्रयुक्त संस्कार एवं असंस्कृत निर्वाण । ये स्कन्ध, आयतन और धातुओं में यथायोग्य संगृहीत होते हैं ।

(२) आश्रित मार्ग

जिस मार्ग की भावना की जाती है, वह मार्ग वस्तुतः सम्यग् ज्ञान ही है । नैरात्म्य ज्ञान, चारों आर्यसत्यों के सोलह आकारों का ज्ञान, सैंतीस बोधिपक्षीय धर्म, चार अप्रमाण, नौ अनुपूर्व समापत्तियां–ये धर्म यथायोग्य लौकिक और अलौकिक मार्गों में संगृहीत होते हैं ।

(३) फल

स्रोत आपन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् ये चार आर्य पुद्गल होते हैं । ये चारों मार्गस्थ और फलस्थ दो प्रकार के होते हैं, अतः आर्यपुद्गलों की संख्या आठ मानी जाती है । सोपधिशेष निर्वाण प्राप्त और निरुपधिशेष निर्वाण प्राप्त–इस तरह अर्हत् पुद्गल भी द्विविध होते हैं । प्रत्येकबुद्धत्व और सम्यक् संबुद्धत्व भी फल माने जाते हैं । बुद्धत्वप्राप्ति और अर्हत्त्वप्राप्ति के मार्ग में यद्यपि ज्ञानगत कोई विशेषता इस मत में नहीं मानी जाती, किन्तु पारमिताओं की

पूर्ति का दीर्घकालीन अभ्यास अर्थात् पुण्यसंचय बुद्धत्वप्राप्ति के मार्ग की विशेषता मानी जाती है ।

फलस्थ पुद्गल

जैसे श्रावकयान में चार मार्गस्थ और चार फलस्थ आठ आर्यपुद्गल माने जाते हैं, वैसे ही इस मत के अनुसार प्रत्येकबुद्धयान में भी आर्य पुद्गलों की व्यवस्था की जाती है । किन्तु खड्गोपम प्रत्येकबुद्ध निश्चय ही अर्हत् से भिन्न होता है । वह बुद्ध आदि के उपदेशों की बिना अपेक्षा किये आन्तरिक स्वतः स्फूर्त ज्ञान द्वारा निर्वाण का अधिगम करता है । उसका निरुपधिशेष निर्वाण बुद्ध से शून्य देश और काल में होता है । मार्गस्थ और फलस्थ आर्य पुद्गलों के पारमार्थिक संघ में बीस प्रकार के पुद्गल होते हैं । इनका ज्ञान अभिसमयालङ्कार और अभिधर्मकोश आदि के द्वारा कर लेना चाहिए ।

सौत्रान्तिक दर्शन की दस विशेषताएं

(१) क्षणभङ्ग सिद्धि

बौद्ध लोग, जो प्रत्येक वस्तु के उत्पाद, स्थिति और भङ्ग ये तीन लक्षण मानते हैं, उनको लेकर बौद्धेतर दार्शनिकों के साथ उनके बहुत व्यापक, गम्भीर और दीर्घकालीन विवाद हैं । सौत्रान्तिकों के अनुसार उत्पाद के अनन्तर विनष्ट होनेवाली वस्तु ही क्षण है । उनके अनुसार उत्पादमात्र ही वस्तु होती है । वस्तु की त्रैकालिक सत्ता नहीं होती । कारण–सामग्री के जुट जाने पर कार्य का निष्पन्न होना ही उत्पाद है । उत्पाद की भी स्थिति नहीं होती, अपितु उत्पाद के अनन्तर वस्तु नहीं रहती, यही उसकी भङ्गावस्था है ।

(२) सूत्रप्रामाण्य

सौत्रान्तिकों के मतानुसार ज्ञानप्रस्थान आदि सात अभिधर्मशास्त्र बुद्धवचन नहीं हैं, अपितु वे आचार्यों की कृति हैं । वसुमित्र आदि आचार्य उन ग्रन्थों के प्रणेता हैं, अतः वे शास्त्र हैं, न कि बुद्धवचन या आगम । ऐसा मानने पर भी अर्थात् सूत्रपिटक मात्र को प्रमाण मानने पर भी इनके मत में अभिधर्म का अभाव या त्रिपिटक का अभाव नहीं है । जिन सूत्रों में वस्तु के स्वलक्षण

और सामान्यलक्षण आदि की विवेचना की गई है, वे सूत्र ही अभिधर्म हैं, जैसे अर्थविनिश्चयसूत्र आदि । बुद्धवचन ८४,००० धर्मस्कन्ध, १२ अङ्ग एवं तीन पिटकों में संगृहीत होते हैं । परवर्ती सौत्रान्तिक सूत्रों का नेयार्थ और नीतार्थ में विभाजन भी करते हैं ।

(३) परमाणुवाद

सौत्रान्तिक मत में परमाणु निरवयव एवं द्रव्यसत् माने जाते हैं । ये परमाणु ही स्थूल रूपों के आरम्भक होते हैं । जब परमाणुओं से स्थूल रूपों का आरम्भ होता है, तब एक संस्थान में विद्यमान होते हुए भी इनमें परस्पर स्पर्श नहीं होता । सौत्रान्तिक मत में ऐसा कोई रूप नहीं होता, जो अनिदर्शन और अप्रतिघ होता हो, जैसा कि अविज्ञप्ति नामक रूप की सत्ता वैभाषिक मानते हैं । इनके अनुसार अविज्ञप्तिरूप की स्वलक्षणसत्ता नहीं है, उसकी मात्र प्रज्ञप्तिसत्ता है ।

(४) द्रव्यसत्त्व–प्रज्ञप्तिसत्त्व

सौत्रान्तिकों के अनुसार वे ही पदार्थ द्रव्यसत् माने जाते हैं, जो अपने स्वरूप को स्वयं अभिव्यक्त करते हैं तथा जिनमें अध्यारोपित स्वरूप का लेशमात्र भी नहीं होता । उदाहरणस्वरूप रूप, वेदना आदि धर्म वैसे ही हैं । जब रूप आदि धर्म अपने स्वरूप का या अपने आकार का अपने ग्राहक ज्ञानों में, ज्ञानेन्द्रियों अथवा आर्य ज्ञानों में आधान (अर्पण) करते हैं, तब वे किसी की अपेक्षा नहीं करते, अपि तु स्वतः अपने बल से करते हैं । अपि च, चक्षुरादि प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा योगिज्ञान जब रूप आदि का साक्षात्कार करते हैं, तब वे भी उसमें किसी कल्पित आकार का आरोपण नहीं करते । इसलिए रूप, वेदना आदि इनके मत में द्रव्यसत् या परमार्थसत् माने जाते हैं । पुद्गल आदि धर्म वैसे नहीं हैं । वे अपने स्वरूप का स्वतः ज्ञान में आधान नहीं करते । न तो ज्ञान में पुद्गल आदि का आभास होता है । जब यथार्थ की परीक्षा की जाती है, तब उनका स्वरूप विशीर्ण होने लगता है । केवल उनके अधिष्ठान नाम–रूप आदि धर्म ही उपलब्ध होते हैं । पुद्गल कहीं उपलब्ध नहीं होता । अतः ऐसे धर्म प्रज्ञप्तिसत् माने जाते हैं ।

यद्यपि सौत्रान्तिक भी वैभाषिकों के समान चैतसिकों की संख्या ४६ ही मानते हैं, फिर भी वे वैभाषिकों के समान सभी की पृथक् द्रव्यसत्ता नहीं मानते । उनके मत में कुछ चैतसिकों की ही द्रव्यसत्ता होती है, शेष प्रज्ञप्तिसत् होते हैं । जैसे वेदना, संज्ञा और मनस्कार ये तीन चैतसिक द्रव्यसत् हैं । बाकी के चैतसिक चित्त की अवस्था विशेष में प्रज्ञप्त होते हैं–ऐसा उपशमरक्षित नामक सौत्रान्तिक आचार्य का कहना है । इनके अनुसार चित्त एवं चैतसिक द्रव्यतः अभिन्न होते हैं । उनकी निरपेक्ष रूप से पृथग् उपलब्धि नहीं होती ।

सामान्यतः चित्तों की संख्या छह है । धर्मसंग्रह के अनुसार चैतसिक चालीस होते हैं । अभिधर्मकोश के अनुसार उनकी संख्या ४६ है । अभिधर्मसमुच्चय में ५२ और पालि अभिधर्म में भी चैतसिक ५२ माने जाते हैं । विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में ५१ चैतसिक वर्णित हैं । इन भेदों का कारण चैतसिकों का चित्त की अवस्थाविशेष में प्रज्ञप्त होना है । इसीलिए संख्या और नाम में भेद हो जाता है । यदि इनकी द्रव्यसत्ता होती तो इतना अधिक भेद सम्भव नहीं होता–ऐसा प्रतीत होता है ।

चैतसिकों को जब प्रज्ञप्तिसत् कहा जाता है तो उसका यह अर्थ नहीं होता कि उनकी सत्ता ही नहीं है । चित्त और चैतसिक द्रव्यतः अथवा स्वभावतः अभिन्न होते हैं । जब चित्त द्रव्यतः सत् माना जाता है तो चित्त की अवस्थाएं, जो उससे अभिन्न हैं और जो चैतसिक कहलाती हैं, निश्चय ही वे भी द्रव्यसत् ही हैं । उन (चैतसिकों) का स्वभावतः चित्त से पृथक्त्व (भेद) और नामकरण आदि अवश्य प्रज्ञप्त हैं । वस्तुतः वेदना, संज्ञा आदि, करुणा, मुदिता आदि, राग, द्वेष आदि कुशल, अकुशल धर्म स्वसंवेदनप्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत होते हैं । स्वसंवेदन द्वारा जो जैसा अनुभूत होता है, वैसा ही उसका स्वरूप होता है, अन्यथा स्वसंवेदन के प्रमाणत्व की हानि होगी । चित–चैतसिकों की प्रकाशात्मकता, जड से भिन्नता, विषय के आकार से आकारित ज्ञानस्वरूपता स्वतः (स्वसंवेदन द्वारा) अनुभूत हैं, अतः उनका स्वरूप वैसा ही है । संक्षेप में चित्त–चैतसिकों के प्रामाण्य, अप्रमाण्य, प्रत्यक्षत्व, अप्रत्यक्षत्व, यह चित्त है, यह चैतसिक है, यह वेदना है, यह संज्ञा है–इस प्रकार के भेद और नाम ये सब व्यवहार द्वारा सिद्ध होते हैं । अतः भेद और नामकरण आदि ही प्रज्ञप्तिसत् हैं । इस प्रकार सभी सम्प्रयुक्त धर्म (चैतसिक), विप्रयुक्त संस्कार, असंस्कृत धर्म, शब्द और कल्पना के विषय अर्थात् अपोह ये सब प्राज्ञप्तिक धर्मों में परिगणित होते हैं । वस्तुतः

युक्ति–अनुयायी सौत्रान्तिकों के मत में सभी पराश्रित या द्रव्याश्रित धर्म प्रज्ञप्तिस्वभाव माने जाते हैं।

(५) ज्ञान की साकारता

वैभाषिक आदि दर्शन के अनुसार रूप आदि विषयों का ग्रहण चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा होता है, ज्ञान द्वारा नहीं। इन्द्रियों के द्वारा गृहीत नील, पीत आदि विषयों का चक्षुर्विज्ञान आदि इन्द्रिय–विज्ञान अनुभव करते हैं। अर्थात् इन्द्रियों में प्रतिबिम्बित आकार ही इन्द्रियविज्ञानों का विषय हुआ करता है, अन्यथा विज्ञान बिना आकार के ही होता है।

सौत्रान्तिक दर्शन के अनुसार नील, पीत आदि विषय अपना आकार स्वग्राहक ज्ञान में अर्पित करते हैं, फलतः विज्ञान विषयों के आकार से आकारित हो जाते हैं। ज्ञानगत आकार के द्वारा ही विषय अपने को प्रकाशित करते हैं। यदि ऐसा न माना जाएगा तो विज्ञान की बिना अपेक्षा किये ही विषय का प्रकाश होने लगेगा। अतः जहां विषय का अवभास होता है, वह ज्ञान ही है। फलतः ज्ञान में प्रतिभासित नील, पीत आदि विषयों की बाह्यसत्ता सिद्ध होती है।

साकार ज्ञानों के भेद

ज्ञानगत आकार के बारे में तीन प्रकार के मत पाये जाते हैं, यथा– ग्राह्य–ग्राहक समसंख्या वाद, नाना अद्वैत वाद तथा नाना अनुपूर्वग्रहण वाद, इसे अर्धाण्डाकार वाद भी कहते हैं।

(क) ग्राह्य–ग्राहक समसंख्या वाद–नील, पीत आदि अनेक वर्णों से युक्त चित्र का दर्शन करते समय चित्र में जितने वर्ण होते हैं, उतनी ही संख्या में वर्णप्रतिबिम्बित विज्ञान भी होते हैं। जैसे चित्र के वर्ण परस्पर भिन्न और पृथक्–पृथक् अवस्थित होते हैं, वैसे ही वे विज्ञान भी होते हैं, अन्यथा विषय और ज्ञान का निश्चित नियम नहीं बन सकेगा। इस वाद के अनुसार चित्र में जितने वर्ण होते हैं, उतने ही विज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं।

(ख) नाना अद्वैत वाद–यद्यपि नाना वर्ण वाले चित्रपट को आलम्बन बनाकर अनेक आकारों से युक्त विज्ञान उत्पन्न होता है, तथापि वह चक्षुर्विज्ञान एक ही होता है। एक विज्ञान का अनेक आकारों से युक्त होना न तो असम्भव है और न विरुद्ध ही। क्योंकि अनेक वर्णों का आभास ज्ञान में एकसाथ ही होता

है। ज्ञान के अन्दर विद्यमान वे अनेक आकार एक ज्ञान के ही अंश होते हैं, न कि पृथक्। इस मत के अनुसार वह चित्र भी अनेक वर्णवाला होने पर भी द्रव्यतः एक और अभिन्न ही होता है। उसमें स्थित सभी वर्ण उस चित्र के अंश ही होते हैं।

(ग) नाना अनुपूर्वग्रहण वाद–जिस प्रकार एक चित्र में नील, पीत आदि अनेक वर्ण अलग–अलग स्थित होते हैं, वैसे ज्ञान में भी अनेकता होना आवश्यक नहीं है। उस चित्र को ग्रहण करनेवाला चक्षुर्विज्ञान एक होते हुए भी उन सभी वर्णों का साक्षात्कार करता है। इस मत के अनुसार अनेक वर्णों के ज्ञान के लिए ज्ञान का अनेक होना आवश्यक नहीं है।

यह विषय बड़ा गम्भीर है। घट, पट आदि अनेक वस्तुओं को एक साथ देखने वाला चक्षुर्विज्ञान क्या एक होता है या अनेक। फिर केवल एक विषय को देखनेवाला चक्षुर्विज्ञान तो सम्भव ही नहीं है। क्योंकि प्रत्येक विषय के अपने अवयव होते हैं। चक्षुर्विज्ञान जब एक विषय को देखता है तो उसके अवयवों को भी देखता है। तब क्या उन अवयवों के अनुरूप अनेक चक्षुर्विज्ञान होते हैं अथवा एक ही चक्षुर्विज्ञान होता है ? इस विषय में विद्वानों के अनेक मत हैं।

यह उपर्युक्त मत आगमानुयायी सौत्रान्तिकों का प्रतीत होता है। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में युक्ति–अनुयायी सौत्रान्तिकों की दृष्टि से समीक्षा की है। इस मत के अनुसार चक्षुर्विज्ञान क्रमशः नीचे के, मध्य के तथा ऊपर के भाग को ग्रहण करता है। इसलिए समसंख्या वाद के और नाना अद्वैतवाद के दोष इस मत में नहीं आते।

यदि ज्ञान अनुक्रम से विषय का ग्रहण करता है तो एकसाथ ग्रहण करने की प्रतीति कैसे होती है ? शीघ्रता से घटित होने के कारण एकसाथ ग्रहण करने की भ्रान्ति होती है, जैसे अलातचक्र के ग्रहण के समय होती है।

(६) कार्य और कारण की भिन्नकालिकता

कारण हमेशा कार्य से पूर्ववर्ती होता है, इस पर सौत्रान्तिकों का बड़ा आग्रह है। कार्य सर्वदा कारण के होने पर होता है (अन्वय) और न होने पर नहीं होता है (व्यतिरेक)। यदि कार्य और कारण दोनों समान काल में होंगे तो

कारण में कार्य को उत्पन्न करने के स्वभाव की हानि का दोष होगा, क्योंकि कारण के काल में कार्य विद्यमान ही है । इस स्थिति में कारण की निरर्थकता का भी प्रसंग (दोष) होगा । इसलिए वैभाषिकों को छोड़कर सौत्रान्तिक आदि सभी बौद्ध दार्शनिक परम्पराएं कारण को कार्य से पूर्ववर्ती ही मानती हैं । वैभाषिक कारण को कार्य का समकालिक तो मानते ही हैं, कभी–कभी तो कार्य से पश्चात्कालिक कारण भी मानते हैं । स्थविरवादी भी सहभू हेतु, पश्चाज्जात हेतु आदि मानते हैं ।

(७) प्रहाण और प्रतिपत्ति

वैभाषिक आदि जैसे अर्हत् के द्वारा प्राप्त क्लेशप्रहाण और प्राप्त आर्यज्ञान की हानि (पतन) मानते हैं, वैसे सौत्रान्तिक नहीं मानते । सौत्रान्तिकों का कहना है कि क्लेशप्रहाण और आर्यज्ञान का अधिगम चित्त के धर्म हैं और चित्त के दृढ़ होने से उनके भी दृढ़ होने के कारण उनकी हानि की सम्भावना नहीं है । इस विषय का विस्तृत विवेचन प्रमाणवार्तिक (१:२०६) और उसके अलंकारभाष्य में अवलोकनीय है ।

(८) ध्यानाङ्गों की विशेषता

नौ समापत्तियां (४ रूपी ४ अरूपी और निरोधसमापत्ति) होती हैं । इसमें सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों में मतभेद नहीं है । किन्तु निरोधसमापत्ति के बारे में सौत्रान्तिकों की कुछ विशेषता है । वैभाषिकों के अनुसार निरोधसमापत्ति अवस्था में चित्त और चैतसिकों का सर्वथा निरोध हो जाता है, यहाँ तक कि उनकी वासनाएं भी अवशिष्ट नहीं रहतीं । क्योंकि वासनाओं की आधार चित्तसन्तति का सर्वथा निरोध हो चुका है । हाँ, उनकी प्राप्ति आदि विप्रयुक्त संस्कार अवशिष्ट रह सकते हैं ।

सौत्रान्तिकों के मतानुसार निरोधसमापत्ति चित्त की सूक्ष्म अवस्था है । ऐसा नहीं है कि उस अवस्था में केवल विप्रयुक्त संस्कार ही अवशिष्ट रहते हों । हां, वेदना, संज्ञा आदि स्थूल चित्त–चैतसिकों का उस अवस्था में अवश्य निरोध हो जाता है । इस प्रकार निरोधसमापत्ति सौत्रान्तिकों के अनुसार सूक्ष्म सचित्तावस्था है । उनका कहना है कि यदि ऐसा नहीं माना जाएगा तो उस अवस्था में निर्जीव हो जाने का प्रसंग होगा और शरीर के सूखने और सड़ जाने का भी प्रसंग होगा । और भी, यदि निरोधसमापत्ति अवस्था में चित्त की कुछ भी

सत्ता नहीं होगी तो समापत्ति से उठते समय पुनः चित्त का उत्पाद भी न हो सकेगा, क्योंकि पूर्ववर्ती चित्त ही परवर्ती चित्त का उत्पादक होता है, न कि शरीर, इन्द्रिय आदि । समापत्ति अवस्था में व्यक्ति समापन्न होता है और उस समय समाधि उसका आहार होती है ।

ध्यानाङ्गों के बारे में भी सौत्रान्तिकों की वैभाषिकों से कुछ विशेषता है । ध्यानाङ्ग पाँच होते हैं, यथा–वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता । वैभाषिकों के अनुसार 'प्रीति' नामक ध्यानाङ्ग मनोविज्ञान से सम्प्रयुक्त सुखा वेदना है, सौत्रान्तिकों के अनुसार वह सौमनस्य है । 'सुख' नामक ध्यानाङ्ग भी वैभाषिकों के अनुसार कायप्रश्रब्धि स्वरूप है । उन (वैभाषिकों) के मतानुसार इन्द्रियविज्ञानों से सम्प्रयुक्त वेदनाएं बाह्यमुखी होती हैं और ध्यानाङ्गों में परिगणित धर्मों का बहिर्मुखी होना युक्त नहीं है, अतः ध्यानावस्था की सुखा वेदना प्रश्रब्धिस्वरूप ही है । सौत्रान्तिकों के मत में वह 'सुख' ध्यानाङ्ग चैतसिक न होकर कायिक सुख ही होता है । अर्थात् वह सुख वेदना कायविज्ञान से सम्प्रयुक्त होती है । उनके अनुसार यह सही है कि इन्द्रियविज्ञान बहिर्मुखी होते हैं, किन्तु ध्यान के बल से उत्पन्न वे विज्ञान समाधि के उपकारक हो जाते हैं । प्रीति तो सभी बौद्ध दार्शनिकों के मतानुसार श्रद्धागत द्रव्य होती है । अर्थात् श्रद्धाविशेष ही प्रीति है ।

(९) प्रमाण आदि सम्यग्ज्ञान

विज्ञान की साकारता के आधार पर सौत्रान्तिक प्रमाणों की व्यवस्था करते हैं । विज्ञान की साकारता का प्रतिपादन पहले किया जा चुका है । प्रमाणों में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की स्थापना सौत्रान्तिकों की विशेषता है । सौत्रान्तिकों की ज्ञानमीमांसा पर हम आगे पृथक् शीर्षक देकर लिखने जा रहे हैं । वहाँ ज्ञान और उनके भेदों की चर्चा की जाएगी । अतः यहाँ विराम किया जा रहा है ।

(१०) बुद्ध, बोधिसत्त्व और बुद्धकाय

पारमिताओं की साधना के आधार पर बोधिसत्त्वों की चर्या का वर्णन सूत्रपिटक में प्रायः जातकों में उपलब्ध होता है । बुद्धत्व ही बोधिसत्त्वों का अन्तिम पुरुषार्थ है । क्योंकि उसके द्वारा ही वे बहुजन का हित सम्पादन करने में पूर्ण समर्थ होते हैं । इसके लिए वे तीन असंख्येय कल्प पर्यन्त ज्ञानसम्भार और पुण्यसम्भार का अर्जन करते हैं । जम्बूद्वीप का आर्य बोधिसत्त्व बुद्धत्व के

सर्वथा योग्य होता है। कामधातु के अन्य द्वीपों में तथा अन्य धातु और योनियों में उत्पन्न काय से बुद्धत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

काय

महायान से अतिरिक्त अन्य बौद्ध निकायों की इस विषय में प्रायः समान मान्यता है कि भगवान् बुद्ध के दो काय होते हैं, यथा—रूपकाय और धर्मकाय। वैभाषिकों की यह मान्यता है कि भगवान् बुद्ध का रूपकाय, जो बत्तीस लक्षणों और अस्सी अनुव्यञ्जनों से प्रतिमण्डित है, वह सास्रव होता है तथा माता–पिता के शुक्र–शोणित से उत्पन्न 'करज काय' होता है। सौत्रान्तिकों में कुछ आगमानुयी भी प्रायः इसी मत के हैं। स्थविरवादी भी ऐसा ही मानते हैं। युक्ति–अनुयायी सौत्रान्तिक रूपकाय को 'बुद्ध' ही मानते हैं, क्योंकि वह अनेक कल्पों तक सम्भारों का सम्भरण करने से पुण्यपुञ्जात्मक होता है।

धर्मकाय के स्वरूप के बारे में वैभाषिकों और सौत्रान्तिकों में विशेष मतभेद नहीं है, किन्तु धर्मकाय से सम्बद्ध जो निर्वाण तत्त्व है, उसे वैभाषिक द्रव्यसत् मानते हैं। सौत्रान्तिकों के अनुसार निर्वाण समस्त क्लेशों और उपक्लेशों का अभाव, मलों और आवरणों से रहितता मात्र है। अर्थात् निर्वाण का अभावस्वरूप होना, उसकी धर्मता है और यही सर्व प्रपञ्चों का उपशम है।

बुद्ध के कायिक, वाचिक और चैतसिक गुण, दस बल, दस वशिताएं, चार वैशारद्य, अष्टादश आवेणिक धर्म—इन सबकी चर्चा अभिधर्मकोश, धर्मसङ्ग्रहसूत्र, अर्थविनिश्चयसूत्र, अभिधर्मसमुच्चय आदि ग्रन्थों में विपुलता से चर्चित हैं। विस्तार के भय से उनकी यहां चर्चा नहीं की जा रही है। जिज्ञासुओं को उन ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए।

ज्ञानमीमांसा

सौत्रान्तिकों की ज्ञानमीमांसा के विकास में आचार्य दिङ्नाग का योगदान विद्वानों से तिरोहित नहीं है। यद्यपि उनसे पहले भी न्यायविद्या से सम्बद्ध प्रमाणविद्या का अस्तित्व था, किन्तु वह इतना मिला–जुला था कि उसमें वैदिक, अवैदिक आदि भेद करना सम्भव नहीं था। दिङ्नाग के बाद हम उनमें स्पष्ट विभाजन देख सकते हैं। बौद्धेतर शास्त्रों में आगम, शब्द, ऐतिह्य आदि ज्ञान से भिन्न साधन भी प्रमाण माने जाते हैं, किन्तु आचार्य दिङ्नाग ने सम्यग् ज्ञान को ही सर्वप्रथम प्रमाण निर्धारित किया।

विविध ज्ञान

(१) **निर्विकल्प ज्ञान**—अतीत, अनागत को विषय बनाने पर और प्रत्यक्ष के बाद वस्तु का जो आकार ज्ञान में भासित होता है, वह अर्थप्रतिबिम्ब 'अर्थसामान्य' कहलाता है तथा शब्द सुनने के अनन्तर वस्तु का जो आकार ज्ञान में भासित होता है, वह अर्थबिम्ब 'शब्दसामान्य' कहलाता है। जो ज्ञान इन बिम्बों (सामान्यों) से रहित होता है या इन अर्थबिम्बों से संसृष्ट (युक्त) होने योग्य नहीं होता, वह ज्ञान 'निर्विकल्प' कहलाता है।

(२) **सविकल्प ज्ञान**—जो ज्ञान उपर्युक्त शब्दसामान्य और अर्थसामान्य से संसृष्ट या संसृष्ट होने योग्य होता है, वह ज्ञान 'सविकल्पक' कहलाता है।

(३) **वस्तु–प्रवृत्त ज्ञान**—जो ज्ञान वस्तु के बल से उत्पन्न होता है और वस्तु में प्रवृत्त होता है, वह ज्ञान 'वस्तुप्रवृत्त ज्ञान' कहलाता है, जैसे—चक्षुर्विज्ञान आदि प्रत्यक्ष ज्ञान। ये ज्ञान शब्द के बल से उत्पन्न नहीं होते।

(४) **अपोह–प्रवृत्त ज्ञान**—जो ज्ञान साक्षात् वस्तु में प्रवृत्त नहीं होता, अपितु एक वस्तु का जो अन्य वस्तुओं से भेद (व्यावृत्ति) होता है, उस भेद में या उस भेद की वज़ह से भिन्न हुई भेदगर्भित वस्तु में प्रवृत्त होता है, वह ज्ञान 'अपोहप्रवृत्त ज्ञान' कहलाता है।

(५) **सम्यग् ज्ञान**—जो ज्ञान अपने विषय के प्रति अविसंवादक होता है। अर्थात् अपने विषय को प्राप्त कराने की क्षमता रखता है, उसे 'सम्यग् ज्ञान' या यथार्थ ज्ञान कहते हैं। ऐसा ज्ञान प्रमाण भी होता है।

ज्ञान के विषय तीन प्रकार के होते हैं, यथा–(१) प्रतिभास विषय या ग्राह्य विषय, (२) अध्यवसाय (निश्चय) विषय अर्थात् ज्ञान जिसका निश्चय करता है तथा (३) प्रवृत्ति विषय, अर्थात् ज्ञान प्रवृत्त होकर जिस विषय को प्राप्त कराता है। जो ज्ञान निर्विकल्प होते हैं, उनके दो ही प्रकार के विषय होते हैं; अर्थात् प्रतिभासविषय और प्रवृत्ति विषय। उनका अध्यवसाय विषय सर्वथा नहीं होता। अर्थात् वे किसी विषय का निश्चय नहीं करते। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है–चक्षुर्विज्ञान का रूप ही प्रतिभास विषय भी होता है और वही प्रवृत्तिविषय भी। रूप की अनित्यता, कृतकता आदि प्रतिभास विषय तो होते हैं, किन्तु प्रवृत्तिविषय नहीं। यदि अनित्यता, कृतकता आदि प्रवृत्तिविषय भी माने जाएंगे तो उनके ज्ञान के लिए अनुमान का प्रयोग करना व्यर्थ होगा। श्वेत शंख को पीत शंख समझने वाले चक्षुर्विज्ञान का पीत शंख प्रतिभासविषय भी होता है और प्रवृत्तिविषय भी। किन्तु बाहर स्थित शंख पीत नहीं होता। इसलिए चक्षुर्विज्ञान भ्रान्त भी होता है। इस प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में निर्विकल्प ज्ञान भी भ्रान्त हुआ करता है।

शब्दसामान्य और अर्थसामान्य सविकल्प ज्ञानों के प्रतिभासविषय होते हैं, किन्तु वे प्रवृत्तिविषय नहीं होते। प्रवृत्तिविषय तो बाह्य घट आदि ही होते हैं। अध्यवसायविषय भी वे ही होते हैं। बाह्य घट सविकल्प ज्ञानों के प्रतिभास विषय नहीं होते, क्योंकि अनावृत घट सविकल्प ज्ञानों में प्रतिभासित नहीं होता। शब्दसामान्य और अर्थसामान्य वहां आवरण होते हैं। सविकल्प ज्ञान प्रतिभास की दृष्टि से भले ही भ्रान्त हों, किन्तु प्रवृत्ति और अध्यवसाय की दृष्टि से भ्रान्त नहीं होते। उनके द्वारा अध्यवसित (निश्चित) विषय में प्रवृत्त होने पर कभी उस विषय की प्राप्ति भी होती है, अतः वे ज्ञान अविसंवादक भी होते हैं। किन्तु गृहीत का ग्रहण करने से वे प्रमाण नहीं माने जाते।

इसी तरह अनुमान भी यद्यपि सविकल्पक ज्ञान है और प्रतिभास की दृष्टि से भ्रान्त भी माना जाता है, किन्तु प्रवृत्ति और अध्यवसाय की दृष्टि से वह भ्रान्त नहीं होता अपितु अभ्रान्त होता है तथा क्योंकि वह अगृहीत का ग्रहण करता है, इसलिए प्रमाण भी होता है।

सम्यग् ज्ञान का तात्पर्य अविपरीत ज्ञान से है। वस्तु की जैसी स्थिति है, वैसा अवबोध सम्यग् ज्ञान है। सम्यग् ज्ञान ही अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) आदि पुरुषार्थों की सिद्धि का मुख्य उपाय है। वह सभी प्रकार से संशय, विपरीत या मिथ्या ज्ञानों से रहित होता है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने की उसमें क्षमता होती है।

(६) प्रमाण ज्ञान–सम्यग् ज्ञान ही प्रमाण होता है। वही ज्ञान अविसंवादक भी होता है। अविसंवादकत्व ही प्रामाण्य का नियामक होता है। विसंवाद का अर्थ वञ्चना है। जिस ज्ञान में वञ्चना (विसंवाद) का योग होता है, वह ज्ञान विसंवादी कहलाता है। जो विसंवादी नहीं होता, वह ज्ञान अविसंवादी या अविसंवादक कहा जाता है। कहने का आशय यह है कि ज्ञान में यदि अपने द्वारा दिखलाई गई वस्तु को प्राप्त कराने की क्षमता है तो वह ज्ञान वञ्चक नहीं होता, अपितु अविसंवादक होता है और वही ज्ञान प्रमाण होता है। ज्ञान जिस प्रकार वस्तु को देखता है, उसी प्रकार यदि वस्तु की स्थिति है तो यही अविसंवादन है, इस अविसंवादन का योग होने से ज्ञान अविसंवादी कहलाता है।

जो ज्ञान अपने बल से संशय, विपर्यास आदि का निराकरण करके वस्तु के स्वरूप को जानता हुआ, उस वस्तु को प्राप्त कराने में समर्थ होता है, वही ज्ञान अविसंवादक होता है।

प्रमाण शब्द में 'प्र' शब्द का अर्थ प्रथम भी होता है। अर्थात् जो ज्ञान पहले–पहल वस्तु को जानता है, वह प्रमाण कहलाता है। अर्थात् किसी पूर्व ज्ञान द्वारा अगृहीत, अज्ञात या अप्रकाशित अर्थ (विषय) को जाननेवाला ज्ञान 'प्रमाण' है। इस प्रकार अगृहीतग्राहिता, अज्ञातार्थप्रकाशकता या अपूर्वग्राहिता भी प्रमाण का दूसरा लक्षण है।

वास्तव में ये दोनों लक्षण एक ही वस्तु को कहने की शैली के भेद से हैं। वस्तुतः जो ज्ञान अविसंवादी होता है, वह अज्ञात अर्थ का प्रकाशक भी होता है। जो अज्ञातार्थप्रकाशक होता है, वह अविसंवादक भी होता है।

अलङ्कारभाष्य के रचनाकार प्रज्ञाकर गुप्त के मतानुसार अग्नि, वायु आदि व्यावहारिक वस्तु को जो ज्ञान ठीक–ठीक जानता है, वह 'अविसंवादक' है। अर्थात् अविसंवादकत्व व्यवहारप्रमाण का लक्षण है तथा विज्ञप्तिमात्रता या वस्तु का पारमार्थिक स्वरूप जो अभी तक अज्ञात है, उस को जाननेवाला ज्ञान 'अज्ञातार्थप्रकाशक' है। अर्थात् अज्ञातार्थप्रकाशकत्व जो प्रमाण का द्वितीय

लक्षण है, वह 'परमार्थप्रमाण' का लक्षण है । वस्तु का स्वरूप दो प्रकार का होता है—एक व्यावहारिक तथा दूसरा पारमार्थिक । प्रमाण के उक्त दोनों लक्षणों द्वारा वस्तु के सर्वाङ्गीण स्वरूप का बोध हो जाता है । इसलिए एक ही प्रमाणज्ञान के ये दोनों स्वरूप होते हैं । बौद्ध नैयायिक ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं । अतः इन्द्रियाँ, जो जडस्वभाव होती हैं, वे प्रमाण नहीं मानी जातीं । जब कि गौतम और कणाद के अनुयायी बौद्धेतर नैयायिक इन्द्रियों को भी प्रमाण मानते हैं । सौत्रान्तिकों का कहना है कि क्योंकि जड वस्तुओं में अर्थबोध का सामर्थ्य नहीं होता, अतः वे प्रमाण नहीं हो सकतीं तथा ज्ञान ही विषय के आकार से आकारित हो सकता है, अतः वही प्रमाण हो सकता है, इन्द्रियां नहीं । यदि ज्ञान विषयाकार न हो तो वस्तु ज्ञात नहीं हो सकती, क्योंकि वस्तु में स्वयं को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य नहीं होता, नहीं तो ज्ञान के बिना भी उनकी अभिव्यक्ति होने लगेगी । पुनश्च, प्रहेय (प्रहाण करने योग्य) धर्मों का प्रहाण करने की तथा उपादेय (ग्रहण करने योग्य) धर्मों का उपादान (ग्रहण) करने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति मनुष्यों में होती है, उसका मूल ज्ञान ही होता है । इन्द्रिय होने मात्र से मनुष्य प्रवृत्त नहीं होते, अपितु ज्ञान होने से प्रवृत्त होते हैं । इसलिए इस प्रवृत्ति में साधकतम होने से ज्ञान में ही प्रामाण्य स्वीकार करना उचित है । अपिच, ज्ञानगत आकारों में भिन्नता की वज़ह से ही विषयों का भेद व्यवस्थापित होता है, यथा—यह नील है, यह पीत है—इत्यादि । अतः ज्ञान को ही प्रमाण मानना चाहिए ।

प्रमाण के भेद—बौद्ध नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण के भेद होते हैं । सांख्य तीन प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द । न्याय और वैशेषिक दर्शन में चार प्रमाण माने जाते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान । इन चार के अलावा अनुपलब्धि के साथ पाँच प्रमाण प्रभाकर के अनुयायी मीमांसक मानते हैं । कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसक अभाव के साथ छह प्रमाण मानते हैं । ऐतिह्य आदि के साथ पौराणिक आठ प्रमाण मानते हैं ।

दो प्रमाण—प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन है, इस बात को प्रायः सभी दार्शनिक मानते हैं, किन्तु बौद्ध दार्शनिक प्रमाण की सिद्धि प्रमेय के अधीन भी स्वीकार करते हैं । प्रमेय दो प्रकार के होते हैं, यथा—स्वलक्षण और सामान्य लक्षण । कुछ विषय अर्थक्रिया में समर्थ होते हैं और कुछ असमर्थ ।

उनमें जो अर्थक्रियासमर्थ होते हैं, वे ही स्वलक्षण तथा जो अर्थक्रियासमर्थ नहीं होते, वे सामान्यलक्षण होते हैं । इसी तरह जो असाधारण होता है तथा शब्द का विषय नहीं होता, वह स्वलक्षण तथा इसके विपरीत जो साधारण होता है, शब्द का विषय होता है, वह सामान्यलक्षण होता है । स्वलक्षण और सामान्यलक्षण को छोड़कर कोई तीसरे प्रकार का विषय नहीं होता, अतः प्रमाण की संख्या भी दो में ही निश्चित है । स्वलक्षण प्रत्यक्ष का तथा सामान्य लक्षण अनुमान का विषय होता है । बौद्ध दार्शनिक प्रमाण और उसके विषय के बारे निश्चयवादी होते हैं । प्रत्यक्ष स्वलक्षण को छोड़कर कभी भी सामान्यलक्षण को विषय नहीं बनाता और न अनुमान भी सामान्यलक्षण को छोड़कर स्वलक्षण को कभी साक्षात् विषय बनाता है । जब कि नैयायिक-वैशेषिक आदि दार्शनिकों की स्थिति इससे भिन्न है । उनके मत में प्रत्यक्ष न केवल विशेष (स्वलक्षण) को ही विषय बनाता है, अपि तु सामान्य को भी विषय बनाता है । इतना ही नहीं, अपि तु उनके मत में एक ही विषय अनेक प्रमाणों का विषय हो सकता है। अतः इनके मत में प्रमाण और प्रमेय की नियत व्यवस्था नहीं है । बौद्धों के मत में यह व्यवस्था निश्चित होती है । फलतः प्रमाणों के विषय में नैयायिक सम्प्लववादी तथा बौद्ध व्यवस्थावादी होते हैं ।

प्रत्यक्षप्रमाण—यद्यपि वैभाषिक इन्द्रियों को प्रत्यक्ष मानते हैं, किन्तु बौद्ध नैयायिक उसकी समालोचना करते हैं और युक्तिपूर्वक ज्ञान की प्रमाणता का प्रतिपादन करते हैं । फलतः जो ज्ञान अर्थाकार होते हुए कल्पनारहित (कल्पनापोढ) एवं अभ्रान्त होता है, वह 'प्रत्यक्ष' है । शब्द से संसृष्ट होने योग्य प्रतीति 'कल्पना' है । प्रत्यक्ष उस प्रकार की कल्पना से विरहित बिलकुल अछूता होता है ।

व्युत्पत्ति—इन्द्रियों पर आश्रित विज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है । किन्तु यह प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ केवल शब्द (व्युत्पत्ति) पर आश्रित है । उसका वास्तविक या पारिभाषिक अर्थ तो 'अर्थसाक्षात्कारी ज्ञान' है । फलतः जो ज्ञान कल्पनारहित एवं अभ्रान्त होते हुए अर्थ का साक्षात्कारी होता है, वह 'प्रत्यक्ष' है ।

प्रत्यक्ष के भेद

(१) **इन्द्रियप्रत्यक्ष**—चक्षुष् आदि इन्द्रियों को अधिपतिप्रत्यय बनाकर जो ज्ञान कल्पनारहित और अभ्रान्त रूप में उत्पन्न होता है, वह 'इन्द्रियप्रत्यक्ष'

है । यह पांच प्रकार का होता है, यथा–नील, पीत आदि रूप को विषय (आलम्बन) बनाने वाला चक्षुर्विज्ञान, शब्दग्राही श्रोत्रविज्ञान, गन्धग्राही घ्राणविज्ञान, रसग्राही जिह्वाविज्ञान तथा स्पर्शग्राही कायविज्ञान । यहाँ ज्ञान और विषय की निश्चित व्यवस्था होती है । अर्थात् चक्षुर्विज्ञान रूप का ही ग्रहण करता है । वह कभी भी शब्द का ग्रहण नहीं कर सकता–इत्यादि ।

(२) मानस प्रत्यक्ष–इन्द्रियप्रत्यक्षों के अव्यवहित समनन्तर (तत्काल बाद) मानस–प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है । समनन्तर निरुद्ध पूर्ववर्ती इन्द्रियप्रत्यक्ष उसके समननन्तर प्रत्यय होते हैं और मन इन्द्रिय कहलाते हैं । मन–इन्द्रिय ही इस मानसप्रत्यक्ष की अधिपतिप्रत्यय होती है । इन्द्रिय–प्रत्यक्षों के ही विषय जो द्वितीय क्षण में उत्पन्न हैं, मानस–प्रत्यक्ष के विषय होते हैं । इस मानस–प्रत्यक्ष की अनुभूति पृथग्जनों की सन्तति में नहीं होती । आगम से ही इसके अस्तित्व की जानकारी होती है । बौद्ध न्याय के सभी गन्थों में इसका निरूपण किया जाता है । पृथग्जन की सन्तति में होनेवाले मानसप्रत्यक्ष की प्रामाणिकता मान्य नहीं है । जितने इन्द्रियप्रत्यक्ष होते हैं, उनके अनन्तर होनेवाला मानसप्रत्यक्ष भी उतनी ही संख्या में होता है । अर्थात् इन्द्रियप्रत्यक्ष पाँच होते हैं । अतः मानसप्रत्यक्ष के भी पाँच भेद माने जाते हैं ।

(३) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष–सभी चित्त–चैतसिक याने सभी ज्ञान अपने स्वरूप को स्वयं जानते हैं । उनका स्वयं अपने स्वरूप को जानना 'स्वसंवेदन' कहलाता है । अपने स्वरूप का साक्षात्कारी होने से, कल्पनापोढ और अभ्रान्त होने से तथा अविसंवादक होने से यह 'स्वसंवेदन–प्रत्यक्ष' कहलाता है । स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के बारे में बौद्धों में बहुत आपसी वाद–विवाद हैं । सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी (योगाचार) इसकी प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं, जबकि वैभाषिक और प्रासङ्गिक माध्यमिक इसे नहीं मानते । स्वातन्त्रिक माध्यमिकों में भावविवेक स्वसंवेदन का खण्डन करते हैं, किन्तु योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिकों को अपने दर्शन के स्वभाव के अनुसार इसकी प्रामाणिकता माननी चाहिए, यद्यपि उनके ग्रन्थों में इस बारे में स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं है ।

(४) योगि–प्रत्यक्ष–शमथ–विपश्यना युगनद्ध समाधि को अधिपतिप्रत्यय बनाकर आर्यसत्यों का साक्षात्कार करते हुए उत्पन्न आर्यों का ज्ञान जो कल्पनापोढ और अभ्रान्त होता है, वह 'योगि–प्रत्यक्ष' है । यह वस्तु

के यथार्थ स्वरूप नैरात्म्य का आलम्बन करता है तथा समाहित अवस्था में ही उत्पन्न होता है । योग का अर्थ समाधि है, चित्त की एकाग्रता इसका लक्षण है और वस्तुतत्त्व की साक्षात्कार करनेवाली प्रज्ञा भी योग है । यह योग जिसमें होता है, वह 'योगी' कहलाता है । ऐसे योगी का जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष ही होता है । सास्रव अथवा लौकिक तथा अनास्रव अथवा अलौकिक भेद से यह दो प्रकार का होता है । अभिज्ञा, समापत्ति आदि लौकिक तथा दर्शनमार्ग आदि अलौकिक प्रत्यक्ष हैं ।

अनुमान प्रमाण–लिङ्ग (साधन) के ग्रहण और साध्य–साधन सम्बन्ध (अर्थात् व्याप्ति के) स्मरण के पश्चात् उत्पन्न ज्ञान 'अनुमान' कहलाता है । सम्यग् लिङ्ग (कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि) से उत्पन्न परोक्ष–अर्थ–विषयक अविसंवादी ज्ञान 'अनुमान' है । अनधिगत वस्तु को विषय बनाने पर वही 'अनुमान प्रमाण' होता है ।

अनुमान के भेद–स्वार्थानुमान और परार्थानुमान ये अनुमान के दो भेद हैं । जिसके द्वारा व्यक्ति स्वयं परोक्ष अर्थ का ज्ञान करता है, वह 'स्वार्थानुमान' है । परार्थानुमान वचनात्मक होता है । व्याप्ति और पक्षधर्मता का कथन करनेवाला वचन अनुमान का उत्पादक होता है, अतः कारण में कार्य का उपचार करके वचन को भी अनुमान कहा जाता है ।

जो ज्ञान कल्पनापोढ और अभ्रान्त नहीं होता, वह 'प्रत्यक्षाभास' तथा जो ज्ञान सम्यग् लिङ्ग से उत्पन्न नहीं होता, वह 'अनुमानाभास' कहलाता है ।

मार्ग और फलव्यवस्था

श्रावकमार्ग, प्रत्येकबुद्धमार्ग एवं बोधिसत्त्वमार्ग तथा उन मार्गों से प्राप्त होनेवाले फलों की व्यवस्था सौत्रान्तिक मत में प्रायः वैभाषिकों के समान ही है । दर्शनमार्ग आदि की अवस्था में उसके विषय चार आर्यसत्य एवं उन सत्यों के सोलह आकार आदि ही माने जाते हैं । इनसे अतिरिक्त मार्गज्ञान के अन्य विषय नहीं होते ।

मार्ग की दो अवस्थाएं होती हैं,–समाहित अवस्था एवं पृष्ठलब्ध अवस्था। समाहित मार्ग की अवस्था में मार्गज्ञान के विषय आर्यसत्य एवं नैरात्म्य आदि ही होते हैं।

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि नैरात्म्य तो आत्माभावमात्र है और मार्गज्ञान तो सत्यविषयक ही होता है तथा सौत्रान्तिकों के मतानुसार तो परमार्थ सत्य एकमात्र स्वलक्षण (वस्तु) ही होता है। नैरात्म्य तो स्वलक्षण–स्वरूप होता नहीं, अतः नैरात्म्य कैसे मार्गज्ञान का विषय हो सकता है ?

उत्तर–मार्गज्ञान का विषय निश्चय ही पुद्गलारोप के आधार पाँच स्कन्ध ही होते हैं, जो संस्कृत और स्वलक्षण ही होते हैं। यद्यपि मार्गज्ञान (प्रत्यक्ष) में साक्षात् प्रतिभास तो पाँच स्कन्धों का ही होता है, किन्तु उसके बल से नैरात्म्य का स्पष्ट अवबोध (परिच्छेद) भी मार्गज्ञान द्वारा हो जाता है। ज्ञान द्वारा परिच्छेद (अवबोध) दो प्रकार का हुआ करता है–एक साक्षात् परिच्छेद तथा उसके बल से होनेवाला परिच्छेद। नैरात्म्य का अवबोध पञ्च स्कन्ध के साक्षात् परिच्छेद के बल (सामर्थ्य) से ही होता है। ज्ञात है कि पाँच स्कन्ध ही पुद्गलारोप के आधार होते हैं। अतः पुद्गलाभाव (पुद्गलनैरात्म्य) के आधार भी वे पाँच स्कन्ध ही होंगे, अतः उन्हीं में नैरात्म्य भासित होता है। बोधिसत्त्व जब बुद्धत्व प्राप्त कर लेता है, तब उसके स्वरूप एवं कृत्य आदि वैभाषिकों की तरह ही सौत्रान्तिक मत में मान्य है।

*

योगाचार दर्शन

[विज्ञानवाद]

चित्तमात्रं, भो जिनपुत्राः, यदुत त्रैधातुकम् ।

(दशभूमकसूत्र)

येन येन हि नाम्ना वै यो यो धर्मोऽभिलप्यते ।
नासौ संविद्यते तत्र धर्माणां सा हि धर्मता ॥

(भवसंक्रान्तिसूत्र, पृ० ६९)

बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते ।
वासनालुठितं चित्तमर्थाभासं प्रवर्तते ॥

(लङ्कावतारसूत्र १० : २८५)

दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते ।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम् ॥

(लङ्कावतारसूत्र ३ : ३३)

योगाचार दर्शन

[विज्ञानवाद]

परिभाषा—जो 'बाह्यार्थ सर्वथा असत् हैं और एकमात्र विज्ञान ही सत् है'—ऐसा मानते हैं, वे विज्ञानवादी कहलाते हैं ।

ये दो प्रकार के होते हैं, यथा—(१) आगमानुयायी और (२) युक्ति–अनुयायी । आर्य असङ्ग, वसुबन्धु आदि आगमानुयायी तथा आचार्य दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि युक्ति–अनुयायी विज्ञानवादी हैं ।

विज्ञानवादियों का एक भिन्न प्रकार से भी द्विविध विभाजन किया जाता है, यथा—(१) सत्याकारविज्ञानवादी एवं (२) मिथ्याकारविज्ञानवादी । भोटदेशीय विद्वानों के मतानुसार आगमानुयायी और युक्ति–अनुयायी दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों में सत्याकारवादी और मिथ्याकारवादी होते हैं ।

आगमानुयायी—आर्य असङ्ग ने श्रावकभूमिशास्त्र, प्रत्येकबुद्ध–भूमिशास्त्र आदि नामों से पाँच भूमिशास्त्रों की रचना की है, जो इन भूमिशास्त्रों के आधार पर अपने पदार्थों की व्यवस्था करते हैं और आलयविज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान आदि की सत्ता स्वीकार करते हैं, वे 'आगमानुयायी' कहलाते हैं ।

युक्ति–अनुयायी—दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय एवं धर्मकीर्ति के सात (सप्तवर्गीय) प्रमाणशास्त्रों के आधार पर जो पदार्थमीमांसा की स्थापना करते हैं तथा घट, पट आदि पदार्थों को बाह्यार्थत्व से शून्य सिद्ध करते हुए आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान का खण्डन करते हैं, वे 'युक्ति–अनुयायी' कहलाते हैं ।

सत्याकारवादी—ज्ञानगत नीलाकार, पीताकार आदि को जो ज्ञानस्वरूप (ज्ञानस्वभाव) स्वीकार करते हुए उनकी सत्यतः (वस्तुतः) सत्ता स्वीकार करते हैं, अर्थात् जो यह मानते हैं कि उनकी सत्ता कल्पित नहीं हैं, वे 'सत्याकारवादी' कहलाते हैं ।

मिथ्याकारवादी—ज्ञान में उत्पन्न (ज्ञानगत) नीलाकार, पीताकार आदि ज्ञानस्वरूप नहीं है, अतः उनकी वस्तुतः (सत्यतः) सत्ता नहीं है, अपितु वे

वासनाजन्य एवं नितान्त कल्पित हैं । इस प्रकार जिनकी मान्यता है, वे 'मिथ्याकारवादी' कहलाते हैं ।

सत्याकार विज्ञानवादियों के भेद

सत्याकारवादी तीन प्रकार के होते हैं, यथा—(१) ग्राह्य-ग्राहकसमसंख्यावादी, (२) अर्धाण्डाकारवादी एवं (३) नाना अद्वयवादी ।

(१) **ग्राह्य-ग्राहकसमसंख्यावादी**—जिस प्रकार किसी चित्रपट में विद्यमान नील, पीत आदि पाँच वर्ण द्रव्यतः पृथक्-पृथक् अवस्थित होते हैं, उसी प्रकार उस चित्रपट के ग्राह्क ज्ञान भी नीलाकार, पीताकार आदि भेद से द्रव्यतः पृथक्-पृथक् पाँच प्रकार के होते हैं ।

(२) **अर्धाण्डाकारवादी**—नील, पीत आदि अनेकवर्ण वाले चित्रपट में विद्यमान सभी वर्ण द्रव्यतः पृथक्-पृथक् होते हैं, किन्तु उस चित्रपट का ग्राहक चक्षुर्विज्ञान उतनी संख्या में पृथक्-पृथक् न होकर द्रव्यतः एक ही होता है ।

(३) **नाना अद्वयवादी**—जैसे नाना वर्ण वाले चित्रपट को जानने वाले चक्षुर्विज्ञान में वर्ण के अनुसार द्रव्यतः पृथग्भाव (नाना भाव) नहीं होता, अपितु वह एक होता है, वैसे चित्रपट में विद्यमान नाना वर्ण भी द्रव्यतः पृथक् नहीं होते, अपि तु तादात्म्यरूप से वे एक और अभिन्न होते हैं ।

मिथ्याकारवादी—मिथ्याकारविज्ञानवादी भी दो प्रकार के होते हैं, यथा—(१) समल विज्ञानवादी एवं (२) विमल विज्ञानवादी ।

(१) **समल विज्ञानवादी**—इनके मतानुसार बुद्ध की अवस्था में भी द्वैतप्रतिभास होता है ।

(२) **विमल विज्ञानवादी**—इनके मतानुसार बुद्ध की अवस्था में द्वैतप्रतिभास सर्वथा (बिलकुल) नहीं होता, क्योंकि बुद्ध की चित्तसन्तति में मल का लेश भी नहीं होता ।

विशेष—समलविज्ञानवादियों के मतानुसार जैसे पृथग्जन की अवस्था में अविद्या के कारण ग्राह्य और ग्राहक की पृथक् सत्ता का द्वैतप्रतिभास हुआ करता

है, वैसे अविद्या से रहित बुद्धावस्था में भी ग्राह्य-ग्राहक द्वैत का प्रतिभास होता है । यद्यपि बुद्धावस्था में अविद्या नहीं है, फिर भी उसके प्रभाव से यह द्वैतप्रतिभास होता है । बुद्ध की दो अवस्थाएं होती हैं, समाहित अवस्था एवं पृष्ठलब्ध अवस्था । ज्ञात है कि इन समलवादियों के मत में भी यह द्वैतप्रतिभास बुद्ध की पृष्ठलब्ध अवस्था में ही होता है । समाहित अवस्था में तो इनके अनुसार भी द्वैतप्रतिभास नहीं होता । आचार्य धर्मकीर्ति के सन्तानान्तरसिद्धि नामक ग्रन्थ के '**भगवतः सर्वार्थसम्बोधिरचिन्तनीया**' इस वचन की व्याख्या के प्रसङ्ग में विनीतदेव कृत टीका में उक्त विषय उपवर्णित है ।

विमलविज्ञानवादियों के मत में जैसे पृथग्जन की अवस्था में ग्राह्याकार और ग्राहकाकार की पृथक् सत्ता का द्वैत प्रतिभास होता है, वैसे बुद्ध की अवस्था में, चाहे समाहितावस्था हो या पृष्ठलब्ध अवस्था हो, ग्राह्य-ग्राहक-द्वयप्रतिभास सर्वथा नहीं होता, क्योंकि द्वैतप्रतिभास का कारण विकल्प या अविद्या होती है और बुद्ध की चित्तसन्तति में विकल्प की वासना भी नहीं होती, क्योंकि उन्होंने वासना के साथ सभी प्रकार के विकल्पों या अविद्या का प्रहाण कर दिया है । अतः द्वयप्रतिभास के लिए उनमें अवसर ही नहीं है । प्रसिद्धि है कि आर्य असङ्ग विमलविज्ञानवादी थे ।

व्याख्यानान्तर—समलविज्ञानवादियों के अनुसार सत्त्वों की सन्तान में होनेवाले चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान आदि सभी छह विज्ञान मल से युक्त होते हैं, जब जब ये विज्ञान उत्पन्न होते हैं, तब तब उनमें भासित होनेवाले नील, पीत, घट, पट आदि पदार्थ बाह्यतः सत् आभासित होते हैं । अर्थात् ऐसी प्रतीति होती है मानों वे बाह्याकार विज्ञान से निरपेक्ष होते हैं और उनकी विज्ञानबाह्य सत्ता होती है । अथवा वे विज्ञान के गर्भ में नहीं है या विज्ञानस्वभाव नहीं हैं ।

विमलविज्ञानवादियों के अनुसार यद्यपि अविद्या के कारण घट, पट, नील, पीत आदि पदार्थों की विज्ञान में बाह्यार्थतः सत् के रूप में प्रतीति होती है, फिर भी चित्त या विज्ञान स्वरूपतः मल से रहित अर्थात् विमल होता है । इनके अनुसार क्लेश आदि मल वस्तुतः आगन्तुक होते हैं, अतः जब इन आगन्तुक मलों का प्रहाण कर दिया जाता है तब चित्त का वास्तविक विमल स्वरूप स्पष्टतया प्रतीत होने लगता है । यदि चित्त स्वरूपतः (स्वभावतः) समल होगा तो मलों के प्रहाण के साथ चित्त का भी प्रहाण हो जाएगा और बुद्ध की अवस्था में

भी विमल (निर्मल) चित्त उपलब्ध न हो सकेगा । विमलविज्ञानवाद का यह स्वरूप निःसंशय प्रामाणिक है । प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय आदि में तथा मध्यमकालंकार मूल एवं उसके भाष्य में पूर्वपक्ष के रूप में इसका उल्लेख मिलता है । मलों की आगन्तुकता का निरूपण महायानसूत्रालङ्कार में भी उपलब्ध होता है । पालि–पिटक में भी चित्त की स्वभावतः निर्मलता का उल्लेख मिलता है ।

(१) आगमानुयायी विज्ञानवाद

पदार्थमीमांसा

विज्ञानवाद के अनुसार प्रमेयों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं, यथा—(१) परिकल्पित लक्षण, (२) परतन्त्रलक्षण तथा (३) परि–निष्पन्नलक्षण ।

(१) **परिकल्पित लक्षण**—लक्षण को स्वभाव भी कहते हैं, अतः इसे परिकल्पित स्वभाव भी कहा जा सकता है । स्वग्राहक कल्पना द्वारा आरोपित होना परिकल्पित स्वभाव का लक्षण है । रूप, शब्द आदि बाह्य एवं जड पदार्थों में तथा इन्द्रिय, विज्ञान आदि आन्तरिक धर्मों में विकल्पों (कल्पनाओं) द्वारा ग्राह्य–ग्राहक की पृथक् द्रव्यसत्ता एवं बाह्यार्थता का आरोपण किया जाता है, वही बाह्यार्थारोप या ग्राह्य–ग्राहकद्वैत का आरोप 'परिकल्पित लक्षण' है । यहाँ जिस परिकल्पितलक्षण का प्रतिपादन किया जा रहा है, वह परिनिष्पन्नलक्षण या धर्मनैरात्म्य का निषेध्य होता है ।

परिकल्पित भी द्विविध होते हैं, यथा—सत्परिकल्पित एवं असत्परिकल्पित । रूप आदि धर्मों में विद्यमान अभिधेयत्व, अभिलाप्यत्व एवं आकाश आदि धर्म सत्परिकल्पित हैं । क्योंकि उनका व्यवहारतः अस्तित्व होता है और ये परिनिष्पन्नलक्षण या धर्मधातु के प्रतिषेध्य नहीं होते । बाह्यार्थता, अभिधेय की स्वलक्षणता, पुद्गलात्मा, खपुष्प, शशशृङ्ग आदि असत्परिकल्पित हैं, क्योंकि इनका व्यवहारतः भी अस्तित्व नहीं होता । शास्त्रों में केवल बाह्यार्थत्व एवं अभिधेयस्वलक्षणत्व का ही परिकल्पितलक्षण के रूप में उल्लेख मिलता है ।

(२) **परतन्त्रलक्षण**—हेतु–प्रत्ययों से उत्पन्न होना परतन्त्रस्वभाव का लक्षण है । समस्त चित्त–चैतसिक एवं उनमें आभासित रूप आदि धर्म परतन्त्रलक्षण हैं । उदाहरणार्थ रूप और रूपज्ञ चक्षुर्विज्ञान दोनों स्वभावतः अभिन्न और परतन्त्रलक्षण हैं, क्योंकि दोनों एक ही वासनाबीज के फल हैं, एक ही काल में उत्पन्न होते हैं और एक ही काल में निरुद्ध होते हैं ।

परतन्त्र भी द्विविध है, यथा—अशुद्ध परतन्त्र एवं शुद्ध परतन्त्र । समस्त सांसारिक वस्तुएं, जिन पर कर्म और क्लेशों का प्रभाव पड़ता है, अशुद्ध परतन्त्र हैं । आर्यों का समाहित ज्ञान, सर्वज्ञ ज्ञान, बुद्ध के काय–वाक्–क्षेत्र आदि शुद्ध परतन्त्र कहलाते हैं । परतन्त्र इसलिए परतन्त्र कहलाता है, क्योंकि वह अपने से भिन्न हेतुओं एवं प्रत्ययों से उत्पन्न होता है, उनके अधीन होता है । रूप आदि समस्त धर्म आलयविज्ञान एवं उसमें स्थित वासनाओं के फल हैं, अतः उनका उत्पाद इन हेतु–प्रत्ययों के अधीन होता है । व्याख्या–भेद से रूप आदि परतन्त्र लक्षण परमार्थसत् भी होते हैं ।

(३) **परिनिष्पन्नलक्षण**—ऊपर कहा गया है कि रूप आदि परतन्त्र धर्मों में आरोपित बाह्यार्थत्व एवं अभिधेयस्वलक्षणत्व परिकल्पितलक्षण हैं, जो परतन्त्र धर्मों में नितान्त असत् हैं । परतन्त्र धर्मों में परिकल्पितलक्षण की वस्तुतः अविद्यमानता या रहितता ही 'परिनिष्पन्नलक्षण' है और विज्ञानवादी शास्त्रों में यही (परिनिष्पन्न लक्षण) धर्मधातु, तथता, भूतकोटि, परमार्थसत्य आदि शब्दों से निर्दिष्ट है । यह परिनिष्पन्न लक्षण परतन्त्रलक्षण से न भिन्न होता है और न अभिन्न । वह स्वभावतः अभिन्न और व्यावृत्तितः भिन्न होता है ।

लक्षण विचार

'परतन्त्र' शब्द में 'पर' का अर्थ 'हेतु और प्रत्यय' है । 'तन्त्र' का अर्थ 'अधीन या बशीभूत होना' है । अर्थात् जिसका अस्तित्व हेतु–प्रत्यय के अधीन है, वह 'परतन्त्र' कहलाता है । उदाहरणार्थ बीज आदि (हेतु) अङ्कुर को द्रव्यतः या स्वभावतः उत्पन्न करता है । आशय यह है कि बीज की द्रव्यतः सत्ता है, बाह्यार्थतः नहीं । अर्थात् द्रव्यसत् बीज द्रव्यसत् अङ्कुर को उत्पन्न करता है, बाह्यार्थतःसत् अङ्कुर को नहीं । यदि अङ्कुर स्वभावतः (द्रव्यतः) उत्पन्न नहीं होगा तो वह उत्पन्न ही नहीं होगा । क्योंकि ऐसी स्थिति में अङ्कुर का कल्पित उत्पाद मानना पड़ेगा और कल्पित उत्पाद से उत्पाद की व्यवस्था नहीं की जा सकती ।

यदि परतन्त्र स्वभावसत् रूप में उत्पन्न नहीं होगा तो उसमें परिकल्पित स्वभाव (लक्षण) का आरोप नहीं किया जा सकेगा। अर्थात् वह (परतन्त्र) कल्पित स्वभाव के आरोप का आधार नहीं हो सकेगा, जैसे कोई जाने की इच्छा वाला पुरुष पङ्गु के ऊपर नहीं चढ़ सकता। यदि उसमें आरोप नहीं किया जा सकेगा तो वह (परतन्त्र) कदापि आरोपित धर्म (परिकल्पित लक्षण) से शून्य भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। परतन्त्र में परिकल्पित (आरोपित) लक्षण से शून्यता (रहितता) परिनिष्पन्न लक्षण कहलाती है। स्वभावसत् न होने की स्थिति में वह (परतन्त्र) परिनिष्पन्नलक्षण का आधार भी न हो सकेगा। इस तरह यदि परतन्त्र को स्वभावसत् (द्रव्यसत्) न माना जाएगा तो तीनों लक्षणों की व्यवस्था नहीं की जा सकेगी, क्योंकि परतन्त्र ही परिकल्पित और परिनिष्पन्न दोनों का आधार हुआ करता है। अतः परतन्त्र को निःस्वभाव मानना (जैसे कि माध्यमिक मानते हैं) तीनों लक्षणों का अपवाद करना है। ऐसी स्थिति में उच्छेदवाद का प्रसङ्ग होगा। अतः परतन्त्र स्वभावतः (द्रव्यतः) सत् है। इसी के आधार पर संसार और निर्वाण की या व्यवहार और परमार्थ की सारी व्यवस्था सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकती है। आर्य–असङ्ग की बोधिसत्त्वभूमि, महायानसङ्ग्रह तथा आर्य मैत्रेयनाथ के महायानसूत्रालङ्कार आदि में इस विषय की विस्तृत चर्चा है। विशेषतः जानने के इच्छुक जिज्ञासुओं को उनका अवलोकन करना चाहिए।

उक्त प्रकार के परतन्त्रलक्षण में शब्द और कल्पना द्वारा जो आरोपित किया जाता है, वह परिकल्पित लक्षण होता है। अर्थात् शब्द और कल्पना परतन्त्र में असत् (जो वस्तुतः नहीं है अर्थात् जो मिथ्या है) का समारोप करते है और उसी (आरोपित) को अपना विषय बनाते हैं। जैसे आधारभूत (परतन्त्र) घट में शब्द और कल्पना बाह्यार्थत्व का समारोप करते हैं और वही बाह्यार्थता उनका विषय होता है, जबकि बाह्यार्थता उस घट में सर्वथा नहीं होती। इसी तरह वे (शब्द और कल्पना) घट को प्रमेय के रूप में, धर्म के रूप में भी विकल्पित करते हैं, तथापि प्रमेयत्व, धर्मत्व आदि मुख्य परिकल्पितलक्षण नहीं हैं, क्योंकि वे धर्मनैरात्म्य या परिनिष्पन्नलक्षण के प्रतिषेध्य नहीं होते। प्रमुख प्रतिषेध्य तो बाह्यार्थत्व या ग्राह्यग्राहक–द्वैत ही है और वही मुख्य परिकल्पित–लक्षण है।

ज्ञात है कि परतन्त्र में यद्यपि शब्द और कल्पना द्वारा बाह्यार्थता (परिकल्पितलक्षण) का आरोपण किया जाता है, फिर भी वस्तुतः परतन्त्र उस

बाह्यार्थता से रहित ही होता है। यह जो परन्तत्र में वस्तुतः बाह्यार्थता (परिकल्पितलक्षण) से रहितता (शून्यता) है, यही शून्यता 'परिनिष्पन्नलक्षण' है। यही विज्ञानवादियों का परमार्थसत्य, धर्मधातु, तथता या भूतकोटि है। यह शून्यता प्रसज्यप्रतिषेध रूप है, पर्युदासप्रतिषेध नहीं है। अर्थात् घट, पट आदि परतन्त्र में बहिरर्थता का अभावमात्र परिनिष्पन्नलक्षण है और घट, पट आदि परतन्त्रलक्षण हैं। परिनिष्पन्न और परतन्त्र में तादात्म्य सम्बन्ध होता है। परिनिष्पन्न परमार्थसत्य और परतन्त्र संवृतिसत्य है। परिनिष्पन्नता को सिद्ध करने के लिए विज्ञानवादी अनेक युक्तियों का प्रयोग करते हैं।

विशेष ज्ञातव्य—विज्ञानवादी पदार्थमीमांसा के सम्यग् ज्ञान के लिए सबसे पहले यह जान लेना जरूरी है कि जब वे बाह्यार्थ का खण्डन करते हैं, तब 'बाह्य' से उनका तात्पर्य क्या है। अर्थात् किसे वे 'बाह्य' कहते हैं। सारा प्रपञ्च विज्ञान में न मानकर ज्ञेय पदार्थ यदि ज्ञान से भिन्न या बाहर माने जाते हैं तो यही ज्ञान से भिन्नता 'बाह्यार्थता' है। अर्थात् व्यक्ति द्वारा ज्ञान से भिन्न माने गये पदार्थ ही 'बाह्य' हैं। कहने का आशय यह है कि विज्ञानवादियों के अनुसार यही 'बाह्य' की सीमा है। इसके विपरीत उन्हें (सारे पदार्थों को) ज्ञान से स्वभावतः अभिन्न मानना 'वास्तविकता' या आन्तरिकता की सीमा है। अर्थात् सारा प्रपञ्च ज्ञान के गर्भ में स्थित है और स्वभावतः ज्ञान से अभिन्न है। इसे ही 'विज्ञप्ति' कहते हैं। घट, पट आदि सभी यद्यपि विज्ञान से एकात्मक हैं, तथापि वे विज्ञान ही नहीं हैं। अपि तु विज्ञान के परिणाम हैं। घट, पट आदि जड हैं, जब कि विज्ञान जड नहीं होता. चित्तसन्तति में अनेक प्रकार की वासनाएं स्थित होती हैं। उन वासनाओं में से कोई एक समर्थ वासना परिपक्व होने पर घट और चक्षुर्विज्ञान के रूप में परिणत हो जाती है। अर्थात् उस वासनापरिणाम का एक अंश घट (विषय) एवं एक अंश उस विषय का ग्राहक (विषयी) विज्ञान के रूप में भासित होता है। वह विषय अर्थात् घट यद्यपि रूप (जड) होता है, फिर भी वह परमाणुओं से सञ्चित घट नहीं होता। उन विभिन्न प्रकार की वासनाओं के आश्रय के बारे में विज्ञानवादियों के दो प्रकार के मत हैं। आगमानुयायी विज्ञानवादी कहते हैं कि उन वासनाओं का आश्रय आलयविज्ञान होता है, जबकि अन्य प्रकार के बौद्ध जो आलयविज्ञान नहीं मानते, वासनाओं का आश्रय मनोविज्ञान को मानते हैं। आगमानुयायी विज्ञानवादी प्रयत्नपूर्वक विभिन्न युक्तियों के द्वारा आलयविज्ञान को सिद्ध करते हैं।

ज्ञात है कि प्रायः सभी बौद्ध विज्ञानों की संख्या छह मानते हैं, यथा— चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान एवं मनोविज्ञान। यद्यपि स्थविरवादी चित्तों की संख्या ८९ या १२१ मानते हैं, फिर भी उनका उपर्युक्त छह विज्ञान में अन्तर्भाव हो जाता है। चित्त, विज्ञान, मनस् एवं विज्ञप्ति पर्यायवाची हैं। किन्तु आगमानुयायी विज्ञानवादियों की स्थिति इससे भिन्न है। वे उपर्युक्त छह विज्ञानों के अलावा आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान की भी सत्ता मानते हैं। फलतः इनके मत में विज्ञानों की संख्या आठ हो जाती है। अर्थात् आगमानुयायी विज्ञानवादी अष्टविज्ञानवादी होते हैं। आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान को लेकर आगमानुयायी और उनसे भिन्न बौद्ध दार्शनिकों में बहुत वाद–विवाद हैं। आगमानुयायी विज्ञानवादी अन्य बौद्ध दार्शनिकों द्वारा प्रयुक्त युक्तियों का खण्डन करके प्रमाणपूर्वक आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान की सिद्धि करते हैं।

आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान

(क) आलयविज्ञान—आलयविज्ञान का प्रतिपादन हम उसका तीन विचारविन्दुओं में विभाजन करके प्रस्तुत करेंगे, यथा—(१) लक्षण (२) युक्ति तथा (३) एक या नौ विज्ञान माननेवालों का खण्डन।

ज्ञातव्य है कि वासनाओं के आश्रय विज्ञान को भी 'आलय' कहते हैं तथा उसमें आश्रित वासनाओं को भी 'आलय' कहते हैं। आश्रय विज्ञान को 'विपाक आलय' एवं आश्रित वासनाओं को 'बीज–आलय' कहते हैं। उनमें से प्रथम आश्रयभूत विपाक आलय ही 'आलयविज्ञान' कहलाता है।

(१) लक्षण—चक्षुष् आदि इन्द्रिय, रूप–शब्द आदि अर्थ तथा वासना इन तीनों को यथायोग्य आलम्बन बनाकर अपरिच्छिन्नालम्बन, अपरिच्छिन्नाकार एवं अनिवृताव्याकृत रूप में उत्पन्न मनोविज्ञान आलयविज्ञान का लक्षण है। इन्द्रिय शब्द से पांचों इन्द्रियों और उन इन्द्रियों से सम्पन्न सत्त्व (प्राणी) का ग्रहण करना चाहिए। 'अर्थ' शब्द से रूप, शब्द, गन्ध, रस एवं स्प्रष्टव्य इन पांचों विषयों का ग्रहण करना चाहिए। तथा 'वासना' शब्द से आत्मा और धर्मों को बाह्यार्थ के रूप में कल्पित (आरोपित) करके उनमें (आरोपित बाह्यार्थ में) अभिनिविष्ट विकल्पों द्वारा प्रक्षिप्त (आलयविज्ञान में स्थापित) वासनाओं का ग्रहण करना चाहिए।

अपरिच्छिन्न आलम्बन एवं आकार—यद्यपि आलय विज्ञान में भाजन (इन्द्रिय एवं अर्थ) और सत्त्वों का प्रतिभास तो होता है, किन्तु उन आलम्बनों का एवं उनके आकारों का आलयविज्ञान स्पष्टतया परिच्छेद (अवबोध या निश्चय) नहीं कर पाता तथा न तो उस प्रतिभास के बाद आलयविज्ञान किसी निश्चायक (निश्चय करनेवाले) ज्ञान को अपने बल से आनीत (उत्पन्न) करने में समर्थ होता है। अतः वह अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार कहलाता है।

अनिवृताव्याकृत—वह आलयविज्ञान अनिवृत और अव्याकृत होता है। वह अनिवृत इसलिए है, क्योंकि स्वरूपतः वह क्लेश आवरणों से आवृत नहीं होता। इस का कारण यह है कि वह आनन्तर्य समाहित मार्ग की अवस्था में भी विद्यमान होता है। समाधि की अवस्था में जिस समय आर्य साधक योगी में तत्त्व (शून्यता) का साक्षात्कारी ज्ञान (मार्ग) उत्पन्न होता है, उसे आर्य की 'समाहित अवस्था' कहते हैं। इस अवस्था के भी दो भाग होते हैं, यथा— आनन्तर्य समाहित अवस्था एवं विमुक्ति–समाहित–अवस्था। इसे ही क्रमशः आनन्तर्य आर्यमार्ग एवं विमुक्ति आर्य मार्ग भी कहते हैं। आनन्तर्य मार्ग की अवस्था में क्लेशों, आवरणों और मलों का आत्यन्तिक प्रहाण होता है। तथा विमुक्ति मार्ग उस प्रहाण को धारण करनेवाला आधार होता है। यदि आलयविज्ञान आवरणों से युक्त होता तो आवरणों का प्रहाण करनेवाले आनन्तर्य समाहित मार्ग की अवस्था में उसका विद्यमान रहना सम्भव नहीं होता। अतः वह अनिवृत है। आलयविज्ञान न कुशल होता है और न अकुशल, क्योंकि दोनों अवस्थाओं में वह विद्यमान होता है और दोनों द्वारा स्थापित वासनाओं को धारण करता है तथा दोनों के अनुकूल होता है तथा वह कुशल और अकुशल का विपाक हुआ करता है। जो विपाक होता है, उसका कुशल अथवा अकुशल में संग्रह नहीं किया जा सकता। अतः कुशल अथवा अकुशल के रूप में व्याकृत (विभाजित) नहीं किया जा सकने के कारण वह 'अव्याकृत' भी है।

मनोविज्ञान—आलयविज्ञान, क्योंकि चक्षुष् आदि रूपी इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान नहीं है, अतः 'मनस्' कहलाता है। वह विज्ञान इसलिए है, क्योंकि चित्त–चैतसिकों के अन्तर्गत वह एक चित्त है तथा चित्त और विज्ञान एकार्थक हैं।

यदि आलयविज्ञान चित्त है तो उसमें चैतसिकों को सम्प्रयुक्त होना चाहिए, क्योंकि बिना चैतसिकों के कोई चित्त नहीं हुआ करता। विज्ञानवादी उसमें पाँच चैतसिकों का सम्प्रयोग मानते हैं, यथा—स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना। इन पाँच चैतसिकों के अतिरिक्त कोई अन्य चैतसिक आलयविज्ञान से सम्प्रयुक्त नहीं होता। यद्यपि वेदना त्रिविध होती है—सुख, दुःख और उपेक्षा। किन्तु तीनों प्रकार की वेदनाएं आलयविज्ञान से सम्प्रयुक्त नहीं होती, अपितु केवल उपेक्षा वेदना ही उससे सम्प्रयुक्त होती है।

यह विशेषतः ज्ञातव्य है कि आलयविज्ञान की आलम्बनभूत वासना, जो उसमें आभासित होती है, वह आलयविज्ञान से न तो द्रव्यतः भिन्न होती है और न अभिन्न। वह वस्तुतः आलयविज्ञान से भिन्नाभिन्नत्वेन अनिर्वचनीय है।

कतिपय प्रश्न

यदि वासना आलयविज्ञान से अभिन्न है तो उसका आलयविज्ञान में आभासित होना कैसे सम्भव है ?

उत्तर—वासना आभासित होकर आलयविज्ञान की आलम्बन नहीं हुआ करती, अपितु उस वासना के बल से आलयविज्ञान में अर्थ, इन्द्रिय आदि भाजन एवं सत्त्व प्रतिभासित होते हैं। अतः कारण में कार्य का उपचार करके वह (वासना) भी आलयविज्ञान का आलम्बन कही जाती है।

प्रश्न—सभी प्राणियों में आलयविज्ञान होता है और उसमें रूप आदि अर्थ, इन्द्रिय (सत्त्व) और वासनाएं भासित होते हैं। अर्थात् ये (अर्थ आदि) उसके आलम्बन होते हैं। बौद्ध मान्यता के अनुसार तीन लोक होते हैं—कामलोक, रूपलोक और अरूपलोक। काम और रूपलोक में तो रूपी (जड) पदार्थों का अस्तित्व होता है, किन्तु अरूपलोक में तो उनका सर्वथा अस्तित्व नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्रश्न है कि अरूपलोक के प्राणियों में विद्यमान आलयविज्ञान में अर्थ, इन्द्रिय आदि भाजन एवं सत्त्वों का प्रतिभास होता है कि नहीं ?

उत्तर—**नहीं होता**। अरूपभूमि के सत्त्वों के आलयविज्ञान में यदि अर्थ, इन्द्रिय (**भाजन और सत्त्व**) आदि का साक्षात् प्रतिभास होगा तो उन सत्त्वों के

मनोविज्ञान द्वारा उन (अर्थ, इन्द्रिय) का व्यवहार होने लगेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञानों में जिन विषयों का प्रतिभास होता है, उनका मनोविज्ञान द्वारा व्यवहार होता है। ऐसी स्थिति में वे अरूपी (अरूप लोक के) सत्त्व रूपी (रूपलोक के) सत्त्व हो जाएंगे। अपि च, यदि अरूपलोक के आलयविज्ञान में भाजन और सत्त्वों का प्रतिभास होगा तो अरूपी सत्त्व रूपी संज्ञा वाले होने लगेंगे। तथा अरूप भूमि के जिन सत्त्वों ने अरूप भूमि में उत्पन्न होने के लिए पहले रूपविरागभावना का अभ्यास करके रूप संज्ञा का प्रहाण किया है, उन्हें अरूप भूमि में उत्पन्न होने पर भी पुनः यदि रूपों (अर्थ, इन्द्रिय आदि) का प्रतिभास होने लगेगा तो उनकी ध्यान–भावना व्यर्थ हो जाएगी।

प्रश्न—तब तो आपको अरूपी सत्त्वों के आलयविज्ञान को निराकार मानना पड़ेगा, क्योंकि आपके अनुसार उसमें अर्थ, इन्द्रिय आदि का प्रतिभास तो होता नहीं। रही वासना, वह भी प्रतिभासित होकर तो कभी आलम्बन होती नहीं, ऐसी स्थिति में आपको निरालम्बन ज्ञान स्वीकार करना पड़ेगा, जब कि निरालम्बन ज्ञान हुआ नहीं करता ?

उत्तर—ठीक है। हम निरालम्बन ज्ञान स्वीकार करते हैं। क्योंकि जितने भी ज्ञान होते हैं, उनका सालम्बन (आलम्बन के साथ) होना आवश्यक नहीं है। जैसे भूतकालिक वस्तुओं का स्मरण करनेवाला (स्मरणात्मक) ज्ञान, भविष्यकालिक वस्तुओं का विकल्प करनेवाला (विकल्पात्मक) ज्ञान, दर्पणगत प्रतिबिम्ब को देखने वाला ज्ञान, केशोण्डुक (अभूत केशगुच्छ) ग्राही ज्ञान, स्वप्न–ग्राहक ज्ञान—इन सब ज्ञानों के आलम्बन वस्तुसत् नहीं होते। इन सामान्य ज्ञानों के बारे में जब यह वस्तुस्थिति है तब आलयविज्ञान जैसे विज्ञान में तो और भी विशेष रूप से आलम्बन की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह कोई आलम्बन के वश से सन्तति के रूप में प्रवृत्त होनेवाला विज्ञान नहीं है, अपितु यह पूर्व जन्मों के कुशल–अकुशल कर्मों द्वारा सुगति या दुर्गति में प्रक्षिप्त होकर पुद्गल के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त बिना एक क्षण भी रुके प्रक्षेपक कर्मों के वश से सन्तति रूप में निरन्तर प्रवाहित होनेवाला विज्ञान है। इसलिए अरूप भूमि में अर्थ एवं इन्द्रिय अर्थात् भाजन और सत्त्वों के नहीं होने पर भी वासना ही उस (आलयविज्ञान) का आलम्बन कही जाती है। यद्यपि वासना आलयविज्ञान में प्रतिभासित होते हुए आलम्बन नहीं होती, फिर भी उस (वासना) के वश (सामर्थ्य) से अरूप भूमि में भी वे भाजन, सत्त्व आदि आभासित होने योग्य

(आभास्य) तो होते ही हैं, जैसे कुसूलस्थ (कोठी में रखे हुए) बीज भी अङ्कुर के हेतु कहे जाते हैं, यद्यपि उस समय उनसे अङ्कुर का उत्पाद नहीं हो रहा है।

प्रश्न—यदि अरूप धातु की उपर्युक्त व्यवस्था है तो नीचे की रूप धातु और काम धातु के एक ही आलयविज्ञान में जितने भी भाजन और सत्त्वों के बीज निहित हैं, वे सभी प्रकार के भाजन और सत्त्व उसमें प्रतिभासित होते हैं कि नहीं ?

उत्तर—नीचे की काम और रूप भूमियों के किसी एक ही आलयविज्ञान में यदि सभी प्रकार के भाजन और सत्त्व प्रतिभासित होने लगेंगे तो रूपभूमि के देवों, ब्रह्माओं की चित्तसन्तति में भी नरक में अनुभूत होनेवाले तप्त अयःपिण्ड (लौह पिण्ड) और ज्वाला–अङ्गार आदि की ख्याति (प्रतीति) होने लगेगी। यदि वैसी ख्याति होना स्वीकार कर लिया जाता है तो वे रूपभूमि के देव नारकीय दुःखों से पीडित होने लगेंगे, क्योंकि उनके आलयविज्ञान में नारकीय प्रतिभास के बीज जागरित हो गये हैं। नारकीय प्रतिभास होने के लिए वासनापरिणाम अपेक्षित होता है और यह बीजों का जागरण ही वासनापरिणाम है। बीजों के वश से जो प्रतिभास होता है, उस प्रतिभास से हानि या लाभ अथवा सुख–दुःख आदि होते हैं, जैसे स्वप्न में दृष्ट मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ या इष्ट–अनिष्ट विषयों से हानि–लाभ आदि होते हैं।

प्रश्न—समान जातीय गति (योनि) के इन्द्रिय, अर्थ आदि तो प्रतिभासक (प्रतिभास करानेवाले) और उपभोजक (उपभोग करानेवाले) दोनों प्रकार के कर्मों से निष्पन्न होते हैं, अतः उनसे हानि या लाभ आदि हो सकते हैं, किन्तु विजातीय गतियों के इन्द्रिय, अर्थ आदि भाजन तो प्रतिभासक कर्मों से ही उत्पन्न होंगे, वे उपभोजक कर्मों से उत्पन्न नहीं होंगे, फलतः उनसे हानि या लाभ कैसे हो सकता है ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रूप, शब्द आदि कुछ विषय कुछ सजातीय योनियों के सत्त्वों की हानि करते हुए तथा विजातीय सत्त्वों का लाभ करते हुए प्रत्यक्षतः देखे जाते हैं तथा आन्तरिक ज्ञान में रूपत्वेन, शब्दत्वेन ख्यात होने से अतिरिक्त वे कोई बाह्य भाजन नहीं होते। ऐसी स्थिति में मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ स्पस्ट प्रतिभास मात्र द्वारा हानि या लाभ होता है, इस प्रतिभास में

उपभोजक कर्म की कोई अपेक्षा नहीं होती। जैसे—मायाकार द्वारा माया–निर्मित यम का यम के रूप में स्पष्ट प्रतिभास होने पर भय तथा मायानिर्मित युवति का प्रतिभास होने पर राग की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न—तब नीचे की काम एवं रूप भूमियों के आलयविज्ञान में किस प्रकार के भाजन और सत्त्वों का प्रतिभास होता है ?

उत्तर—अपनी सन्तान में होनेवाली चक्षुष् आदि इन्द्रियां और उन इन्द्रियों में प्रतिभासित होनेवाले रूप आदि विषय तो नीचे की काम और रूप भूमियों के आलयविज्ञान के साक्षात् आलम्बन होते हैं तथा पुद्गल के षष्ठ (छठवें) विज्ञान में प्रतिभासित होने योग्य सभी विषय उस आलयविज्ञान के परम्परया आलम्बन स्थापित किये जाते हैं।

प्रश्न—यदि षष्ठ विज्ञान के सभी विषय परम्परया ही सही, आलयविज्ञान के गोचर (विषय) हो सकते हैं तो क्या द्वादशाङ्गप्रवचन एवं अतीत, अनागत आदि विषय, जो आरोपितात्मक (कल्पित) होते हैं और जो केवल मनोविज्ञान के ही विषय होते हैं, वे आलयविज्ञान के विषय होते हैं ?

उत्तर—इन्द्रिय, अर्थ और वासना, जो आलयविज्ञान के आलम्बन कहे गये हैं, उनसे अतिरिक्त द्वादशाङ्गप्रवचन एवं अतीत, अनागत आदि विषय, जो परिकल्पित होते हैं और मनोविज्ञान के ही विषय होते हैं, वे कभी भी आलयविज्ञान के विषय नहीं होते, क्योंकि वे मनोविज्ञान द्वारा आरोपित किये जाने वाले एवं व्यवहृत किये जानेवाले विषयमात्र होते हैं तथा आलयविज्ञान इस प्रकार आरोप करने और व्यवहार करने की विविध संज्ञाओं से रहित हैं।

प्रश्न—आलयविज्ञान क्यों कुशल या अकुशल न होकर केवल अनिवृताव्याकृत ही होता है ?

उत्तर—बात यह है कि आलयविज्ञान कुशल एवं अकुशल दोनों द्वारा वासित (वासना का आधार) होता है। यदि वह कुशल होगा तो अकुशल वासना द्वारा वासित नहीं किया जा सकेगा। इसी तरह अकुशल के बारे में भी जानना चाहिए। साथ ही वह एक ही सन्तान में कुशल की प्रवृत्ति के समय और अकुशल की प्रवृत्ति के समय साक्षात् रूप से विद्यमान होता है। इसलिए उसे

अनिवृताव्याकृत पक्ष में व्यवस्थापित किया जाता है । ऐसा होने पर वह परस्पर विरोधी (कुशल–अकुशल) दोनों के अनुकूल होता है ।

प्रश्न—आलयविज्ञान के साथ स्पर्श आदि केवल पाँच सर्वत्रग चैतसिक ही क्यों सम्प्रयुक्त होते हैं, जबकि चैतसिक ५१ होते हैं ?

उत्तर—ज्ञात है कि आलयविज्ञान अनिवृताव्याकृत है, कुशल या अकुशल नहीं । अतः उसमें ११ कुशल चैतसिक, ६ क्लेश चैतसिक एवं २० उपक्लेश चैतसिक सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते । क्योंकि कुशल चित्त के साथ ही कुशल चैतसिक और अकुशल चित्त के साथ ही क्लेश–उपक्लेश चैतसिक सम्प्रयुक्त हो सकते हैं । उसमें ५ विनियत चैतसिक भी सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि वे अपने आलम्बन और उनके आकार का स्पष्टतया परिच्छेद करते हैं, जबकि आलयविज्ञान अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार होता है । अतः वे उसमें सम्प्रयुक्त नहीं होते । ४ अनियत चैतसिक भी उसमें सम्प्रयुक्त नहीं होते, क्योंकि जिस प्रकार के आधार (सविकल्पक ज्ञान) में उनका सम्प्रयोग हो सकता है, आलयविज्ञान वैसा आधार नहीं है ।

पाँच सर्वत्रग चैतसिकों से आलयविज्ञान का सम्प्रयुक्त होना आवश्यक है । क्योंकि स्पर्श चैतसिक तो सभी चित्त–चैतसिकों का कारण होता है, अतः वह अवश्य सम्प्रयुक्त होगा । सभी चित्तों में कोई न कोई वेदना अवश्य होती है, अतः सुख, दुःख और उपेक्षा—इन त्रिविध वेदनाओं में से उपेक्षा वेदना आलयविज्ञान में सम्प्रयुक्त होती है । आलम्बन के सभी आकारों का ग्रहण सभी चित्तों का कृत्य होता है, अतः संज्ञा चैतसिक का सम्प्रयोग भी आवश्यक है । सभी चित्त विषय की ओर उन्मुख होते हैं, अतः चेतना चैतसिक भी सम्प्रयुक्त होता है तथा सभी चित्त आलम्बन का सन्धारण करते है या आलम्बन में आधृत होते हैं, अतः मनस्कार चैतसिक के साथ भी उनका सम्प्रयोग होता है ।

प्रश्न—आलयविज्ञान के साथ क्यों केवल मध्यस्थ अर्थात् उपेक्षा वेदना का ही सम्प्रयोग होता है, सुख और दुःख वेदनाओं का नहीं ?

उत्तर—यदि आलयविज्ञान के साथ सुख वेदना का सम्प्रयोग माना जाएगा तो चतुर्थ ध्यान के ऊपर की अवस्थाओं एवं भूमियों में भी सुख वेदना विद्यमान होने लगेगी और नरक में भी विपाक सुख होने लगेगा ।

यदि उसके साथ दुःख वेदना का सम्प्रयोग माना जाएगा तो रूपी और अरूपी ध्यान भूमियों में भी दुःख का प्रक्षेप होने लगेगा और वे दुःखा वेदना की भूमियाँ होने लगेंगी ।

प्रश्न—आश्रयभूत विपाकविज्ञान को 'आलय' क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—आलयविज्ञान को ही 'विपाक विज्ञान' कहते हैं । विपाक विज्ञान को 'आलय' इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह रूपस्कन्ध आदि समस्त सांक्लेशिक या सास्रव धर्मों का आधार (आश्रय) होता है । आलय और स्थान यह पर्यायवाची शब्द है । वह 'आलय' इसलिए भी है, क्योंकि समस्त धर्म इसके कार्य हैं । अर्थात् समस्त धर्म इससे कार्यरूप से उपनिबद्ध होते हैं । अथवा क्योंकि आलयविज्ञान समस्त धर्मों का कारण होता है, अतः यह समस्त धर्मों से कारणरूप से उपनिबद्ध होता है । अथवा वह 'आलय' इसलिए भी है, क्योंकि जीव इस (आलय) में क्लिष्ट मनोविज्ञान के द्वारा आत्मभाव से आसक्त होते हैं । अर्थात् समस्त जीव क्लिष्ट मनोविज्ञान द्वारा इस विपाक का आत्मा के रूप में ग्रहण करते हैं ।

यह विज्ञान 'विपाक' इसलिए है, क्योंकि यह पूर्व जन्मों के कुशल–अकुशल कर्मों के विपाक के रूप में उत्पन्न होता है । इस प्रकार विपाक के रूप में उत्पन्न होना ही 'जन्म' कहलाता है । पूर्व जन्मों के कर्मों की शक्ति के अनुरूप यह इस जन्म में सन्तति (धारा) के रूप में प्रवृत्त होता रहता है । जब पूर्व जन्मों की शक्ति का वेग समाप्त हो जाता है तब उसकी धारा समाप्त हो जाती है, इसे ही 'मृत्यु' कहते हैं । किन्तु समाप्त होते ही दूसरे कुशल–अकुशल कर्मों से यह पुनः उत्पन्न हो जाता है, अतः मृत्यु के अनन्तर पुनः जन्म हो जाता है । यह उत्पाद कर्म के अनुसार किसी भी योनि या गति में हो सकता है । कर्मों की शक्ति के वेग से जितने समय तक यह धारा के रूप में प्रवृत्त होता है, वही प्राणी की 'आयु' होती है । इस तरह इसका जन्म–जन्मान्तरों में उत्पाद तब तक होता रहता है, जब तक निर्वाण या बुद्धत्व प्राप्त नहीं हो जाता ।

प्रश्न—उक्त प्रकार के विपाक की निवृत्ति कब होती है ?

उत्तर—यद्यपि आलयविज्ञान को विपाकविज्ञान कहा जाता है, फिर भी दोनों में फर्क करना चाहिए । जो आलय विज्ञान होता है, वह अवश्य

विपाकविज्ञान होता है, किन्तु जो विपाकविज्ञान होता है, उसका आलयविज्ञान होना जरूरी नहीं है। विपाकविज्ञान निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में विद्यमान नहीं रहता तथा महायानी दशमभूमि की वज्रोपमसमाधि के अनन्तर भी विद्यमान नहीं रहता। इन दो अवस्थाओं को छोड़कर कभी भी किसी भी अवस्था में उसका अभाव नहीं होता। पुद्गल जब किसी जन्म में अर्हत्त्व प्राप्त करता है, तब अर्हत्त्व प्राप्त करते ही उसके विपाकविज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, अपितु जब तक वह निरुपधिशेष निर्वाण प्राप्त नहीं करता, तब तक उसकी प्रवृत्ति होते रहती है। क्योंकि वह पूर्व कर्मों का विपाक है और विपाक यावज्जीवन प्रवृत्त होनेवाला होता है। यही बात बोधिसत्त्व की वज्रोपम समाधि तक भी लागू है।

ज्ञात है कि आलयविज्ञान के दो अंश होते हैं—विपाकांश और वासना-अंश। ऊपर कहा गया है कि समस्त सांक्लेशिक धर्म आलयविज्ञान से कार्यरूप से सम्बद्ध रहते हैं तथा आलयविज्ञान उन सब में कारणरूपेण सम्बद्ध रहता है। क्लिष्ट मनोविज्ञान आलयविज्ञान को ही आत्मा के रूप में ग्रहण करता है। अर्थात् वह आलयविज्ञान से आत्मदृष्ट्या सम्बद्ध रहता है। इन सब कारणों की वज़ह से विपाकविज्ञान (विपाकांश) को 'आलयविज्ञान' यह संज्ञा प्राप्त होती है। जब क्लिष्ट मनोविज्ञान समाप्त हो जाता है तब विपाकविज्ञान 'आलयविज्ञान' नहीं रह जाता, फिर भी विपाकविज्ञान अवशिष्ट रहता है। फलतः जब पुद्गल अर्हत्त्व प्राप्त करता है, तब उसकी सोपाधिशेष अवस्था में ही उसका क्लिष्टविज्ञान नहीं रहता और उसकी वासनाएं समाप्त हो जाती हैं। इसी तरह महायान की अष्टम भूमि को प्राप्त अवैवर्तिक बोधिसत्त्व की अवस्था में भी वासना-अंश समाप्त हो जाता है, फलतः आलयविज्ञान की 'आलयविज्ञान' यह संज्ञा समाप्त हो जाती है, फिर भी उस पुद्गल की सन्तति में जब तक निरुपधिशेष निर्वाण प्राप्त नहीं होता या वज्रोपम समाधि की अवस्था नहीं आती, तब तक विपाकविज्ञान प्रवृत्त होता है।

प्रश्न—चक्षुरादि पाँच इन्द्रिय-विज्ञान विपाक क्यों नहीं कहे जाते, क्यों केवल यह आश्रयभूत विज्ञान ही विपाकविज्ञान कहलाता है ?

उत्तर—विपाक होने के लिए किसी विज्ञान को इन तीन विशेषणों से युक्त होना चाहिए:

(१) उसे अनिवृताव्याकृत होना चाहिए।

(२) उसे यावज्जीवन निरन्तर प्रवृत्त होना चाहिए। तथा

(३) उसे पूर्व कुशल-अकुशल कर्मों द्वारा प्रक्षिप्त होना अर्थात् फल होना चाहिए।

इस प्रकार के इन तीन विशेषणों से युक्त विज्ञान सपरिवार आलयविज्ञान ही हो सकता है, अन्य नहीं। अतः वही विपाकविज्ञान है।

जो अनिवृताव्याकृत होता है, उसका कुशल अथवा अकुशल दोनों का विपाक होना विरुद्ध नहीं है। जबकि कुशल का अकुशलविपाक होना अथवा अकुशल का कुशलविपाक होना विरुद्ध है, क्योंकि वे परस्पर विपक्ष-प्रतिपक्ष हैं। अर्थात् अकुशल कुशल का विपक्ष है तथा कुशल अकुशल का प्रतिपक्ष है।

प्रश्न—यदि कुशल का विपाक कुशल और अकुशल का विपाक अकुशल होना ही अविरुद्ध है तो विपाक अव्याकृत (अकुशल और कुशल दोनों नहीं) क्यों होता है ?

उत्तर—यदि विपाक अव्याकृत नहीं माना जाएगा तब तो संक्लेश की निवृत्ति कभी नहीं होगी, क्योंकि अकुशल का विपाक अकुशल ही होगा। ऐसी स्थिति में कुशल की उत्पत्ति के लिए अवसर ही नहीं रहेगा। अपि च, विपाक क्योंकि जन्म-जन्मान्तरों तक प्रवृत्त होता है, फलतः संक्लेश की निवृत्ति कभी नहीं होगी। यदि विपाक को कुशल माना जाएगा तो कुशल की क्षणमात्र भी निवृत्ति नहीं होगी और अकुशल के उत्पाद का कोई अवसर नहीं रहेगा। जब उत्पाद नहीं होगा तो निरोध भी नहीं होगा। विपाक यदि अकुशल होगा तो उसके नाश के लिए कुशल प्रतिपक्ष के उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहेगी। प्रतिपक्ष के अनुत्पाद से संक्लेश कभी उन्मूलित नहीं हो सकेगा। साथ ही, विच्छिन्न-कुशल-मूल पुद्गल में भी कुशल चित्त साक्षात् विद्यमान होगा—इत्यादि अनन्त दोष होंगे। अतः विपाक को अव्याकृत ही मानना उचित है ?

चुक्षर्विज्ञान आदि इन्द्रियविज्ञान क्योंकि मरने से पूर्व प्रायः निवृत्त होते रहते हैं, अतः वे लक्षणवान् विपाक नहीं हैं। अर्थात् उनमें विपाक के लक्षण

घटित नहीं होते। अतः आश्रयभूत विज्ञान ही वस्तुतः विपाक है। विशेष ज्ञान के लिए महायानसङ्ग्रह एवं अभिधर्मसमुच्चय का अवलोकन करना चाहिए।

आश्रित 'बीज–आलय'

लक्षण–ज्ञात है कि आगमानुयायी विज्ञानवादी आठ विज्ञान मानते हैं– चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान, मनोविज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान एवं आलयविज्ञान। इनमें से आलयविज्ञान वासनाओं का आधार होता है, अतः वह 'वास्य' (वासित करने योग्य) कहलाता है तथा बाकी के सात विज्ञान (अर्थात् सप्तगण) उसमें वासना स्थापित करते हैं, अतः 'वासक' कहलाते हैं। इनमें से केवल क्लिष्ट मनोविज्ञान अव्याकृत होता है और बाकी के छह विज्ञान (षड्गण) कुशल, अकुशल और अव्याकृत तीनों होते हैं। उपर्युक्त सातों विज्ञान अपनी निरुद्ध होने की अवस्था में आलयविज्ञान में अपने बीज (वासना) स्थापित करते हैं। बीज के रूप में स्थापित यही शक्ति 'आश्रित बीज–आलय' कहलाती है। षड् गण अर्थात् छह विज्ञान कुशल, अकुशल और अव्याकृत तीनों प्रकार के बीज स्थापित करते हैं तथा क्लिष्ट मनोविज्ञान केवल अव्याकृत ही होने से अव्याकृत बीज ही स्थापित करता है।

प्रश्न–उपर्युक्त सपरिवार वासक सातविज्ञान (सप्तगण) ही क्यों बीज स्थापित करनेवाले के रूप में निश्चित हैं ?

उत्तर–उपर्युक्त सात विज्ञान 'प्रवृत्तिविज्ञान' भी कहलाते हैं। प्रवृत्तिविज्ञान और आलयविज्ञान परस्पर हेतु–फलभाव के रूप में सम्बद्ध होते हैं। प्रवृत्तिविज्ञान अपने द्वारा आलयविज्ञान में पहले स्थापित बीजों को परिपुष्ट भी करते हैं और उस समय वे 'बीज–आलय' के अधिपतिप्रत्यय कहलाते हैं तथा नवीन बीजों को स्थापित भी करते हैं और उस समय वे 'बीज–आलय' के हेतुप्रत्यय होते हैं। ये प्रवृत्तिविज्ञान मृत्यु के अनन्तर अगले जन्म में प्रतिसन्धि करनेवाले आलयविज्ञान के 'विपाक–अंश' या 'विपाक–आलय' को उत्पन्न करने के लिए भी आलयविज्ञान में बीज स्थापित करते हैं।

प्रश्न–वास्य आलयविज्ञान को किन–किन विशेषणों से युक्त होना चाहिए ?

उत्तर–आलयविज्ञान निम्नलिखित पाँच विशेषणों से युक्त होता है :

(१) वास्य (वासना के आधार) आलयविज्ञान को एक स्थिर (दृढ) विज्ञान होना चाहिए। अर्थात् उसे धारावाहिक क्षणिक परम्परा के रूप में सर्वदा प्रवाहित होते रहना चाहिए। तभी उस पर वासना स्थापित की जा सकेगी। उसे शब्द और विद्युत् की भाँति नितान्त अस्थिर नहीं होना चाहिए, क्योंकि उस स्थिति में उस पर न तो वासना आहित की जा सकेगी और आहित हो भी जाए तो भी वह व्यर्थ होगी। इसीलिए सप्तगण विज्ञान और रूप, शब्द आदि वासना के आधार नहीं माने जाते।

आलयविज्ञान से अवशिष्ट सप्तगण विज्ञान इसलिए वास्य नहीं माने जाते, क्योंकि असंज्ञिसमापत्ति, निरोधसमापत्ति, निद्रा (मिद्ध) अवस्था एवं मूर्च्छा आदि अचित्तक अवस्थाओं में वे विद्यमान नहीं रहते। तथा क्लिष्ट मनोविज्ञान भी लोकोत्तर मार्ग आदि की अवस्थाओं में विद्यमान नहीं रहता। इस प्रकार किन्हीं–किन्हीं अवस्थाओं में उनकी सन्तति के विच्छिन्न हो जाने के कारण वे वास्य होने योग्य नहीं होते। रूप आदि भी वास्य नहीं होते, क्योंकि अरूप भूमि में उनका अस्तित्व नहीं होता।

प्रश्न–आलयविज्ञान का भी तो अर्हत् आदि अवस्था में निरोध हो जाता है, फिर उसे क्यों वास्य माना जाता है ?

उत्तर–दोष नहीं है। हमारा अभिप्राय है कि जब तक वासक होते हैं तब तक वास्य को धारावाहिक रूप में निरवच्छिन्न प्रवाहित होते रहना चाहिए। जब वासक ही न हों तब वास्य के न रहने में कोई दोष नहीं है।

(२) वास्य आलयविज्ञान को अव्याकृत होना चाहिए। क्योंकि अव्याकृत विज्ञान कुशल या अकुशल न होकर एक मध्यस्थ विज्ञान होता है और ऐसा मध्यस्थ विज्ञान ही वासना स्थापित करने के अनुकूल होता है। उदाहरणार्थ जैसे उग्र गन्ध वाले लहसुन, हींग आदि द्रव्यों में या चन्दन आदि में कोई दूसरा गन्ध–द्रव्य रखा भी जाए तो भी उस गन्धद्रव्य की गन्ध उन लहसुन या चन्दन आदि विषम गन्ध वाले द्रव्यों में स्थापित नहीं की जा सकती, किन्तु वही गन्ध–द्रव्य यदि पानी आदि समगन्ध वाले द्रव्य में रखा जाता है तो उसकी गन्ध स्थापित हो जाती है। इसी तरह मध्यस्थ अव्याकृत आलयविज्ञान में ही कुशल, अकुशल

आदि की वासना स्थापित की जा सकती है । क्योंकि वह कुशल, अकुशल दोनों से विरुद्ध नहीं होता ।

(३) उसे (आधार को) अवलेप्य (जिस पर लेप किया जा सके) होना चाहिए । अर्थात् उसे अनित्य एवं संस्कृत होना चाहिए, क्योंकि आकाश आदि नित्य पदार्थों पर कोई चीज चढ़ाई नहीं जा सकती ।

(४) उसे स्थापन (आधान) क्रिया से सम्बद्ध होना चाहिए । अर्थात् वासक (स्थापक) और वास्य (स्थाप्य) में ऐसा सम्बन्ध होना चाहिए कि दोनों का एक काल और एक सन्तान में उत्पाद और एक काल में निरोध हो । क्योंकि भिन्न सन्तान और भिन्न काल में होने वाले दो द्रव्यों में वास्य–वासकभाव नहीं हो सकता ।

(५) उसे एकान्त रूप से सर्वदा आश्रय ही होना चाहिए । अर्थात् उसे कदापि आश्रित नहीं होना चाहिए । साथ ही उसे गौण रूप से नहीं, अपितु मुख्य रूप से आश्रय होना चाहिए । आलयविज्ञान से सर्वदा सम्प्रयुक्त होने वाले स्पर्श आदि पाँच सर्वत्रग चैतसिक भी वास्य नहीं हो सकते, क्योंकि वे मुख्य आलयविज्ञान नामक चित्त में आश्रित होते हैं, अतः वे एकान्ततः आश्रय नहीं हैं ।

प्रश्न—आलयविज्ञान से सम्प्रयुक्त होनेवाले पांच सर्वत्रग चैतसिक भविष्य में अपने उत्पादक बीजों (वासना) को आलयविज्ञान में स्थापित करते हैं कि नहीं ? यदि करते हैं तो सात विज्ञानों से अतिरिक्त भी स्थापक होते हैं, जबकि आप सप्तगण को ही स्थापक मानते हैं ? यदि नहीं करते हैं तो उन सर्वत्रग आदि पांच चैतसिक का उत्पाद अहेतुक होगा ?

समाधान—इस उपर्युक्त प्रश्न के दो उत्तर हो सकते हैं :

(१) कुछ लोग अहेतुक उत्पाद के भय से वे (चैतसिक) आलयविज्ञान में अपने बीज स्थापित करते हैं—ऐसा मानते हैं । यह एक पक्ष (उत्तर) है ।

(२) स्पर्श आदि क्योंकि अत्यन्त अव्यक्त और अव्याकृत होते हैं, अतः अपने उत्पादक बीजों को स्थापित नहीं करते । फिर भी वे पूर्व कर्मों के विपाक

होने के कारण पूर्व कर्मों के प्रक्षेप के बल से मृत्युपर्यन्त प्रवृत्त होते रहते हैं । पूर्व कर्म वस्तुतः सप्तगण विज्ञान ही हैं ।

सिद्धान्त पक्ष—उपर्युक्त दो मतों में से अन्तिम मत ही समीचीन है, अन्यथा यह मानना पड़ जाएगा कि आलयविज्ञान ही उनके बीज स्थापित करता है, क्योंकि आलयविज्ञान उन चैतसिकों से अभिन्न है । यदि आलयविज्ञान को स्थापक (वासक) माना जाएगा तो ऐसी स्थिति में कोई वास्य नहीं मिल सकेगा ।

वासना के प्रकार

वासनाओं के अनन्त प्रकार हैं, किन्तु शास्त्रों में विद्वानों ने उनके अनेक प्रकार के श्रेणी–विभाजन किये हैं, यथा– (१) छह प्रकार (२) तीन प्रकार (३) चार प्रकार तथा (४) पुनः (दूसरे ढंग से) चार प्रकार ।

(१) छह प्रकार

(क) बाह्यवासना—यव, उत्पल (कमल) आदि बाह्य धर्मों के बीज 'बाह्यवासना' कहलाते हैं ।

(ख) अन्तर्बीज—यह आलयविज्ञान में स्थित वह बीजांश है, जिससे भविष्य में पुनः आलयविज्ञान की उत्पत्ति होती है ।

(ग) अव्यक्त बीज—दो प्रकार के अव्याकृत बीज ही दो प्रकार के अव्यक्त बीज होते हैं । अर्थात् परीक्षा करने पर जिनका संक्लेश और व्यवदान में या कुशल या अकुशल में व्याकरण या विभाजन नहीं किया जा सकता, वे अव्याकृत बीज ही द्विविध अव्यक्त बीज हैं ।

(घ) द्विबीज—कार्य बीज और कारण बीज या बहिर्बीज और अन्तर्बीज ही 'द्विबीज' कहलाते हैं, इनकी वज़ह से आलय भी कार्य आलय एवं कारण आलय–इस प्रकार द्विविध होता है ।

(ङ) संवृतिबीज—यह बाह्य बीज के अन्तर्गत परिगणित व्यावहारिक बुद्धि का विषय है ।

(च) परमार्थ बीज—यह अन्तर्बीज के अन्तर्गत परिगणित बीज है ।

(२) तीन प्रकार

(क) अभिलाप वासना—रूप से लेकर सर्वज्ञ ज्ञान पर्यन्त सभी धर्मों के नाम और निमित्त के उत्पादक बीज, जो आलयविज्ञान में स्थित हैं 'अभिलाप वासना' कहलाते हैं । ये बीज ही विभिन्न नाम–व्यवहार करनेवाले मनोविज्ञान के हेतु होते हैं । अर्थात् रूप से लेकर सर्वज्ञ ज्ञान तक होनेवाले संक्लेश–व्यवदान नामक १०८ धर्म जब मनोविज्ञान में आभासित होते हैं तो इन बीजों की वज़ह से उनका नामव्यवहार सम्पन्न होता है । नाम द्वारा मनोविज्ञान में इन धर्मों की आकृति बनती है । इसे 'प्रपञ्च–वासना' भी कहते हैं । विभिन्न विषयों में व्यावहारिक मनोविज्ञान की प्रवृत्ति का बीज यह 'प्रपञ्चवासना' ही होती है । यह वासना इसलिए 'अभिलाप वासना' कहलाती है, क्योंकि 'चक्षुष्' 'रूप' इस प्रकार के अभिधानाकार वाले मानस ज्ञान की यह वासना (उत्पादिका) होती है । यह वासना सपरिवार मनोविज्ञान द्वारा स्थापित की जाती है तथा उसी के द्वारा सपरिवार मनोविज्ञान उत्पन्न होते हैं । 'परिवार' का तात्पर्य चैतसिकों से है ।

(ख) आत्मदृष्टि वासना—यह वासना क्लिष्ट मनोविज्ञान और उससे सम्प्रयुक्त चैतसिकों द्वारा स्थापित की जाती है । यही वासना 'स्व' (आत्मा) और 'पर' के रूप में आभासित होने वाली विज्ञप्तियों के उद्भव का बीज होती है । इसे ही 'सत्कायदृष्टि वासना' भी कहते हैं, क्योंकि यह सत्कायदृष्टि का बीज है ।

(ग) भवाङ्गवासना—यह कुशल एवं अकुशल नामक प्रवृत्तिविज्ञानों द्वारा स्थापित की जाती है । यही भवरूपी सुगति और दुर्गति तथा च्युति और उत्पत्ति जिसमें प्रतिभासित होती हैं, ऐसी विज्ञप्तियों के उद्भव की बीज है ।

(३) चार प्रकार

(क) साधारण बीज—ये आलयविज्ञान में स्थित वे बीज है, जिनकी वज़ह से भाजनलोक का प्रतिभास होता है ।

(ख) असाधारण बीज—ये आलयविज्ञान में स्थित वे बीज हैं, जिनसे सत्त्वलोक प्रतिभासित होता है ।

(ग) सवेदन या सचेतन बीज—सत्त्वलोक को निष्पन्न करनेवाले बीज ही 'सवेदन (वेदना से युक्त) बीज' या 'सचेतन (चेतना से युक्त) बीज' हैं, क्योंकि सत्त्वलोक चित्त से संगृहीत है ।

(घ) अवेदन या अचेतन बीज—भाजनलोक को निष्पन्न करने वाले बीज ही 'अवेदन (वेदनारहित) या अचेतन (अविज्ञानक=चेतनारहित) बीज' हैं, क्योंकि भाजनलोक चित्त द्वारा संगृहीत नहीं है ।

(४) पुनः चार प्रकार

(क) दौष्ठुल्य बीज—ये राग, द्वेष आदि छह मूल क्लेशों के तथा प्रतिघ, उपनाह आदि बीस उपक्लेशों के बीज हैं ।

(ख) प्रश्रब्धि बीज—ये लौकिक कुशल धर्मों के बीज हैं ।

(ग) भुक्त बीज—ये कुशल और अकुशल के वे बीज हैं, जिनका सुगति और दुर्गति के रूप में विपाक हो चुका है । इनका पुनः विपाक नहीं होता । ये पक्व भोजन की भाँति हैं ।

(घ) अभुक्त बीज—अभिलाप बीज को ही 'अभुक्त बीज' कहते हैं । क्योंकि ये अनादि काल से स्थित हैं और इनके परिपक्व होते ही सभी सत्त्वों की सन्तान में अनायास इनके द्वारा ग्राह्य–ग्राहक आदि अनेक प्रपञ्च प्रवृत्त होते हैं ।

प्रश्न—उक्त प्रकार की वासना स्वाश्रयभूत आलयविज्ञान से द्रव्यतः एक (अभिन्न) है या अनेक अर्थात् भिन्न ?

उत्तर—वासना (बीज) आलयविज्ञान से द्रव्यतः अभिन्न नहीं है । यदि अभिन्न (एक) होगी तो आलयविज्ञान की भाँति उस (वासना) में भी आलम्बन और आकार प्रतिभासित होने लगेंगे । जबकि आलम्बन और आकार ज्ञान में ही प्रतिभासित हो सकते हैं, आलयविज्ञानस्थित बीजांश में नहीं । अपि च, पांचों गतियों (नरक, प्रेत, तिर्यक्, मनुष्य और देव) के सभी बीज मिश्रित होने लगेंगे, क्योंकि वे सब आश्रयभूत आलयविज्ञान के एक क्षण में द्रव्यतः अभिन्न (एक) हैं । क्योंकि आलयविज्ञान का एक क्षण एक निरवयव द्रव्य है, फलतः पांचों गतियों के बीज भी एक निरवयव द्रव्य होंगे । ऐसी स्थिति में सुगतिविपाक के

बीज अकुशल (स्थापक) द्वारा स्थापित होने लगेंगे और दुर्गतिविपाक के बीज सुगतिविपाक के बीज होने लगेंगे ।

कुछ लोग कह सकते हैं कि द्रव्यतः एक होने पर भी सुगति के बीज दुर्गति के तथा दुर्गति के बीज सुगति के बीज नहीं हैं, जैसे वस्तु और रूप (वर्ण) अभिन्न होने पर भी अलग–अलग हैं ।

यहाँ यह विचारणीय है कि रूप से द्रव्यतः अभिन्न वह वस्तु रूपद्रव्य है कि नहीं ? यदि है तो आपका मनोरथ सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि रूप से द्रव्यतः अभिन्न वह वस्तु गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य आदि से भी अभिन्न है, क्योंकि जहां गन्ध आदि होते हैं, वहां भी द्रव्य (वस्तु) होता है । यदि वह रूपद्रव्य ही है तो उसका गन्ध आदि से कथमपि अन्वय नहीं हो सकेगा ।

यदि वह (वस्तु) रूपद्रव्य नहीं है तो वस्तु रूप से अभिन्न भी है और भिन्न भी है—ऐसा कहना विकृत मनःस्थिति का ही द्योतक है । अतः जब तक विशेषों से अतिरिक्त वस्तुसामान्य माना जाएगा तब तक 'द्रव्यतः एकत्व और अनेकत्व' द्वारा परीक्षा से उत्पन्न दोष हट नहीं सकेगा ।

अपि च, धातुओं का भी मिश्रण होने लगेगा । जैसे समापत्तिभावना के बल से कामधातु के आलयविज्ञान में ऐसे बीज भी स्थापित किये गये हैं, जो रूपी देवों के विपाक को निष्पन्न करते हैं । वे बीज उस कामधातुक आलयविज्ञान से द्रव्यतः अभिन्न हैं तो ऐसी स्थिति में वे बीज केवल कामधातुक ही हो जाएंगे । इस तरह वासना और आलयविज्ञान की एकद्रव्यता (अभिन्नता) के पक्ष में अनेक दोष उपस्थित होते हैं ।

यदि कहा जाए कि तब वासना आलयविज्ञान से भिन्न द्रव्य है तो उसका भिन्न होना भी युक्त नहीं है । क्योंकि उस स्थिति में उसका रूप, विप्रयुक्तसंस्कार या सप्तगण विज्ञान इनमें से किसी में अन्तर्भाव होना चाहिए, किन्तु इनमें से किसी में भी उसका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है । भिन्न द्रव्य होने के कारण वह विप्रयुक्त संस्कार नहीं हो सकती । अरूप भूमि में वासना होती है, अतः वह रूप भी नहीं हो सकती । सप्तगण (आलयविज्ञान से अतिरिक्त सात) विज्ञानों में भी उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि सप्त विज्ञानों की निवृत्ति की अवस्था में भी उसका सद्भाव होता है । फलतः वह एक प्रकार का आलयविज्ञान ही होने लगेगी ।

ऐसी स्थिति में एक सत्त्व में दो आलयविज्ञान होने लगेंगे । दो आलयविज्ञान होने से वह सत्त्व एक न रह सकेगा, अपि तु वह अनेक होने लगेगा ।

फलतः यह मानना चाहिए कि वासना आलयविज्ञान से न द्रव्यतः एक (अभिन्न) है और न भिन्न । वस्तुस्थिति यह है कि वासना वस्तुतः द्रव्य ही नहीं है । फिर उसका स्वरूप क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में यह माना जाता है कि वह आलयविज्ञान की एक अन्तःसुप्त शक्ति है, जिसकी गौण सत्ता है ।

गोत्रविचार

गोत्र दो प्रकार के होते हैं, यथा—(१) प्रकृति गोत्र तथा (२) परिपुष्ट गोत्र ।

(१) प्रकृति गोत्र—यह 'स्वभावगोत्र' भी कहलाता है । स्थापक से अनपेक्ष, स्वभावतः स्थित, अनास्रव धर्मों के बीज 'प्रकृति गोत्र' कहलाते हैं । वे (बीज) परतो घोष अर्थात् शास्ता आदि कल्याणमित्रों के वचन और योनिशोमनस्कार आदि प्रत्ययों से स्पृष्ट होने पर श्रुत, चिन्ता, भावना द्वारा वृद्धिंगत होने के योग्य होते हैं । ये 'स्वभावगोत्र' इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि ये स्थापकों द्वारा नए नए रूप में स्थापित न होकर अनादिकाल से स्वभावतः स्थित होते हैं । प्रकृतिगोत्र को श्रुतवासना भी कहते हैं, क्योंकि वह बुद्ध या बोधिसत्त्वों के साथ समागम होने पर विशुद्ध धर्मधातु के अनुकूल द्वादशाङ्ग प्रवचन आदि उपदेशों के श्रवण का कारण होता है । इसे षडायतन व्यावर्तक (भेदक) भी कहते हैं, क्योंकि वह जिस पुद्‌गल की सन्तान में होता है, उस पुद्‌गल के षडायतन दूसरों से भिन्न किये जा सकते हैं ।

(२) परिपुष्ट गोत्र—उक्त प्रकृतिगोत्र ही दूसरे कल्याणमित्रों के वचन और योनिशो मनसिकार आदि प्रत्ययों से संस्पृष्ट होकर श्रुत, चिन्ता, भावना आदि द्वारा वृद्धिंगत होकर प्रबल और शक्तिमान् हो जाता है ।

प्रकृति और परिपुष्ट नामक उपर्युक्त दोनों गोत्र विपाक या आलयविज्ञान में स्थित अनास्रव बीज ही हैं, जो श्रुत, चिन्ता, भावना आदि द्वारा बढ़ाए जाते हैं, वे किसी स्थापक द्वारा नए रूप में स्थापित नहीं हैं ।

इन्हें गोत्र इसलिए कहते हैं, क्योंकि इनके द्वारा तीनों यानों के गुण उत्पन्न होते हैं ।

वासना यद्यपि वस्तु है, किन्तु द्रव्यसत् नहीं है । आर्य असङ्ग एवं वसुबन्धु दोनों भाइयों के मत में दो प्रकार की वस्तु मानी जाती है, यथा– १. द्रव्यसत् तथा २. प्रज्ञप्तिसत् । विप्रयुक्तसंस्कार यद्यपि वस्तु है, किन्तु द्रव्यसत् नहीं । विप्रयुक्तसंस्कार वासनाविशेष है ।

प्रश्न–वासना कुशल होती है, अकुशल होती है या अव्याकृत ।

उत्तर–वासना के स्थापक कुशल, अकुशल या अव्याकृत कोई भी हों, वासना सर्वदा अव्याकृत ही होती है ।

प्रश्न–यदि वासना अव्याकृत मानी जाएगी तो आगम एवं युक्ति से विरोध होगा ।

आगमविरोध–अभिधर्मसमुच्चय में एक प्रश्न उल्लिखित है कि अनुबन्धतः कुशल, अकुशल क्या है ? इसका वहीं उत्तर भी लिखा है कि उनकी वासना ही अनुबन्धतः कुशल, अकुशल है । तथा हि–**अनुबन्धतः कुशलं कतमत् ? तेषामेव या वासना । अनुबन्धतः अकुशलं कतमत् ? तेषामेव या वासना** (अभिधर्मसमुच्चय, पृ० २२–२३) । इस आगम से विरोध होगा ?

युक्तिविरोध–(१) यदि वासना अव्याकृत होगी तो वह विपाक का हेतु नहीं हो सकेगी, क्योंकि विपाक को प्रक्षिप्त करनेवाले को कुशल या अकुशल में से कोई होना जरूरी है । (२) कुशल, अकुशल, अव्याकृत रूपी प्रवृत्तिविज्ञानों को उत्पन्न करने वाले बीजों द्वारा निष्यन्दफल का उत्पादन न हो सकेगा, क्योंकि निष्यन्दफल सर्वदा हेतुसजातीय (हेतु–सदृश) ही होता है । (३) चित्तसन्तति में प्रातिमोक्ष संवर उत्पन्न होने के अनन्तर जब तक उसका त्याग (प्रहाण) नहीं होता, तब तक वह कुशल–धारा के रूप में प्रवृत्त होता रहता है, किन्तु वासना यदि अव्याकृत होगी तो यह अयुक्त हो जाएगा, क्योंकि मिद्ध (गाढ निद्रा), मूर्च्छा आदि षड्गण (छह विज्ञानों) की निरोधावस्थाओं में उद्भूत–मानसज्ञान नहीं होता और बीज होने पर भी उन्हें आप अव्याकृत मानते हैं ।

समाधान

आगमविरोध का परिहार–उपर्युक्त आगम वासना को कुशल या अकुशल सिद्ध करनेवाला आगम नहीं है । वहां जो वासना को 'अनुबन्धतः कुशल या अकुशल' कहा गया है, उसका तात्पर्य वास्तविक कुशल या अकुशल होने से नहीं है । उसी आगम में 'अनुबन्धतः रूप' क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में लिखा है कि 'उन रूपों की वासना' अनुबन्धतः रूप है । 'अनुबन्धतः रूप' यदि वास्तविक रूप माना जाएगा तो अरूपभूमि में भी रूप होने का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि अरूपभूमि में यद्यपि रूप नहीं होता, फिर भी रूपवासना तो होती है और रूपवासना को आप वास्तविक रूप मान रहे हैं । 'अनुबन्धतः रूप' रूपवासना है । तथा हि–**अनुबन्धतः रूपं कतमत् ? तेषामेव या वासना** (अभिधर्मसमुच्चय, पृ० २२–२३) । फलतः अनुबन्धतः कुशल या अकुशल वास्तविक कुशल या अकुशल नहीं होते । अपि च, यदि 'अनुबन्धतः अकुशल' वास्तविक अकुशल होने लगेंगे तो ऊपर की रूपभूमि और अरूपभूमि–इन दो धातुओं में भी अकुशलों की प्रवृत्ति होने लगेगी, क्योंकि उन दो धातुओं में भी अकुशलबीज तो होते ही हैं ।

युक्तिविरोध का परिहार–आपने जो यह कहा है कि वासना अव्याकृत होगी तो विपाक की हेतु न हो सकेगी–इसका क्या तात्पर्य ? यदि आपका अभिप्राय यह है कि वह प्रक्षेपक नहीं हो सकेगी तो यह हमें स्वीकार है, क्योंकि वह विपाक की प्रक्षेपिका नहीं है, क्योंकि वह स्वयं स्थापक कुशल–अकुशल द्वारा प्रक्षिप्त है । अतः जो स्वयं प्रक्षिप्त है, वह प्रक्षेपक कैसे हो सकती है । यदि आपका अभिप्राय यह है कि वह 'विपाक उत्पन्न न कर सकेगी' तो इसकी व्याप्ति सिद्ध नहीं है । यदि व्याप्ति सिद्ध होगी तो आलयविज्ञान भी व्याकृत अर्थात् कुशल या अकुशल होने लगेगा, क्योंकि विपाक को उत्पन्न करने वाला विपाकहेतु होता है, जब कि वह अव्याकृत है ।

आपने जो यह कहा है कि 'निष्यन्दफल का उत्पाद न हो सकेगा'– इससे भी कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि निष्यन्दफल हमेशा स्थापक के सदृश (स्थापकसजातीय) होता है । अतः वासना के अव्याकृत होने पर भी वह चरितार्थ हो जाएगा । अर्थात् स्थापक के कुशल या अकुशल होने मात्र से निष्यन्दफल हो जाएगा । आशय यह है कि निष्यन्दफल की प्रवृत्ति का निमित्त

स्थापक का कुशल–अकुशल होना मात्र है और वह निमित्त है ही, अतः अव्याकृत वासना से उत्पन्न होने पर भी स्थापक की दृष्टि से निष्यन्दफल का नामकरण होता है । अर्थात् कुशल, अकुशल या अव्याकृत जैसा स्थापक होता है, उसी के सदृश (तत्सजातीय) निष्यन्दफल भी कहलाता है ।

आपने जो यह कहा है कि 'वासना के अव्याकृत होने पर प्रातिमोक्ष संवर का कुशल–प्रवाह के रूप में प्रवृत्त होना अयुक्त हो जाएगा'–इससे भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि जब शिक्षा–विरोधी अदत्तादान (चोरी), प्राणिहिंसा आदि का अवसर आसन्न होता है, तब यदि भिक्षु ही, अपत्रपा, स्मृति एवं सम्प्रजन्य आदि का उत्पाद करके दौःशील्य की धारा रोकने में समर्थ होता है, तो इतने मात्र से वह 'उपलब्ध–संवर' कहा जा सकता है ।

प्रश्न–यदि वासना कुशल–अकुशल के रूप में नाना (अनेक) नहीं है और आलयविज्ञान से एक (अभिन्न) भी नहीं है तो उससे कुशल, अकुशल आदि नाना फल होना अयुक्त हो जाएगा, क्योंकि एक से नाना फल होना अयुक्त है ?

उत्तर–दोष नहीं है । जैसे किसी वस्त्र को फलविशेष के भिन्न–भिन्न रंगों से रंग दिया जाता है, किन्तु वह रंग दिखलाई नहीं पड़ता । बाद में जब उस वस्त्र का दूसरा संस्कार किया जाता है तो वे भिन्न–भिन्न रंग उस वस्त्र में प्रकट हो जाते हैं । उसी प्रकार आलयविज्ञान में विद्यमान विभिन्न वासनाएं वासनावस्था में विभिन्न रूप में दिखलाई न पड़ने पर भी फल निष्पन्न होने पर विभिन्न धर्मों की ख्याति होती है । अर्थात् विभिन्न धर्म दृष्टिगोचर होते हैं ।

प्रश्न–उक्त प्रकार की वासना आलयविज्ञान में पहले से ही स्थित होती है अथवा नवीन स्थापित की जाती है ?

उत्तर–वासना की स्थापना के बारे में योगाचार–आचार्यों के निम्नलिखित तीन मत पाये जाते हैं :

(१) स्थापक से निरपेक्ष धर्मता के रूप में स्थित वासना का होना ।

(२) स्थापक द्वारा अपूर्व (नवीन) रूप में स्थापित होना तथा अपूर्व स्थापित वासना का स्थापक द्वारा पोषण होना ।

(३) धर्मता के रूप में स्थित होना, पोषित होना और अपूर्व (नवीन) रूप में स्थापित भी होना ।

इन तीनों में तृतीय मत ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है । अब हम इस तृतीय मत की अनास्रव बीज, निष्यन्द बीज और विपाक बीज–इन भागों में विभाजन कर परीक्षा करेंगे ।

(१) अनास्रव बीज–प्रकृतिस्थ गोत्र होने के कारण ये बीज धर्मता रूप में स्थित हैं ।

(२) निष्यन्द बीज–कुशल, अकुशल और अव्याकृत प्रवृत्तिविज्ञान आलयविज्ञान के साथ युगपत् उत्पन्न होते हैं और निरुद्ध होते समय भविष्य में पुनः अपने सदृश प्रवृत्तिविज्ञानों की उत्पत्ति के लिए आलयविज्ञान में बीज स्थापित करते हैं । ये बीज ही 'निष्यन्द बीज' कहलाते हैं ।

(३) विपाक बीज–उत्पन्न कुशल और अकुशल प्रक्षेपकों (स्थापकों) द्वारा आलयविज्ञान में स्थापित वासनाबीज 'विपाक बीज' कहलाते हैं ।

निष्यन्द और विपाक दोनों बीज सर्वथा नवीन रूप से स्थापित किये जाते हैं ।

प्रकृतिगोत्र अर्थात् अनास्रव बीज अनादि होते हैं तथा स्थापक से सर्वथा अनपेक्ष होते हैं । अवशिष्ट निष्यन्द और विपाक दोनों दोनों प्रकार के होते हैं । अर्थात् कुछ अनादि होते हैं और स्थापक से अनपेक्ष होते हैं तथा कुछ सादि और स्थापक सापेक्ष होते हैं ।

निष्यन्द बीज जो नवीन स्थापित किये जाते हैं, उनके स्थापकों के भी निष्यन्द बीज पहले से स्थित होने चाहिए । अतः निष्यन्द बीज भी अनादि हैं । उनका विशेष अंश अनादि नहीं होता । यदि सभी बीज अनादि हो जाएंगे तो वर्तमान कुशल–अकुशलों द्वारा भविष्य में होनेवाले सजातीय फलों के उत्पादक निष्यन्द बीज स्थापित नहीं किये जा सकेंगे ।

विपाक बीजों का आदि नहीं है । यदि विपाक बीज का आदि होगा तो संसार भी सादि हो जाएगा । विपाक बीजों का कुछ अंश अवश्य सादि होता है,

अन्यथा (यदि विपाक बीज सादि नहीं होंगे तो) क्रियमाण (किये जा रहे) पुण्य, अपुण्य कर्मों द्वारा विपाकबीज स्थापित नहीं किये जा सकेंगे ।

विशेष ज्ञातव्य—अनास्रव बीज धर्मकाय के बीज होते हैं । धर्मकाय अनेकविध है । उनमें से वासना के साथ क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का प्रहाण 'आगन्तुक विशुद्ध धर्मकाय' कहलाता है । बल, वैशारद्य आदि का आश्रय 'ज्ञानधर्म काय' कहलाता है । प्रकृतिस्थ गोत्र या स्वभावगोत्र 'स्वभाव धर्मकाय' का हेतु है । आर्य की समाहित अवस्था का निर्विकल्प ज्ञान धर्मकाय का हेतु एवं पृष्ठलब्ध अवस्था का ज्ञान रूपकाय अर्थात् सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय का हेतु होता है ।

योगाचार से इतर अन्य ग्रन्थों में सम्भारद्वय अर्थात् ज्ञानसम्भार एवं पुण्यसम्भार क्रमशः कायद्वय अर्थात् धर्मकाय और रूपकाय के हेतु कहे गये हैं ।

अत एव असंस्कृत काय एवं संस्कृत काय के गोत्रों का वैसे ही असंस्कृत गोत्र एवं संस्कृत गोत्र होना आवश्यक नहीं है । इसलिए जो लोग स्वभाव धर्मकाय (असंस्कृत काय) का एक असंस्कृत गोत्र मानते हैं, उनका वैसा मानना अयुक्त है । अन्यथा संस्कृत काय के सम्भोगकाय और निर्माणकाय ये दो भेद होने से उन दोनों के गोत्र भी भिन्न–भिन्न मानना पड़ेगा ।

आलय द्विविध होता है । आलयविज्ञान स्थित बीजों को भी 'आलय' कहते हैं और पूर्व कुशल, अकुशल कर्मों से उत्पन्न विपाकविज्ञान को भी 'आलय' कहते हैं । बीजांश को आलय इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह क्लेश और कर्मों से उत्पन्न संक्लिष्ट धर्मों का हेतु होता है । अतः सभी फलरूपी संक्लिष्ट धर्म इसमें कार्यत्वेन उपनिबद्ध होते हैं अथवा यह उन सभी संक्लिष्ट धर्मों में कारणत्वेन उपनिबद्ध होता है ।

विपाकांश (आश्रय) को 'आलय' इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसमें पाँचों गतियों के सभी सत्त्व क्लिष्ट मनोविज्ञान द्वारा आत्मत्वेन उपनिबद्ध कर दिये जाते हैं । अर्थात् वे सभी सत्त्व आलयविज्ञान को क्लिष्ट मनोविज्ञान द्वारा आत्मत्वेन गृहीत करते हैं ।

प्रश्न—उक्त बीजांश आलय एवं विपाकांश आलय की निवृत्ति कब होती है ?

उत्तर—संक्लिष्ट धर्मों में कारणत्वेन उपनिबद्ध होने से तथा क्लिष्ट मनोविज्ञान द्वारा आत्मत्वेन उपनिबद्ध होने से अष्टम भूमि के अवैवर्तिक बोधिसत्त्वों, श्रावक अर्हत्, प्रत्येकबुद्ध अर्हत् एवं तथागतों में बीजांश आलय नहीं होता और आलयविज्ञान भी नहीं होता, क्योंकि उन्होंने सभी क्लेशों और उनके बीजों का प्रहाण कर दिया है ।

ज्ञातव्य है कि विपाकांश तब तक आलयविज्ञान कहलाता है, जब तक वह क्लिष्ट मनोविज्ञान द्वारा आत्मत्वेन गृहीत होता रहता है । अष्टम भूमि के अवैवर्तिक बोधिसत्त्वों और अर्हतों में क्योंकि क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, अतः उसकी वज़ह से विपाकांश की जो 'आलयविज्ञान' संज्ञा हो गई थी, वह भी निवृत्त हो जाती है । अर्थात् आलयविज्ञान निवृत्त हो जाता है, किन्तु विपाकांश के निवृत्त होने की आवश्यकता नहीं है । उसकी निवृत्ति तो अर्हत् के निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में या वज्रोपम समाधि के आनन्तर्य मार्ग की अवस्था में होती है ।

प्रश्न—यदि अवैवर्तिक बोधिसत्त्व और अर्हतों की सन्तान में आलयविज्ञान नहीं होता तो प्रश्न यह है कि उन लोगों की सन्तान में ८ विज्ञान होते हैं कि नहीं ? यदि होते हैं तो आलयविज्ञान भी होने लगेगा अथवा आपको षड्विज्ञान से अतिरिक्त विज्ञान भी स्वीकार करना पड़ेगा । यदि नहीं होते हैं तो विपाकांश वज्रोपम समाधि या निरुपधिशेष निर्वाण तक प्रवृत्त नहीं हो सकेगा ?

उत्तर—दोष नहीं है । क्योंकि आलयविज्ञान यद्यपि विपाक से व्याप्त है, किन्तु विपाकविज्ञान आलयविज्ञान से व्याप्त नहीं है । अर्थात् जो जो आलयविज्ञान होता है, वह विपाकविज्ञान भी होता है, किन्तु जो जो विपाकविज्ञान होता है, उसका आलयविज्ञान होना भी जरूरी नहीं है । अवैवर्तिक बोधिसत्त्व एवं अर्हतों में आलयविज्ञान नहीं होता, फिर भी उनमें विपाक विज्ञान होता है । अर्थात् जिस वज़ह से हम विपाक का आलयविज्ञान नाम से व्यवहार करते हैं, वह वज़ह अब नहीं है । अन्यथा आर्य असङ्ग ने अर्हत् और अष्टम भूमि से ऊर्ध्वस्थ बोधिसत्त्वों

को जो आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञानों से रहित कोटि में रखा है, वह सब अयुक्त हो जाएगा।

प्रश्न—तब तो अवैवर्तिक बोधिसत्त्वों और अर्हतों में चित्त के अभाव का प्रसङ्ग होगा । अर्थात् उनमें कोई चित्त ही नहीं हो सकेगा ?

उत्तर—दोष नहीं है । चित्त का अभिप्राय है 'विषय का ग्रहण करना' । आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञानों के न होने पर भी विषय को ग्रहण करनेवाला चित्तमात्र हो सकता है ।

(२) आलयविज्ञान साधक युक्तियां

आलयविज्ञान सिद्ध करने के लिए असङ्गकृत महायानसंग्रह में पाँच युक्तियां तथा उन्हीं की भूमिशास्त्र की उत्तरटीका में सत्रह आगम और अनेक युक्तियां प्रदर्शित की गई हैं । वसुबन्धु के पञ्चस्कन्धप्रकरण में चार युक्तियां, तथा उनकी प्रतीत्यसमुत्पादसूत्रटीका में महायानसंग्रह में कथित युक्तियों के आधार पर अनेक युक्तियां प्रयुक्त की गई हैं । आचार्य वसुबन्धु ने अपनी अभिधर्मसमुच्चयटीका में उपर्युक्त सभी युक्तियों का आठ युक्तियों में संग्रह किया है । हम उन्हीं का यहाँ प्रतिपादन कर रहे हैं ।

(१) उपादान का अयोग—यदि आलयविज्ञान न होगा तो क्लिष्ट मनोविज्ञान भी न हो सकेगा । ऐसी स्थिति में चक्षुर्विज्ञान आदि छह विज्ञानों को ही उपादान (जन्म) ग्रहण करना होगा, किन्तु निम्नलिखित कारणों से वे जन्म ग्रहण नहीं कर सकते ।

(क) छह विज्ञान पूर्व जन्मों के कर्मों के विपाक नहीं हैं, अपि तु वे आध्यात्मिक इन्द्रियों और बाह्य आलम्बनों पर आश्रित (निर्भर) विज्ञान हैं । वे दिदृक्षा (देखने की इच्छा), सुश्रूषा (सुनने की इच्छा) आदि समनन्तर प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं । इसलिए आलयविज्ञान तो विपाक होने से प्रतिसन्धि काल में उपस्थित रह सकता है, किन्तु इन्द्रियों, आलम्बनों तथा दिदृक्षा, सुश्रूषा आदि मनस्कारों के तो शरीर के उत्पन्न हो जाने पर प्रत्युत्पन्न कारणों से ही उत्पाद होने के कारण छह विज्ञान प्रतिसन्धि काल में उपस्थित नहीं रह सकते ।

(ख) प्रवृत्तिविज्ञान भी पूर्वकर्म के विपाक होते हैं और मानस ज्ञान प्रतिसन्धि काल में उपस्थित होता है—ऐसी अवस्था में षड्गण भी जन्म का उपादान (ग्रहण) कर सकते हैं—यदि ऐसा कहा जाए तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो लक्षण-सम्पन्न विपाक और प्रतिसन्धि में प्रवृत्त होनेवाला विज्ञान होगा, उसे किसी भी योनि के प्रथम प्रतिसन्धिलक्षण में एकान्तरूप से अव्याकृत ही होना चाहिए । षड्गणविज्ञान तो कुशल, अकुशल भी देखे जाते हैं, अतः वे एकान्त अव्याकृत नहीं हैं ।

(ग) षड्गणविज्ञान कुशल, अकुशल होने के साथ-साथ अव्याकृत भी तो होते हैं, अतः जब वे अनिवृताव्याकृत होंगे, उस समय वे लक्षणसम्पन्न विपाक हो जाएंगे और उनके द्वारा जन्मग्रहण किया जा सकेगा—यदि ऐसा कहा जाए तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि जो अव्याकृत विपाक होता है, उसे यावज्जीवन अव्यवच्छिन्न रूप से प्रवृत्त भी होना चाहिए । किन्तु षड्विज्ञान उसी तरह यावज्जीवन निरन्तर प्रवृत्त होनेवाले विज्ञान नहीं हैं ।

(घ) षड्गणविज्ञानों में से कोई एक यदि शरीरग्रहण करेगा तो उस जन्मग्रहण करनेवाले चित्त से शरीर का जो भाग अव्याप्त होगा, वह स्थान चित्त द्वारा अगृहीत (अव्याप्त) होने से मृतवत् हो जाएगा । ज्ञात है कि चक्षुर्विज्ञान आदि शरीर के एकदेश में ही होते हैं, पूरे शरीर में व्याप्त नहीं होते । ऐसी स्थिति में शरीर का वह भाग जो जन्मग्रहण करनेवाले विज्ञान से व्याप्त होगा, वह तो जीवित शरीर की भाँति सचेतन होगा, किन्तु अन्य भाग मृतशरीर की भाँति होंगे । क्योंकि छहों विज्ञानों के स्थान शरीर में अलग-अलग निश्चित हैं । जिस स्थान में चित्त होता है, वही चित्त द्वारा गृहीत होता है । शेष भाग अगृहीत होता है, क्योंकि प्रवृत्तिविज्ञानों में एक ही काल में समस्त शरीर को व्याप्त करने की शक्ति नहीं है ।

अपि च, यदि कहा जाए कि कायेन्द्रिय द्वारा सम्पूर्ण शरीर व्याप्त होने से उसके द्वारा शरीर के समस्त स्थान गृहीत हैं ? तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि वह (कायेन्द्रिय) तो स्वयं ज्ञानस्वभाव से वियुक्त है । अर्थात् वह स्वयं ज्ञान नहीं, अपितु जड है ।

(ङ) यदि षड् गण (छह) विज्ञानों द्वारा जन्म–ग्रहण माना जाएगा तो एक ही भव में अनेक बार शरीर ग्रहण करना होगा, क्योंकि वे कभी उत्पन्न होते हैं और कभी नहीं।

इस प्रकार इन उपर्युक्त पाँच कारणों से षड्गण द्वारा जन्मग्रहण अयुक्त है। किन्तु शरीरग्रहण (जन्म ग्रहण) दिखाई देता है, अतः उसे ग्रहण करनेवाला आलयविज्ञान है—यह मानना चाहिए।

(२) आदित्व का अयोग—यह पूर्वपक्षी को दिया गया प्रसङ्ग है। पूर्वपक्षी की मान्यता है कि एक काल में अनेक (एक से अधिक) विज्ञान नहीं हो सकते। यदि आलयविज्ञन माना जाएगा तो एक काल में अनेक विज्ञानों का अस्तित्व मानना पड़ेगा, क्योंकि आलयविज्ञान तो सदा निरन्तर प्रवृत्त होनेवाला विज्ञान है और प्रवृत्तिविज्ञान भी कभी–कभी (प्रत्यय–सामग्री) होने पर प्रवृत्त होंगे ही। ऐसी स्थिति में जब प्रवृत्तिविज्ञान उत्पन्न होंगे, तब आलयविज्ञान भी विद्यमान रहेगा। फलतः एक काल में अनेक विज्ञानों की उपस्थिति माननी पड़ेगी, जो अयुक्तिसंङ्गत है।

इस पर योगाचार विज्ञानवादियों का कथन है कि एक काल में अनेक विज्ञानों की उपस्थिति मानना कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक साथ अनेक विज्ञानों की उत्पत्ति होती ही है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति के सम्मुख रूप, शब्द आदि छहों आलम्बन समान रूप से उपस्थित हैं और उनमें से किसी एक के प्रति उस व्यक्ति में कोई खास आकर्षण नहीं है, अर्थात् समनन्तर प्रत्यय भी समान रूप से विद्यमान है। ऐसी स्थिति में आप (पूर्वपक्षी) ही बतलाइए कि किस विज्ञान का उत्पाद सर्वप्रथम होगा ? क्योंकि आप एक काल में एक ही विज्ञान का उत्पाद मानते हैं और यहाँ किसी भी एक विज्ञान के पहले उत्पन्न होने का कोई विशिष्ट कारण विद्यमान नहीं है। फलतः आपके मतानुसार कोई भी विज्ञान उत्पन्न न हो सकेगा। हमारे सामने ऐसी परिस्थिति में कोई कठिनाई नहीं है, क्योंकि हम एक काल में अनेक विज्ञानों का उत्पाद स्वीकार करते हैं। किन्तु आपके सामने यह कठिनाई है कि आप यह नहीं बतला पाते कि छह विज्ञानों में से कौन विज्ञान पहले उत्पन्न होगा। फलतः आलयविज्ञान न मानने पर आपके मत में आदित्व के अयोग का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

पूर्वपक्षी—सूत्र में उक्त है कि "इसके लिए अस्थान एवं अनवकाश है कि एक साथ (युगपद्) दो विज्ञान उत्पन्न हों"—इस सूत्र से आपके उपर्युक्त कथन का विरोध होगा ?

उत्तरपक्ष—विरोध नहीं होगा। क्योंकि उक्त सूत्र का आशय यह है कि दो सजातीय विज्ञान एक साथ नहीं होते। विजातीय दो विज्ञान एक साथ उत्पन्न हो सकते हैं।

(३) स्पष्टत्व का अयोग—यह प्रसङ्ग उन लोगों को दिया जा रहा है, जिसके मत में एक काल में (युगपद्) अनेक विज्ञानों की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। मनोविज्ञान में रूप आदि धर्मों का आभास कभी तो स्पष्ट होता है और कभी अस्पष्ट। उदाहरणार्थ रूपज्ञ चक्षुर्विज्ञान का अनुसरण करनेवाले मनोविज्ञान में रूप का आभास स्पष्ट होता है तथा अन्य काल में अर्थात् स्मृति आदि के काल में उत्पन्न मनोविज्ञान में रूप का आभास अस्पष्ट होता है। योगाचार विज्ञानवादियों के मतानुसार स्मृतिकालिक मनोविज्ञान में रूप का आभास इसलिए अस्पष्ट होता है, क्योंकि उस समय अनुभवकर्ता चक्षुर्विज्ञान अतीत रहता है। तथा चक्षुर्विज्ञानकालिक और रूपज्ञ चक्षुर्विज्ञान से उपकृत मनोविज्ञान में रूप का आभास इसलिए स्पष्ट होता है, क्योंकि उस समय चक्षुर्विज्ञान अतीत नहीं रहता। आशय यह है कि चक्षुर्विज्ञान के काल में विद्यमान मनोविज्ञान में रूप का आभास स्पष्ट होता है तथा चक्षुर्विज्ञान के काल में अविद्यमान अर्थात् स्मृति आदि अन्य काल में विद्यमान मनोविज्ञान में रूप का आभास अस्पष्ट होता है। यदि आप (पूर्वपक्षी) रूपज्ञ चक्षुर्विज्ञान का अनुसरण करनेवाले मनोविज्ञान के काल में चक्षुर्विज्ञान को अतीत मानते हैं और ऐसा आप इसलिए मानते हैं, क्योंकि आपके यहाँ एक काल में दो विज्ञानों की उपस्थिति अमान्य है, तो ऐसी हालत में इस मनोविज्ञान में और स्मृति के काल में उत्पन्न (स्मृतिकालिक) मनोविज्ञान में कोई फर्क नहीं रहेगा, क्योंकि दोनों मनोविज्ञानों के समय चक्षुर्विज्ञान अतीत है। फलतः दोनों समय में रूप का आभास अस्पष्ट ही रहेगा। परिणामतः चक्षुर्विज्ञान से उपकृत रूपज्ञ मनोविज्ञान में जो रूप का स्पष्ट प्रतिभास होता है, उस स्पष्टत्व का आपके मत में अयोग होगा। अर्थात् आपके मत में स्पष्टत्व के अयोग का प्रसङ्ग होगा।

(४) बीज की असम्भवता—यदि आलयविज्ञान न माना जाएगा तो कुशल एवं अकुशल चित्तों के बीज असम्भव हो जाएंगे, क्योंकि उनके बीजों को स्थापित करने के लिए उपयुक्त आश्रय (आधार) नहीं मिलेगा। आलयविज्ञान ही बीजों का उपयुक्त आश्रय हो सकता है, क्योंकि वह अव्याकृत होता है और अव्याकृत होने से कुशल एवं अकुशल दोनों के अनुकूल होता है। आलयविज्ञान न मानने पर छह विज्ञानों को ही बीजों का आश्रय मानना पड़ेगा, किन्तु वे किसी भी तरह आश्रय नहीं हो सकते, क्योंकि वे स्वयं कुशल या अकुशल होते हैं। कुशल चित्त में अकुशल का बीज होना या अकुशल चित्त में कुशल का बीज होना सर्वथा असम्भव एवं विरुद्ध है।

अपि च, बीज स्थापित करते समय स्थापक (स्थापित करनेवाले विज्ञान) और स्थाप्य (जिसमें स्थापित करना है) दोनों को एक साथ (युगपद्) उत्पन्न और निरुद्ध होना चाहिए। षड् विज्ञान ऐसे नहीं हैं। वे तो कुशल के बाद अकुशल, अकुशल के बाद कुशल, लौकिक के बाद लोकोत्तर—इत्यादि के रूप में उत्पन्न होते हैं। अतः उनमें स्थाप्य—स्थापक भाव नहीं बन सकता।

अपि च, छह विज्ञान जिस समय उत्पन्न नहीं होंगे, उस काल में आपके मतानुसार वासना के आश्रय के भी विच्छिन्न हो जाने से वासना भी निराश्रय होने से विच्छिन्न हो जाएगी। फलतः भविष्य में उत्पन्न होनेवाले चित्त—चैतसिकों के अहेतुक उत्पाद का प्रसङ्ग होगा। इत्यादि अनेक दोष होंगे, जिनका पहले भी अनेकधा उल्लेख किया गया है।

(५) कर्म की असम्भवता—कर्म का तात्पर्य विज्ञप्ति, प्रतीति या चेतना से है। योगाचार नय में विज्ञप्ति ही कर्म है। विज्ञप्ति से अतिरिक्त कोई कर्म नहीं हुआ करता। विज्ञप्तियां अनेकविध होती हैं, यथा—(१) भाजनविज्ञप्ति (देश और पदार्थ की विज्ञप्ति) (२) स्थानविज्ञप्ति (३) अहंकारविज्ञप्ति एवं (४) रूप, शब्द आदि विषय विज्ञप्ति और (५) सत्त्वविज्ञप्ति आदि। यदि एक साथ अनेक विज्ञानों का उत्पाद न माना जाएगा, जैसे विज्ञानवादी उत्पाद मानते हैं तो इन विज्ञप्तियों का अर्थात् गमन, आगमन आदि कर्मों का निष्पन्न होना असम्भव हो जाएगा। फलतः अनेक विज्ञानों की युगपद् उपस्थिति न मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। उदाहरणार्थ जब हम किसी रास्ते से गुजर रहे होते हैं, उस समय हमें उस रास्ते (मार्ग) की प्रतीति, पैरों के उठाने और रखने की प्रतीति तथा दाएं—बाएं स्थित

अन्य सत्त्वों और पदार्थों की एकसाथ (युगपत्) प्रतीति होती है और यह प्रत्यक्षतः सिद्ध है। अनेक विज्ञानों की एक साथ उपस्थिति न मानने पर उक्त प्रतीतियों का अभाव होगा। फलतः आलयविज्ञान मानने पर अनेक विज्ञानों की युगपद् उपस्थिति हो जाने का जो दूषण पूर्वपक्षी ने दिया था, वस्तुतः वह दूषण ही नहीं है।

(६) कायवेदना की असम्भवता—मनोविज्ञान जिस समय समाहित अवस्था में स्थित होता है या किसी पाप कर्म में लिप्त रहता है अथवा यों कहें कि जिस समय योनिशः चित्त या अयोनिशः चित्त प्रवृत्त होता है, उस समय सारे शरीर में एक व्यापक वेदना, सुख वेदना या दुःख वेदना की अनुभूति होती है। प्रश्न है कि उस व्यापक वेदना का आश्रय कौन है ? मनोविज्ञान उसका आश्रय हो नहीं सकता, क्योंकि वह उस समय अन्तर्मुखी होता है या अन्य विषय में प्रवृत्त रहता है। मनोविज्ञान के लिए यह सम्भव नहीं है कि एक ओर तो वह अपने विषय का ग्रहण करता रहे और दूसरी ओर वेदना को भी आश्रय प्रदान कर सके। आलयविज्ञान न माननेवालों के पक्ष में आश्रय का अभाव होने से उस समय उस व्यापक कायिकी वेदना के अभाव का प्रसङ्ग होगा। हमारे मत में तो आलयविज्ञान ही उस वेदना का आश्रय होता है।

ज्ञात है कि समाहित अवस्था में पाँच इन्द्रियविज्ञान प्रवृत्त नहीं होते। मानस विज्ञान भी सर्वथा अन्तर्मुखी रहता है। यदि उस समय आलयविज्ञान भी न होगा तो उस समय जो कायिकी सुखा वेदना या उपेक्षा वेदना होती है, उसका आश्रय कौन होगा ? अतः अवश्य आलयविज्ञान स्वीकार करना चाहिए।

(७) समापत्ति की अनुपपत्ति—यदि आलयविज्ञान न होगा तो असंज्ञिसमापत्ति और निरोधसमापत्ति ये समापत्तियां असम्भव हो जाएंगी, क्योंकि इन दो समापत्तियों में समापन्न पुद्गल में छह विज्ञान निरुद्ध हो जाते हैं और पूर्वपक्षी आलयविज्ञान मानता नहीं। साथ ही, विज्ञानों के न रहने से पुद्गल मृत हो जाएगा। किन्तु उन अवस्थाओं में व्यक्ति मृत तो होता नहीं, अपितु जीवित होता है। साथ ही, मृत होना आगम से भी विरुद्ध है। सूत्र में उक्त है कि उस पुद्गल का विज्ञान शरीर से निःसृत नहीं होता।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि उन अवस्थाओं में एक सूक्ष्म मनोविज्ञान अवस्थित रहता है, अतः व्यक्ति मृत नहीं होगा—तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि यदि विज्ञान होगा तो विषय, इन्द्रिय और विज्ञान का स्पर्श भी होगा । और यदि स्पर्श होगा तो स्पर्शप्रत्यय से वेदना भी होगी और वेदना होने से संज्ञा भी प्रवृत्त होगी । ज्ञात है कि वेदना और संज्ञा ही उक्त दोनो समापत्तियों की निषेध्य हैं । अतः उक्त अवस्थाओं में आपके द्वारा सम्मत किसी भी तरह के सूक्ष्म या स्थूल किसी विज्ञान का होना अयुक्त है ।

पूर्वपक्षी यह भी कह सकता है कि आप (योगाचार) उन अवस्थाओं में आलयविज्ञान की विद्यमानता मानते हैं । यदि आलयविज्ञान होगा तो उससे सदा सम्प्रयुक्त होने वाले पाँच सर्वत्रग चैतसिक भी होंगे । स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना ही सर्वत्रग चैतसिक हैं । ऐसी हालत में आपके मत में भी इन समापत्तियों की अयुक्तता होगी ?

उत्तरपक्ष—सत्य है, किन्तु आलयविज्ञान से सम्प्रयुक्त वेदना और संज्ञा वैसी नहीं है, जैसे छह विज्ञानों से सम्प्रयुक्त वेदना और संज्ञा होती हैं । आलयविज्ञान से सम्प्रयुक्त ये चैतसिक आलयविज्ञान के ही सदृश अपरिच्छिन्नाकार और अपरिच्छिन्नालम्बन होते है । अर्थात् उनके द्वारा किसी आलम्बन का या आकार का परिच्छेद नहीं होता और वे अनिवृताव्याकृत होते हैं । अतः उन सूक्ष्म वेदना और संज्ञा का उन असंज्ञी और निरोध समापत्तियों से कोई विरोध नहीं है, जबकि छह विज्ञानों से सम्प्रयुक्त वेदना और संज्ञा स्थूल होती हैं । उनका उक्त समापत्तियों की अवस्था में होना, सर्वथा विरुद्ध है।

(८) च्युति की अनुपपत्ति—जिस समय मनुष्य की मृत्यु होती है, उस समय मरणासन्न अवस्था में शरीर की ऊष्मा क्रमशः संकुचित होती है । ऐसा नहीं होता कि सारे शरीर की ऊष्मा एक क्षण में ही समाप्त हो जाती हो । शारीरिक ऊष्मा और वेदना का क्रमशः विसर्जन करनेवाला विज्ञान ही हो सकता है, जड पदार्थ ऐसा नहीं कर सकते । विज्ञान में भी चक्षुर्विज्ञान आदि इन्द्रियविज्ञान यह कार्य नहीं कर सकते, क्योंकि वे सम्पूर्ण शरीर में व्यापक नहीं होते, अपितु शरीर में उनका नियत स्थान होता है । यदि चक्षुरादि विज्ञान ऊष्मा और वेदना के आधार माने जाएंगे या उनका विसर्जन करने वाले माने जाएंगे तो जीवितावस्था में भी वे स्थान मृतवत् प्रतीत होने चाहिए, जो स्थान उन

चक्षुरादिविज्ञानों से व्याप्त नहीं हैं । मनोविज्ञान भी सम्पूर्ण शरीर में व्यापक नहीं होता, कभी कहीं और कभी कहीं होता है । साथ ही ये विज्ञान सर्वदा नहीं होते । गाढ निद्रा और मूर्च्छा की अवस्था में तो मनोविज्ञान भी नहीं होता । ऐसी अवस्थाओं में शारीरिक ऊष्मा का अभाव हो जाएगा । किन्तु ऊष्मा का अभाव नहीं होता, अतः यह निश्चित होता है कि छह विज्ञान ऊष्मा के आधार या नियामक नहीं है और मरणावस्था में शरीर का त्याग करनेवाले विज्ञान नहीं हैं । आलयविज्ञान ही एक मात्र सम्पूर्ण शरीर में व्यापक विज्ञान है । जिन कर्मों द्वारा वह आलयविज्ञान प्रक्षिप्त किया जाता है, उन कर्मों की शक्ति क्षीण होने पर उसका शरीर में रहना असम्भव हो जाता है । शरीर के जिस अङ्ग में आलयविज्ञान नहीं रह जाता, वह अङ्ग वेदना और ऊष्मा से रहित हो जाता है । जिस क्रम से आलयविज्ञान शरीर के अङ्गों का त्याग करता है, उसी क्रम से वे अङ्ग ऊष्मा और वेदना से रहित होते जाते हैं । अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण शरीर ऊष्मा और वेदना से रहित हो जाता है और मृत्यु हो जाती है । इस विवेचन से यह सुनिश्चित होता है कि आलयविज्ञान का अस्तित्व है ।

उपर्युक्त आठ युक्तियों के द्वारा आलयविज्ञान की सिद्धि की गई है । उनमें से प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम एवं अष्टम युक्ति द्वारा आलयविज्ञान न मानने पर पूर्वपक्षी को प्रसङ्ग (आक्षेप) देते हुए आलयविज्ञान मानने की अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है तथा अवशिष्ट द्वितीय, तृतीय एवं पञ्चम युक्ति द्वारा पूर्वपक्ष द्वारा प्रदत्त आक्षेपों का समाधान किया गया है । इस तरह इन अवशिष्ट युक्तियों द्वारा भी परम्परया आलयविज्ञान की सिद्धि की गई है । गूढार्थटीका आदि योगाचार शास्त्रों में एक–एक युक्ति अनेकों प्रकार से प्रस्तुत की गई है तथा एक–एक युक्ति की भी अनेक शाखाएं प्रस्तुत की गई हैं, जो पठनीय, मननीय एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं ।

प्रश्न—आलयविज्ञान केवल महायानसूत्रों में ही उल्लिखित है या हैनयानिक सूत्रों में भी इसका उल्लेख है ?

उत्तर—महायानसूत्रों में ज्ञेयस्थान, आदानविज्ञान आदि विभिन्न नामों से आलयविज्ञान सम्पूर्ण लक्षणों के साथ उपदिष्ट है । केवल महायान सूत्रों में ही नहीं, अपि तु श्रावकवर्गीय सूत्रों में भी दूसरे दूसरे नामों द्वारा आलयविज्ञान निर्दिष्ट है । अंगुत्तर निकाय में उल्लिखित है कि तथागत के लोक में उत्पाद का यह

उद्देश्य है कि वे आलय के प्रति स्नेह रखनेवाले जीवों को उसके त्याग का उपदेश करते हैं, जिसे सुनकर और तदनुकूल आचरण कर वे अपना लक्ष्य (निर्वाण) सिद्ध कर सकें। इस पर्याय द्वारा भगवान् ने श्रावकवर्गीय पिटक में आलयविज्ञान की ओर संकेत किया है :

आलयरामा भिक्खवे, पजा आलयरता, आलयसमुदिता, सा तथागतेन अनालये धम्मे देसियमाने सुस्सूसति सोतं ओदहति अञ्ञा चित्तं उपट्ठपेति। (अंगुत्तरनिकाय, द्वितीयभाग, अच्छरियसुत्त)।

महासांघिक आगम में 'मूलविज्ञान' इस नाम से आलयविज्ञान निर्दिष्ट है, क्योंकि आलयविज्ञान सभी चित्त-चैतसिकों का मूल होता है। महीशासक आगम में यह (आलयविज्ञान) यावत्संस्कारस्कन्ध, आसंसारस्कन्ध या संसारकोटिनिष्ठ स्कन्ध नाम से संकेतित है, क्योंकि यह संसार की समाप्ति तक प्रवृत्त होते रहता है। स्थविरवादी आगम में यह 'भवाङ्ग' नाम से उपदिष्ट है। फलतः ज्ञेयस्थान, आदानविज्ञान, आलयविज्ञान, मूलविज्ञान, यावत्संसारस्कन्ध एवं भवाङ्ग ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। ऐसा होने पर भी जैसे महायानसूत्रों में आलयविज्ञान का सांगोपाङ्ग वर्णन उपलब्ध होता है, वैसे उन-उन महायानेतर आगमों में उसके लक्षण, स्वरूप, क्रिया आदि स्पष्टतः और पूर्णतः उपदिष्ट नहीं हैं। हीनयानिक आगमों में उसके पूर्णतः स्वरूप-प्रतिपादन करने की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि एक तो उसका वहाँ कोई उपयोग नहीं है और दूसरे उससे हानि की सम्भावना है।

आलयविज्ञान के स्वरूप का सांगोपाङ्ग वर्णन समस्त ज्ञेय धर्मों के सम्यग् अवबोध के लिए किया जाता है, जब कि श्रावकों को अपना लक्ष्य व्यक्तिगत निर्वाण सिद्ध करने के लिए समस्त सूक्ष्म ज्ञेयों को जानने की आवश्यकता ही नहीं है। वे तो कुछ ही गाथाओं या कारिकाओं के अभ्यास या आनुभाव से अपने क्लेशों को समाप्त कर मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

हानि की सम्भावना इस प्रकार है कि यदि श्रावकयानियों को यह कहा जाए कि "आलयविज्ञान ही समस्त धर्मों के बीजों का आश्रय है, वही समस्त भाजन और सत्त्वों का हेतु है, वही यावत्संसार प्रवृत्त होता रहता है तथा वही

बन्ध और मोक्ष आदि सभी का आधार है"—तो निश्चय ही वे यह समझने लगेंगे कि आलयविज्ञान 'आत्मा' है; यथा :

आदानविज्ञानगभीरसूक्ष्मो ओघो यथा वर्तति सर्वबीजो।
बालान एषो मयि न प्रकाशितो मा हैव आत्मा परिकल्पयेयुः॥
(आर्य सन्धिनिर्मोचनसूत्र)

ऐसी स्थिति में या तो वे वक्ता के प्रति अश्रद्धालु होकर उसके द्वारा उपदिष्ट धर्मों के श्रवण से विरत हो जाएंगे या फिर आत्मवादी बन जाएंगे। इस अनिष्ट की सम्भावना को ध्यान में रखकर उपायकुशल भगवान् बुद्ध ने हीनयानिक पिटकों में आलयविज्ञान का सङ्केत तो किया, किन्तु उसके सम्पूर्ण स्वरूप का प्रदर्शन नहीं किया।

महायान के विनेयजन बोधिसत्त्व होते हैं, जिनका लक्ष्य सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होता है। अतः उन्हें आलयविज्ञान का पूर्ण स्वरूप बतलाना जरूरी था, क्योंकि समस्त सूक्ष्म ज्ञेयों का अवबोध बिना किये उनका वह लक्ष्य सिद्ध ही नहीं हो सकता। अतः बोधिसत्त्वों के लिए इसका उपयोग भी है। बोधिसत्त्वों को जब आलयविज्ञान के सम्यक् स्वरूप का निर्देश किया जाता है तो इससे उनके नैरात्म्यज्ञान में प्रकर्ष ही आता है। आत्मदृष्टि में पतन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यही कारण है कि महायानसूत्रों में आलयविज्ञान का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

(ख) क्लिष्ट मनोविज्ञान

इसका लक्षण एवं युक्तिप्रदर्शन इन दो भागों में विभाजन करके वर्णन किया जा रहा है।

(१) लक्षण—आलयविज्ञान को आलम्बन बनाकर उसे आत्मा के रूप में ग्रहण करनेवाला निवृताव्याकृत विज्ञान 'क्लिष्ट मनोविज्ञान' कहलाता है।

आलयविज्ञान की आलम्बनता—क्लिष्ट मनोविज्ञान में आलयविज्ञान का प्रतिभास नहीं होता। अतः वह अपने में प्रतिभासित आलयविज्ञान को आलम्बन नहीं बनाता। अपितु वह (आलयविज्ञान) विपाकविज्ञान के वश से आत्मत्वेन

ग्रहण करने वाले क्लिष्ट मनोविज्ञान का आधारमात्र है और इसी अर्थ में वह क्लिष्ट मनोविज्ञान का आलम्बन कहा जाता है ।

निवृत-अनिवृत विचार—जो क्लेशों से मलिन (समल) होता है, उसे 'निवृत' कहते हैं । क्लिष्ट मनोविज्ञान राग, मोह, दृष्टि और मान इन चार मूल क्लेशों से मलिन किया जाता है । अतः वह 'निवृत' कहा जाता है । जो क्लेशों से आविल (मलिन) नहीं होता, वह 'अनिवृत' होता है, जैसे—श्रद्धा आदि पाँच इन्द्रियां, बल एवं ११ कुशल चैतसिक आदि । इस तरह क्लेशों से अनाविल 'अनिवृत' कहा जाता है ।

कुछ लोगों का कहना है कि आर्यों की समाहित अवस्था में क्लिष्ट मनोविज्ञान नहीं होता, किन्तु आलयविज्ञान होता है । अतः जो समाहित ज्ञान का आवरण करता है, वह 'निवृत' है, यथा—क्लिष्ट मनोविज्ञान । तथा जो आवरण नहीं करता वह 'अनिवृत' है, जैसे—आलयविज्ञान । इस तरह समाहित ज्ञान का आवरण करने या न करने के आधार पर निवृत और अनिवृत की व्याख्या करते हैं ।

कुछ अन्य लोगों का मानना है कि समस्त क्लेश 'क्लेशावरण' हैं और बिना क्लेशावरण का प्रहाण किये मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती । अतः क्लेशावरण मोक्ष का आवरण करनेवाले हैं । इस तरह वे मोक्ष का आवरण करने या न करने के आधार पर निवृत ओर अनिवृत की व्याख्या करते हैं ।

निवृत और अनिवृत की व्याख्या करनेवाले उपर्युक्त दोनों पक्ष समीचीन नहीं है तथा उन व्याख्यानों का केन्द्रबिन्दु केवल आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान मात्र है, अतः उनकी व्याख्या सीमित है । वस्तुतः निवृत और अनिवृत के अर्थ का ग्रहण इस आधार पर करना चाहिए कि वे स्वयं स्वरूपतः निवृत (आवृत या मलिन) हैं या अनिवृत । ऐसा नहीं कि वे दूसरों को आवृत करते हैं या नहीं अथवा दूसरों के द्वारा आवृत होते हैं या नहीं । अन्यथा आर्यों की असमाहित अवस्था के कुशल या अव्याकृत चित्त भी निवृत होने लगेंगे, क्योंकि उन्होंने समाहित अवस्था में विघ्न किया है । अपि च, पुनर्भव के नियत आक्षेपक सम्पूर्ण कर्मों का बिना प्रहाण किये तीनों प्रकार के मोक्षों (श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्त्व के मोक्षों) में से कोई भी प्राप्त नहीं किया जा सकता । फलतः

पुण्य (कुशल) कर्म और आनेंज्य कर्म भी पुनर्भव के नियत आक्षेपक होने से 'निवृत' कहलाने लगेंगे, क्योंकि उनके द्वारा भी मोक्ष का आवरण किया जाता है ।

अव्याकृत विचार—क्लिष्ट मनोविज्ञान क्यों कुशल या अकुशल नहीं होता ? वह केवल अव्याकृत ही क्यों होता है ?

क्लिष्ट मनोविज्ञान क्योंकि क्लेशों से संक्लिष्ट है, अतः कुशल नहीं हो सकता । कुशलचित्तों के साथ एक ही काल में और एक ही सन्तान में प्रवृत्त होने से वह अकुशल भी नहीं हो सकता । यदि ऐसा (अव्याकृत) न माना जाएगा अर्थात् उसे कुशल या अकुशल माना जाएगा तो पृथग्जन की सन्तति में कुशल या अकुशल चित्त साक्षात् उत्पन्न नहीं हो पाएंगे, क्योंकि क्लिष्ट मनोविज्ञान आर्यमार्ग के उत्पाद पर्यन्त सर्वदा निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है और यदि वह अकुशल होगा तो आर्यमार्ग की प्राप्ति तक किसी में भी कुशल का उत्पाद न हो सकेगा ।

प्रश्न—क्लिष्ट मनोविज्ञान चित्त के साथ कितने चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं । अर्थात् उसके परिवार में कुल कितने चैतसिक होते हैं ?

उत्तर—स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना—ये पाँच सर्वत्रग चैतसिक सभी चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं, अतः क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ भी सम्प्रयुक्त होंगे । इनके अलावा राग, अविद्या (मोह), मान और आत्मदृष्टि—ये चार चैतसिक भी उससे सम्प्रयुक्त होते हैं । इस तरह क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ कुल ९ चैतसिक होते हैं । अर्थात् उसके परिवार में कुल ९ चैतसिक होते हैं ।

इसके साथ जो वेदना सम्प्रयुक्त होती है, वह मात्र उपेक्षा वेदना ही होती है, सुख या दुःख वेदना नहीं । यदि सुख वेदना होगी तो निश्चय ही वह सौमनस्य होगी, क्योंकि वह मानसिक है । मानसिक सुख वेदना को सौमनस्य कहते हैं । यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान का सौमनस्य वेदना से सम्प्रयोग होगा तो उसी के सर्वदा साक्षात् निरन्तर प्रवृत्त होने से पृथग्जन की सन्तति में दौर्मनस्य वेदना का सर्वथा अभाव हो जाएगा तथा चतुर्थ ध्यान से ऊपर की भूमियों के सत्त्वों में भी सुख वेदना के होने से वे सुखवेदनाभौमिक होने लगेंगे । साथ ही, अवीचि नामक नरक

में भी सौमनस्य वेदना साक्षात् रूप से प्रवृत्त होने लगेगी । क्लिष्ट मनोविज्ञान के परिवार में होने वाले उपर्युक्त चैतसिक समानरूप से तीनों भूमियों में होते हैं । क्लिष्ट मनोविज्ञान और उनसे सम्प्रयुक्त चैतसिक युगपद् उत्पन्न एवं निरुद्ध होते हैं । इन्हीं युक्तियों के आधार पर यह भी जान लेना चाहिए कि क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ दुःख वेदना का भी सम्प्रयोग नहीं हो सकता । क्लिष्ट मनोविज्ञान में जो प्रीत्याकार या मुदिताकार प्रतीत होता है, वह वेदना का आकार नहीं, अपितु राग (लोभ) का प्रीत्याकार है ।

प्रश्न—राग और मोह में प्रज्ञप्त विक्षेप, राग या मोह में प्रज्ञप्त प्रमाद, राग में प्रज्ञप्त औद्धत्य और केवल मोह में प्रज्ञप्त आश्रद्धय, कोसीद्य और स्त्यान—इन छह चैतसिकों को भी क्लिष्ट मनोविज्ञान से सम्प्रयुक्त होना चाहिए । इस तरह क्लिष्ट मनोविज्ञान से सम्प्रयुक्त होने वाले चैतसिकों की संख्या १५ होनी चाहिए ?

उत्तर—सत्य है । किन्तु मूल चैतसिक उपर्युक्त ९ ही है, ये छह चैतसिक तो उनमें प्रज्ञप्तमात्र हैं । मूल चैतसिकों से ये द्रव्यतः भिन्न (पृथक्) नहीं हैं ।

प्रश्न—सत्त्व (प्राणी) जिस भूमि का होता है, उसमें विद्यमान क्लिष्ट मनोविज्ञान भी उसी भूमि का होता है, या अन्य भूमि का ? यदि उसी भूमि का होता है तो कामधातुक ध्यानलाभी पृथग्जन, जो कामधातु के स्थूल रागों से विरक्त हो गया है, उसकी सन्तान में कामभौमिक क्लिष्ट मनोविज्ञान होने से उस सत्त्व की सन्तान में कामधातुक क्लेशों की प्रवृत्ति होने लगेगी ? यदि उस भूमि का नहीं होता अर्थात् सत्त्व तो कामधातु का और क्लिष्ट मनोविज्ञान रूप—आदि अन्य भूमि का होता है तो उपर्युक्त ध्यानलाभी पृथग्जन के आलयविज्ञान का सपरिवार क्लिष्ट मनोविज्ञान द्वारा आत्मत्वेन ग्रहण किया जाने पर भी उसमें कामभौमिक क्लेशों की वृद्धि होना अयुक्त हो जाएगा ? वस्तुतः क्लिष्ट मनोविज्ञान द्वारा आलयविज्ञान का आत्मत्वेन ग्रहण किया जाने पर कामभौमिक क्लेशों की वृद्धि होना आवश्यक है, नियमप्राप्त है ।

उत्तर—उपर्युक्त दोषों के कारण द्वितीय पक्ष स्वीकार नहीं किया जा सकता । प्रथम पक्ष युक्तियुक्त है, फिर भी उसमें दिखाए गये दोष नहीं होंगे ।

कामधातु के सत्त्व का कामधातुक क्लेशों से विरक्त होने का अर्थ मुख्यतः मैथुन राग से विरक्त होना है । शमथ प्राप्त होने पर दौर्मनस्य से पीडित न होना, पञ्च कामगुणों से स्थूल राग द्वारा चित्त का सन्तप्त न होना—इत्यादि अर्थ हैं । अर्थात् बाह्याभिमुखी कुछ राग—द्वेषों से वियोग होना मात्र है । क्लिष्ट मनोविज्ञान का सहजात आत्मदृष्टि से सम्प्रयोग होता है, अतः उसकी निवृत्ति के लिए अनास्रव प्रज्ञा का उत्पाद आवश्यक है ।

प्रश्न—क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृत्ति कब होती है । अर्थात् उसकी निवृत्ति का काल कौन सा है ?

उत्तर—क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृत्ति दो प्रकार की होती है, यथा—१. तात्कालिकी (अस्थायी) तथा २. आत्यन्तिकी (स्थायी) निवृत्ति । आर्यों की समाहित अवस्था में तथा निरोधसमापत्ति की अवस्था में क्लिष्ट मनोविज्ञान की तात्कालिकी निवृत्ति होती है । अर्थात् आर्य जब तक समाहित अवस्था में स्थित रहता है अथवा निरोधसमापत्ति में समापन्न रहता है, तब तक उसमें क्लिष्ट मनोविज्ञान निवृत्त रहता है । यह उसकी तात्कालिक या अस्थायी निवृत्ति है, क्योंकि इन अवस्थाओं से व्युत्थित होने पर पुनः क्लिष्ट मनोविज्ञान प्रवृत्त होने लगता है ।

वाशित्वप्राप्त बोधिसत्त्व, जो आठवीं भूमि में स्थित है, उसमें तथा वहां से लेकर बुद्धावस्था तक की सभी अवस्थाओं में क्लिष्ट मनोविज्ञान का समुदाचार (प्रवृत्ति) बिलकुल नहीं होता । श्रावक और प्रत्येकबुद्धों की अर्हत् अवस्था में भी क्लिष्ट मनोविज्ञान सर्वथा प्रवृत्त नहीं होता । यह आत्यन्तिकी निवृत्ति की अवस्था है, क्योंकि फिर कभी उनमें क्लिष्ट मनोविज्ञान प्रवृत्त नहीं होता ।

मन की द्विविधता—मनस् दो प्रकार का होता है, यथा—१. अहं—बोधक मन तथा २. समनन्तर मन । इन्हें क्रमशः वास्तविक और व्यावहारिक मन भी कहते हैं । प्रथम (अहं—बोधक) मन अत्यन्त आध्यात्मिक (भीतरी) होता है और इसकी प्रक्रिया भीतर ही भीतर गुप्त रूप से चलती रहती है, जिसका हमारी सामान्य चेतना द्वारा अवबोध नहीं होता । इस की वज़ह से हमारे चक्षुर्विज्ञान आदि छह विज्ञानगण प्रपञ्च में फंसे रहते हैं तथा क्लेश और सास्रव

धर्मों की अभिवृद्धि होती रहती है । यह एक प्रकार से छह विज्ञानों का आधार होता है और शास्त्रों में यही 'क्लिष्टमनोविज्ञान' कहा गया है ।

द्वितीय समनन्तर मन चक्षुर्विज्ञान आदि छह विज्ञानों का समनन्तर प्रत्यय हुआ करता है और इसी से विविध कल्पनाओं का प्रादुर्भाव हुआ करता है । फलतः अनेक कल्पना–बुद्धियां उत्पन्न होती हैं । इसी को हम 'षष्ठ (छठवां) मनोविज्ञान' कहते हैं । इन दोनों का भेद अवश्य जान लेना चाहिए, अन्यथा दोनों को एक समझने का भ्रम हो सकता है ।

प्रश्न—यदि वशित्वप्राप्त बोधिसत्त्व, अर्हत् और आर्यों के समाहित ज्ञान की अवस्था में क्लिष्ट मनोविज्ञान नहीं होता है तो आपके मत में दो दोष होंगे— १. उक्त अवस्थाओं में मन भी प्रवृत्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि क्लिष्टमनोविज्ञान उसका अधिपतिप्रत्यय होता है, जो निवृत्त हो चुका है । २. उक्त अवस्थाओं में समताज्ञान की प्रवृत्ति का प्रसङ्ग होगा, जो केवल बुद्धावस्था में ही होता है । बात यह है कि क्लिष्ट मनोविज्ञान के निवृत्त होने पर उसकी अगली धारा समताज्ञान ही होती है और किसी भी ज्ञान की द्रव्यधारा कभी समाप्त नहीं होती ?

उत्तर—व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के विकास के क्रम में जब आर्यावस्था प्राप्त करता है और समाहित अवस्था में अवस्थित होता है, उस समय वह केवल नैरात्म्य का साक्षात्कार करता है । उस समय उसमें लोकोत्तर समाधि के बल से आत्मदृष्टि आदि क्लेश प्रवृत्त नहीं होते । अर्हत् आदि आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्थाओं में तो सभी क्लेश सर्वदा के लिए समाप्त रहते हैं, फलतः इन अवस्थाओं में क्लेशों का होना बिलकुल ही सम्भव नहीं है । आत्मदृष्टि, अविद्या आदि ही मुख्य क्लेश होते हैं । इन्हीं के सम्प्रयोग की वज़ह से क्लिष्ट मनोविज्ञान में प्रयुक्त 'क्लिष्ट' शब्द सार्थक होता है । उक्त अवस्थाओं में आत्मदृष्टि आदि क्लेशों के निवृत्त हो जाने से सप्तम मनोविज्ञान 'क्लिष्ट'तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु मनोविज्ञानांश की विद्यमानता में कोई आपत्ति नहीं है ।

ज्ञातव्य है कि सभी बौद्धों में क्लेश आगन्तुक ही माने जाते हैं । वे चित्त के स्वभावगत धर्म नहीं हैं, जैसे कोयले का कालापन उसका स्वभावगत धर्म होता है, किन्तु कपड़े की कालिमा आगन्तुक होती है । कोयले से कालिमा को छुड़ाने के प्रयास में कोयला ही समाप्त हो जाता है, किन्तु वस्त्र से मैल को हटा

देने पर वस्त्र अवशिष्ट रह जाता है । ठीक इसी प्रकार राग आदि क्लेशों की निवृत्ति हो जाने पर भी चित्त अवशिष्ट रहता है । उपर्युक्त समाहित आदि अवस्थाओं में यद्यपि उन राग आदि क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है, जिनकी वज़ह से मनोविज्ञान 'क्लिष्ट' कहलाता था, फिर भी क्लेशरहित मनोमात्र अवशिष्ट रहता ही है । वही मन या विविध मानसिक बुद्धियों का अधिपतिप्रत्यय हो सकता है । फलतः आर्यों की समाहित अवस्था एवं अर्हत् आदि की अवस्थाओं में मनोविज्ञान के अभाव का दोष हमारे मत में नहीं है ।

उपर्युक्त शैक्ष्य आर्य की समाहित आदि अवस्थाओं में विद्यमान मन, जिसका क्लिष्ट विशेषण समाप्त हो गया है, 'वह सास्रव है कि अनास्रव'—इस विषय में योगाचार आचार्यों के दो मत हैं । कुछ आचार्यों का मानना है कि उक्त अवस्थाओं में सास्रव मन सम्भव नहीं है, क्योंकि अनास्रव ज्ञान और क्लेशों का एक काल में और एक सन्तान में युगपद् होना असम्भव है । अतः अवश्य ही वह मन अनास्रव होता है । दूसरे प्रकार के आचार्यों का कहना है कि वह मन सास्रव होता है, फिर भी क्लेशों की वज़ह से सास्रव नहीं होता । अर्थात् सास्रव होने पर भी क्लिष्ट नहीं है । वह सास्रव इसलिए है, क्योंकि भविष्य (पृष्ठलब्ध–अवस्था) में उससे क्लेशों का उत्पाद होता है । ज्ञातव्य है कि मन में दो प्रकार की शक्तियाँ निहित होती हैं, यथा—१. आलयविज्ञान को आत्मा के रूप में ग्रहण कर क्लेशों को उत्पन्न करने की शक्ति तथा २. विविध विकल्पात्मक बुद्धियों को उत्पन्न करने की शक्ति । पहली शक्ति क्लेशावरण की जनक होती है और उसी की वज़ह से क्लिष्ट मनोविज्ञान की व्यवस्था होती है । द्वितीय शक्ति ज्ञेयावरण की जनक है तथा वह समाहित अवस्था और अर्हत् आदि की अवस्थाओं में भी विद्यमान होती हैं । कहने का आशय यह है कि अर्हत् आदि अवस्थाओं में पुद्गलात्मदृष्टि (क्लेशावरण) का प्रहाण तो हो जाता है तथापि उनमें धर्मात्मदृष्टि (ज्ञेयावरण) अभी विद्यमान होती है । फलतः समाहित आर्य और अर्हत् आदि में समताज्ञान की प्रवृत्ति का प्रसङ्ग नहीं होगा, क्योंकि समता ज्ञान की प्राप्ति तो तब होती है, जब समस्त ज्ञेयावरणों से भी विमुक्ति हो जाती है । अर्थात् बुद्धावस्था में ही उसकी प्राप्ति होती है ।

सारांश यह है कि वशित्वप्राप्त बोधिसत्त्व, अर्हत् और आर्यों की समाहित अवस्था में यद्यपि क्लिष्ट मनोविज्ञान नहीं होता, फिर भी मनोमात्र तो होता ही है । इसी प्रकार यद्यपि आलयविज्ञान नहीं होता, फिर भी विपाकविज्ञान होता है ।

प्रश्न है कि आदर्श ज्ञान, जो बुद्ध का ज्ञान है, उसमें वासना स्थापित होती है कि नहीं ? यदि होती है तो पूर्व के बुद्धों में वासनाओं का सामर्थ्य अधिक और पीछे के बुद्धों में काल की अल्पता के कारण कम सामर्थ्य होगा, साथ ही, वासना के आधार को जो अव्याकृत होना चाहिए, वह भी निश्चित नहीं होगा, क्योंकि आदर्शज्ञान कुशल ही होता है । यदि नहीं होती है तो उनके दशबल, चतुर्वैशारद्य आदि गुण अहेतुक होने लगेंगे ?

समाधान—वज्रोपम समाधि की अवस्था में सभी अनास्रव बीजों की शक्ति एकत्र एवं पराकाष्ठा—प्राप्त हो जाती है, अतः नई वासनाओं की विना अपेक्षा किये सभी गुण धारा के रूप में स्वतः प्रवृत्त होते रहते हैं ।

मनोविज्ञान साधक युक्तियाँ

क्लिष्ट मनोविज्ञान न मानने पर निम्न छह अभावों का प्रसङ्ग उपस्थित होता है, यथा—(१) आवेणिक अविद्या का अभाव, (२) पाँच इन्द्रियविज्ञानों के साथ मनोविज्ञान की सदृशता का अभाव, (३) दोनों समापत्तियों में भेद (विशेष) का अभाव, (४) व्युत्पत्ति का अभाव, (५) असंज्ञी सत्त्व की सन्तान में अहं—दृष्टि का अभाव तथा (६) हमेशा अहं—बोध होते रहने का अभाव ।

(१) आवेणिक अविद्या का अभाव—आवेणिक का तात्पर्य अमिश्रित होने से है । साधारण पृथग्जन नैरात्म्य का साक्षात्कार करने में इसलिए असमर्थ रहते हैं, क्योंकि उनकी सन्तति में कुशल, अकुशल, अव्याकृत आदि सभी चित्तावस्थाओं में आत्मा का आभास होता रहता है । इससे यह सिद्ध होता है कि एक ऐसी अविद्या है, जो सर्वदा पृथग्जन की सन्तति में विद्यमान रहती है । यह अविद्या एक चैतसिक है, अतः उसे अवश्य किसी चित्त से सम्प्रयुक्त होना चाहिए । चक्षुर्विज्ञान आदि छह विज्ञानों से वह सम्प्रयुक्त नहीं हो सकती, क्योंकि वे मार्गोत्पाद पर्यन्त निरन्तर प्रवृत्त नहीं होते । वह आलयविज्ञान से भी सम्प्रयुक्त नहीं हो सकती, क्योंकि अनिवृताव्याकृत होने से उसका क्लेशों से सम्प्रयुक्त होना सम्भव नहीं है ।

इस अविद्या के आवेणिक होने में आचार्यों के दो मत हैं । भदन्त निःस्वभाव का कहना है कि यह अविद्या केवल क्लिष्ट मनोविज्ञान पर ही आश्रित

होती है, अतः यह आश्रयतः आवेणिक है । आचार्य निगूढार्थ के मतानुसार क्योंकि इसकी शक्ति से ही क्लेश आनीत हो सकते हैं, अन्य ज्ञानों से नहीं, अतः यह शक्तितः आवेणिक है । उपर्युक्त दोनों मतों में से प्रथम मत समीचीन है । भोट देश के सुप्रसिद्ध विद्वद्वरेण्य आचार्य चोंखापा भी इसी मत को पसन्द करते हैं । क्योंकि जब तक अविद्या (मोह) के वश से राग आदि प्रवृत्त होते हैं, तब तक उन राग आदि द्वारा अविद्या भी प्रवृत्त होती है । आगमानुयायी विज्ञानवादियों के मतानुसार क्लिष्ट मनोविज्ञान का परिवार परस्पर कार्यकारण भाव से स्थित होता है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अविद्या ही राग आदि का आकर्षण करती है और अन्य राग आदि उसका आकर्षण नहीं करते । ज्ञात है कि आगमानुयायी विज्ञानवादी कार्यकारण के समकालिक होने के पक्षधर हैं । फलतः आवेणिक का तात्पर्य आश्रयतः आवेणिक होने से है । अर्थात् इस अविद्या का आश्रय असाधारण है । वह कभी अन्य को आश्रय नहीं बनाती । क्योंकि उक्त अविद्या केवल क्लिष्ट मनोविज्ञान से ही सर्वदा सम्प्रयुक्त होती है, अन्य विज्ञानों से नहीं, तो ऐसी स्थिति में यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान न माना जाएगा तो उक्त अविद्या के अभाव का प्रसङ्ग होगा ।

(२) पाँच इन्द्रियविज्ञानों के साथ मनोविज्ञान की सदृशता का अभाव—यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान न होगा तो जैसे पाँच इन्द्रियविज्ञान अपने अधिपतिप्रत्यय से उत्पन्न होते हैं, वैसे षष्ठ मनोविज्ञान का अपने अधिपतिप्रत्यय से उत्पन्न होना असम्भव हो जाएगा । जिस प्रकार पाँच इन्द्रियविज्ञानों के आश्रय केवल अतीत ही नहीं होते, अपि तु समकालीन आश्रय (अधिपतिप्रत्यय) भी होते हैं । ज्ञात है कि इन्द्रियविज्ञानों के दो आश्रय होते हैं, एक समनन्तर अतीत मनस् और द्वितीय पाँच समकालीन इन्द्रियाँ । ठीक उसी प्रकार मनोविज्ञान का आश्रय भी अतीत और समकालीन इस प्रकार द्विविध होना चाहिए । ऐसा होने पर क्लिष्ट मनोविज्ञान अपने—आप सिद्ध हो जाता है, क्योंकि मनोविज्ञान का समकालीन आश्रय क्लिष्ट मनोविज्ञान ही हो सकता है । अन्य कोई भी ऐसा उपयुक्त विज्ञान नहीं है, जो मनोविज्ञान का सहज (साथ उत्पन्न) होते हुए उसे जन्म दे सके । उपर्युक्त मत निगूढार्थ उपाध्याय का माना जाता है । कुछ लोग ऐसा कह सकते हैं कि क्लिष्ट मनोविज्ञान न होने पर भी षष्ठ मनोविज्ञान का समकालीन आश्रय हृदयवस्तु हो सकती है । किन्तु उनका यह कथन वास्तविकता से विरुद्ध होगा, क्योंकि यदि मनोविज्ञान हृदयवस्तु पर आश्रित होगा तो वह पाँच इन्द्रियविज्ञानों की भाँति निर्विकल्पक ही हो जाएगा । अर्थात्

सविकल्पक न हो सकेगा । बात यह है कि जिन विज्ञानों के आश्रय रूपी (जड) इन्द्रियाँ होती हैं, वे विज्ञान निर्विकल्पक होते हैं, जैसे पाँच इन्द्रियविज्ञान । रूपी (जड) हृदयवस्तु को मनोविज्ञान का आश्रय माना जाएगा तो वह भी निर्विकल्पक ही होने लगेगा । किन्तु स्मृति, निश्चय, तुलना आदि के रूप में सविकल्पक मनोविज्ञान भी होते हैं, उनका होना असम्भव हो जाएगा । फलतः यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान स्वीकार नहीं किया जाता है तो मनोविज्ञान की पाँच इन्द्रियविज्ञानों से समता के अभाव का प्रसङ्ग होगा ।

(३) दोनों समापत्तियों में विशेषता (भेद) का अभाव—यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान स्वीकार नहीं किया जाएगा तो असंज्ञिसमापत्ति और निरोधसमापत्ति में भेद नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि दोनों समापत्तियों की अवस्था में छह विज्ञान निरुद्ध रहते हैं और क्लिष्ट मनोविज्ञान (पूर्वपक्ष को) स्वीकृत नहीं है । क्लिष्ट मनोविज्ञान मानने से योगाचार मत में यह दोष नहीं है । क्योंकि असंज्ञिसमापत्ति की अवस्था में अहं–दृष्टि, आत्मस्नेह (क्लिष्ट मनोविज्ञान) आदि विद्यमान रहते हैं और निरोधसमापत्ति की अवस्था में वे विद्यमान नहीं रहते । इसलिए असंज्ञिसमापत्ति अशान्त होती है और निरोधसमापत्ति शान्त । इसी आधार पर दोनों समापत्तियों में भेद किया जा सकता है । यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान न माना जाएगा तो दोनों समापत्तियों में भेद का कोई आधार न मिल सकेगा । किन्तु उनमें भेद होना आवश्यक है । अतः क्लिष्ट मनोविज्ञान सिद्ध होता है ।

पूर्वपक्ष—भूमि और मनस्कार में भेद होने से दोनों समापत्तियों में भेद हो जाएगा ? अर्थात् अभेद का प्रसङ्ग न होगा ?

उत्तरपक्ष—यह अयुक्त है । क्योंकि इतना मात्र भेद होने पर भी उनके स्वरूप में कोई अन्तर (फर्क) नहीं होता ।

पूर्वपक्ष—एक समापत्ति (निरोधसमापत्ति) आर्य की सन्तान में होती है और दूसरी (असंज्ञिसमापत्ति) पृथग्जन की सन्तान में होती है, इसलिए भेद हो जाएगा ?

उत्तरपक्ष—इससे भेद नहीं हो सकेगा, क्योंकि आर्यजन असंज्ञिसमापत्ति को प्रपात की भाँति समझकर उसका परिवर्जन करते हैं, क्योंकि उसमें 'अहं–दृष्टि' विद्यमान रहती है और इस वज़ह से अशान्त रहती है । यदि छह विज्ञानों का निरोध होने मात्र से उसे छोड़ देंगे तब तो उन्हें निरोधसमापत्ति को भी छोड़

देना पड़ेगा । अहंदृष्टि की विद्यमानता क्लिष्ट मनोविज्ञान की वजह से है । सैद्धान्तिक पक्ष के अनुसार तो शान्त एवं अशान्त का भेद होने से आर्य जन एक का ग्रहण करते हैं और दूसरी परित्याग करते हैं ।

(४) व्युत्पत्ति का अभाव—क्लिष्ट मनोविज्ञान सर्वदा अहं का ग्राहक (ग्रहण करने वाला) होता है । शास्त्रों में उसे 'सर्वदा अहंकार का कारण' कहा गया है । वह क्योंकि अहंकार करता है, इसलिए 'अहंकार का कारण' कहा जाता है । यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान न माना जाएगा तो क्लिष्ट मनोविज्ञान की उपर्युक्त व्युत्पत्ति (निर्वचन या व्याख्या) निरर्थक हो जाएगी, क्योंकि आलयविज्ञान या पाँच इन्द्रिय विज्ञानों द्वारा कभी भी अहंकार का ग्रहण नहीं होता । षष्ठ मनोविज्ञान द्वारा अहंकार का ग्रहण होने पर भी सर्वदा नहीं होता । अतः सर्वदा अहंकार का ग्राहक होने से क्लिष्ट मनोविज्ञान सिद्ध होता है ।

(५) असंज्ञी सत्त्व की सन्तान में अहं–दृष्टि का अभाव—यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान न होगा तो असंज्ञी–देवों के रूप में उत्पन्न सत्त्वों की सन्तान में अहंदृष्टि का अभाव हो जाएगा, जो अहं–दृष्टि उसकी सन्तान में प्रतिसन्धि से लेकर च्युति–पर्यन्त सर्वदा विद्यमान रहती है । यद्यपि प्रतिसन्धि होते समय प्रथम क्षण में अहंदृष्टियुक्त मनस् हो सकता है, किन्तु उसके बाद च्युति होने तक उसकी सन्तति में अहं–दृष्टि नहीं हो सकेगी । क्योंकि क्लिष्ट मनोविज्ञान को तो पूर्वपक्ष मानता नहीं और षड् विज्ञान तो असंज्ञीसत्त्व में निरुद्ध ही रहते हैं । यदि अहंदृष्टि उनमें न रहेगी तो वे क्लिष्ट (क्लेशों से युक्त) भी न हो सकेंगे । अर्थात् क्लेशमुक्त हो जाएंगे । किन्तु वे क्लेशमुक्त नहीं है, अतः उनमें अहंदृष्टि का होना सिद्ध होता है और उसी वज़ह से क्लिष्ट मनोविज्ञान का अस्तित्व भी सिद्ध होता है ।

पूर्वपक्ष—प्रथम उत्पत्ति क्षण में अहंदृष्टियुक्त मनस् उत्पन्न होगा तथा बाद में न होने पर भी उसकी वासना विद्यमान रहेगी । फलतः वासना होने की वज़ह से हम कह सकते हैं कि वह अहंदृष्टिसहित है ?

उत्तरपक्ष—यह अयुक्त है, क्योंकि उस अहंदृष्टि–वासना का आश्रय क्लिष्ट मनोविज्ञान होता है और वह उसकी सन्तति में नहीं है । असंज्ञी सत्त्व की सन्तति में कोई भी विज्ञान नहीं है । उसके सभी विज्ञान निरुद्ध हो गये हैं । केवल रूपस्कन्ध सन्तति ही विद्यमान होती है । रूपस्कन्ध कभी भी वासना का आधार

नहीं हो सकता। यदि असंज्ञी देवों में अहंदृष्टि न होगी तो वह क्लेशों से रहित होंगे, फलतः आर्यजन उस भूमि को अक्षण (मार्ग आदि के उत्पाद के लिए अभव्य) स्थान समझ कर उसका त्याग नहीं करेंगे। यदि छह विज्ञानों के निरोध मात्र से उसे अक्षण मानेंगे तो निरोधसमापत्ति को भी अक्षण मानकर उसका त्याग करना पड़ेगा, क्योंकि उसमें भी छह विज्ञान नहीं होते। यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान का अस्तित्व माना जाता है तो असंज्ञी देवों में सर्वदा अहंदृष्टि प्रवृत्त होगी, षड्विज्ञान नहीं होंगे। इस मिथ्यादृष्टि के कारण असंज्ञिदेवों को असंज्ञिभूमि में पाँच सौ महाकल्प तक निवास करना होता है और इस अवधि में वे अपना कुछ भी कल्याण नहीं साध सकते। फलतः वह भूमि अक्षण–स्थान सिद्ध हो सकेगी।

(६) हमेशा अहं–बोध होते रहने का अभाव–जब हम कोई पुण्यकर्म करते हैं, यथा–दान देते हैं, उस समय यह समझते हैं कि 'मैं दान दे रहा हूँ'। जब कोई अकुशल कर्म करते हैं, यथा–प्राणातिपात (हत्या) करते हैं, उस समय यह समझते हैं कि 'मैं जान से मार रहा हूँ'। अव्याकृत कर्म करने की अवस्था में भी 'मैं स्नान कर रहा हूँ' इत्यादि का भान होता रहता है। इस तरह हम देखते हैं कि कुशल, अकुशल और अव्याकृत सभी अवस्थाओं में अहं–बोध होता रहता है। यह तभी सम्भव है, जब क्लिष्ट मनोविज्ञान माना जाए, क्योंकि उससे अवशिष्ट सात विज्ञानों में कोई भी एक ऐसा विज्ञान नहीं है, जो सभी अवस्थाओं में समान रूप से विद्यमान रहे और अहंदृष्टि का आश्रय हो। इन उपर्युक्त सभी कारणों से क्लिष्ट मनोविज्ञान सिद्ध होता है।

(३) नौ विज्ञान तथा एक विज्ञान मानने वालों का खण्डन

(क) नौ विज्ञान मानने वालों का खण्डन–श्रावकवर्गीय पिटकों में विज्ञान की संख्या छह ही कही गई है। महायान आचार्यों के इस विषय में दो मत पाए जाते हैं। (१) आचार्य नागार्जुन आदि माध्यमिकों के मतानुसार विज्ञान छह ही होते हैं, सात या आठ नहीं। वे छह विज्ञान से अतिरिक्त विज्ञानों की सत्ता का जोरदार खण्डन करते हैं। आचार्य भव्य ने अपने मध्यमकहृदय में कहा है–'छह विज्ञानों से अतिरिक्त आलयविज्ञान आदि नहीं है, चक्षुर्विज्ञान आदि छह विज्ञानों के अन्तर्गत नहीं होने से, खपुष्प के समान। (२) दूसरा मत आर्य

मैत्रेयनाथ और उनके अनुयायियों का है, जो सुवर्णप्रभास आदि सूत्रों पर आधृत है। इस मत के अनुयायियों में तीन पक्ष उपलब्ध होते हैं।

प्रथम पक्ष–इस मत के प्रतिष्ठापक आचार्य 'बो देलेऊ' हैं। विज्ञप्तिमात्रता शास्त्रों के आधार पर उन्होंने यह प्रस्थापना की है कि चित्त या विज्ञान दो प्रकार का होता है। पहला धर्मता चित्त है, जो तत्त्वस्वभाव का होता है और सालम्बन नहीं होता। दूसरा सम्प्रयुक्त चित्त है, जो श्रद्धा आदि कुशल तथा राग आदि अकुशल चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है।

द्वितीय पक्ष–इसके प्रमुख वक्ता आचार्य 'परमार्थ' है, जिन्होंने विनिश्चयकोशशास्त्र के आधार पर नौ विज्ञानों की स्थापनी की है। चक्षुर्विज्ञान से लेकर मनोविज्ञान तक तो वे ही प्रसिद्ध छह विज्ञान हैं, जिनका अन्य शास्त्रों और मतो में उल्लेख मिलता है। सातवां विज्ञान आदानविज्ञान है जो अष्टमविज्ञान के प्रति आत्मा–आत्मीय दृष्टि रखता है। यह केवल क्लेशावरण से युक्त होता है, इसके द्वारा धर्मात्म ग्रहण नहीं होता। अष्टम विज्ञान आलयविज्ञान है। इसके तीन भेद होते हैं, यथा–स्वभाव–आलय, जो बुद्धत्व सिद्धि का आधार है। दूसरा विपाक–आलय है, जो अष्टादश धातुओं का आलम्बन करता है। तीसरा संक्लिष्ट आलय है जो तथता विषय को आलम्बन बनाकर चार प्रकार के मान को उत्पन्न करता है। यह केवल धर्मात्मा को ग्रहण करता है पुद्गलात्मा को नहीं। अर्थात् यह केवल धर्मात्मदृष्टि है, पुद्गलात्मदृष्टि नहीं। नवम विज्ञान विमलविज्ञान है, जो तथतास्वभाव है। तथता का तात्पर्य विषय और विषयी दोनों से है। इसमें दो अर्थ सम्मिलित है, एक आलम्ब्य विषयतथता है, जिसे धर्मता, तत्त्व या सम्यगन्त (बुद्धबीज) भी कहते हैं, दूसरा आलम्बक तथता है, जिसे विमलविज्ञान, आदिवित् आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

तृतीय पक्ष–यह आर्यलङ्कावतार आदि सूत्रों के आधार पर उपस्थित किया जाता है। इसके अनुसार विज्ञानों की संख्या आठ मानी जाती है।

उपर्युक्त तीन पक्षों में से तृतीय पक्ष ही समीचीन है। दो विज्ञान मानने वाले प्रथम पक्ष का पृथक् खण्डन आवश्यक नहीं है, क्योंकि उन दोनों में एक जो धर्मताचित्त है, जो विचार करने पर द्वितीय पक्ष के विमलचित्त से भिन्न नहीं है। अतः विमलविज्ञान के खण्डन से उस का भी खण्डन हो जाता है।अतः

विमलविज्ञान माननेवाले आचार्य परमार्थ के द्वितीय पक्ष का खण्डन किया जा रहा है :

आठ विज्ञानों से अतिरिक्त यदि नवम विज्ञान का अस्तित्व स्वीकार किया जाएगा तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि संसार में नित्य वस्तु भी होती है, क्योंकि नवम (विमल) विज्ञान परमार्थ के अनुसार तथतास्वभाव होने के नाते नित्य भी होता है और सालम्बन होने के नाते उसका वस्तु होना भी आवश्यक है । इस तरह विमलविज्ञान संस्कृत और असंस्कृत दोनों पदार्थों का एक सम्मिलित रूप होगा, जो युक्ति और न्याय दोनों से सर्वथा विपरीत है । चाहे विज्ञानवाद हो या माध्यमिक नित्य विज्ञान कहीं भी नहीं माना जाता । जो लोग शून्यता या परमार्थ सत्य को चैतन्य मानते हैं, उन्हीं पर यह दोष लागू होगा । विज्ञानवाद के प्रामाणिक शास्त्रों का सम्यग् अध्ययन न होने के कारण विज्ञानवाद के मन्तव्यों के बारे में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ आजकल फैली हुई हैं । कुछ लोग कहते हैं कि विज्ञानवाद के अनुसार रूप, शब्द आदि धर्मों का अस्तित्व नहीं है । सर्वत्र विज्ञान ही विज्ञान है । तथा विज्ञान ही परमार्थ सत्य है—इत्यादि । इस तरह की बातें आर्य असङ्ग आदि विज्ञानवादी आचार्यों के शास्त्रों में कहीं भी उपलब्ध नहीं होतीं, अपि तु इनसे विपरीत बातें उपलब्ध होती हैं, जिनका थोड़ा-बहुत परिचय हमने पहले यत्र तत्र यथामति दिया है ।

दूसरे ही पक्ष में जो सप्तम विज्ञान को 'आदानविज्ञान' संज्ञा प्रदान की गई है, वह भी किसी शास्त्र में उपलब्ध नहीं होती । इस तरह नौ विज्ञान मानना आर्य मैत्रेयनाथ, असङ्ग, वसुबन्धु, स्थिरमति आदि प्रामाणिक विद्वानों के अभिप्राय से सर्वथा विपरीत है, क्योंकि उनके ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख नहीं है ।

(ख) एक विज्ञान माननेवालों का खण्डन—एक ही विज्ञान की सत्ता माननेवाले कुछ आचार्य थे, जो ब्राह्मणवर्ग और द्वादशायतनसूत्र के आधार पर एक ही विज्ञान की सत्ता स्थापित करते थे, तथा हि :

दूरङ्गमं एकचरं असरीरं गुहासयं ।
ये चित्तं सञ्ञमेस्सन्ति मोक्खन्ति मारबन्धना ॥
(धम्मपद, चित्तवग्ग, का० ५)

द्वादशायतनसूत्र में भी उक्त है कि छहविज्ञान एक मनायतन है । उनका कहना है कि इन वचनों के द्वारा भगवान् ने एक ही चित्त दिखलाया है । फलतः समस्त चित्त एक ही मूलविज्ञान के भेद हैं । एक ही मनोविज्ञान के पृथक्-पृथक् इन्द्रिय द्वारों से प्रवृत्त होने के कारण भिन्न-भिन्न नाम पड़ जाते हैं । जैसे अनेक छिद्रों से युक्त घर में रखे हुए दीपक का प्रकाश छिद्रों की स्थिति और आकार के अनुसार नाना रूपों में निकलता हुआ दिखलाई पड़ता है, फिर भी उस घर में दीपक तो एक ही होता है, उसी प्रकार विज्ञान भी एक ही होता है । विज्ञान के एक होने पर भी उसके दो अंश होते हैं । एक वह, जिसमें विषयमात्र का प्रतिभास होता है और जिसमें कल्पनांश नहीं होता । दूसरा वह, जिसके द्वारा प्रतिभासित विषय का अध्यवसाय होता है, यह सविकल्पक होता है । फलतः एक विज्ञान मानने पर भी हमारे मत में विज्ञान के केवल निर्विकल्पक ही होने का दोष नहीं होता ।

सिद्धान्त पक्ष—आपने जिन आगमों का उद्धरण किया है, उन से एक विज्ञान की सिद्धि नहीं होती । ब्राह्मणवर्ग में चित्त को जो 'एकचर' कहा गया है, उसका अर्थ है—श्रुतमय अधिगम से लेकर बुद्धत्व प्राप्ति तक के सभी दर्शन और भावना आदि मार्ग मनोविज्ञान द्वारा ही निष्पन्न होते हैं । इन्द्रियविज्ञानों के अर्थों (विषयों) में भी मनोविज्ञान प्रवृत्त होता है तथा वह इन्द्रियविज्ञानों का हेतु भी होता है । यही कारण है कि मनोविज्ञान को अनेक स्थलों में प्रधान, शासक या श्रेष्ठ निर्दिष्ट किया गया है । द्वादशायतनसूत्र का अभिप्राय भी वैसा नहीं है, जैसा आपने समझा है । उस सूत्र का वास्तविक अर्थ यह है कि जब अष्टादश धातुओं का बारह आयतनों में विभाजन किया जाता है, तब सभी छह विज्ञान मन आयतन में संगृहीत होते हैं । रूप आदि छह विषय-आयतन तथा चक्षुर्विज्ञान से मनोविज्ञान पर्यन्त छह विज्ञान विषयी-आयतन इस तरह बारह आयतन होते हैं । एक बात और ध्यान देने योग्य है कि मन और मनोविज्ञान में अन्तर है । मन तो सभी चित्तों को कह सकते हैं, किन्तु मनोविज्ञान केवल छठवें और सातवें विज्ञान एवं उनके परिवार का नाम है ।

युक्ति-विरोध—यदि समस्त विज्ञान द्रव्यतः एक हैं तो इन्द्रियविज्ञानों द्वारा भी परोक्ष विषयों का अनुमान होना चाहिए तथा उनके द्वारा अतीत, अनागत विषयों का भी ग्रहण होना चाहिए । अपि च, समस्त ज्ञान सर्वथा निर्विकल्पक हो जाएंगे, क्योंकि इन्द्रिय विज्ञान सदा निर्विकल्पक ही होते हैं और

उनसे द्रव्यतः भिन्न अन्य कोई विज्ञान नहीं है । अथवा—समस्त ज्ञान सविकल्पक हो जाएंगे, क्योंकि मनोविज्ञान सविकल्पक है और उससे भिन्न किसी अन्य ज्ञान का अस्तित्व नहीं है ।

एक ही विज्ञान के सविकल्पक और निर्विकल्पक ये दो अंश भी सम्भव नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु के परस्पर विरोधी दो स्वभाव नहीं हो सकते । यदि दो स्वभाव माने जाएंगे, तो वस्तु भी दो हो जाएंगी, क्योंकि स्वभाव ही वस्तुत्व का नियामक है । फलतः विज्ञान के एकत्व का सिद्धान्त नष्ट हो जाएगा । यदि विज्ञान एक माना जाएगा तो उसके दो स्वभाव या दो अंश होना अयुक्त होगा । फलतः एक विज्ञान मानने में न कोई आगम प्रमाण है और न युक्ति प्रमाण ।

दो सत्य

सत्य दो हैं, यथा—संवृति सत्य और परमार्थ सत्य । तीन लक्षणों में से परतन्त्रलक्षण संवृतिसत्य है । कहने का आशय यह है कि जितनी भी वस्तु हैं, अर्थक्रियासमर्थ हैं, हेतु हैं, कार्य हैं, अनित्य हैं, संस्कृत हैं, वे सब संवृति सत्य हैं ।

परिकल्पित लक्षण दो प्रकार से समझा जा सकता है, जैसे—आकाश आदि यद्यपि परिकल्पित लक्षण हैं, फिर भी उनकी सत्ता होती है । बाह्य अर्थ, आत्मा, शशशृङ्ग आदि ऐसे परिकल्पित हैं, जिनकी बिलकुल भी सत्ता नहीं हैं, वे सर्वथा अलीक हैं । आकाश आदि संवृतिसत्य हैं । बाह्य अर्थ, आत्मा एवं शशशृङ्ग आदि संवृतिसत्य भी नहीं है । इस तरह परिकल्पित का एक अंश और परतन्त्रलक्षण संवृतिसत्य हैं ।

परिनिष्पन्न लक्षण एकान्त परमार्थ सत्य है । वह स्वलक्षण माना जाता है । इन आगमानुयायी विज्ञानवादियों के मत में स्वलक्षण का बाह्य वस्तु होना आवश्यक नहीं है । वह प्रत्यक्ष का विषय है, अतः स्वलक्षण है । अर्थात् स्वलक्षण होने के लिए उसे प्रत्यक्ष का विषय होना चाहिए ।

आवरणद्वय—आवरण दो होते हैं, यथा—क्लेशावरण और ज्ञेयावरण । अविद्या (मोह), राग, द्वेष आदि क्लेश 'क्लेशावरण' कहे जाते हैं । इनके द्वारा

मोक्ष का आवरण किया जाता है । क्लेशों से अतिरिक्त बाह्यार्थदृष्टि (बाह्यार्थों को सत् समझनेवाली दृष्टि) या ग्राह्य—ग्राहक द्वय ग्राहक दृष्टि अर्थात् जो दृष्टि ग्राह्य और ग्राहक को पृथक् और सत् ग्रहण करती है, 'ज्ञेयावरण' है । यह दृष्टि क्लिष्ट अविद्या नहीं है । इसे अक्लिष्ट अविद्या कहा जाता है ।

आत्मदृष्टिद्वय—आत्मदृष्टि दो प्रकार की है, यथा—पुद्गलात्मदृष्टि एवं धर्मात्मदृष्टि । पुद्गल—आत्मा को ग्रहण करने वाला दृष्टि नामक चैतसिक पुद्गलात्मदृष्टि कही जाती है । इसके द्वारा एक ऐसे आत्मा का अभिनिवेश (ग्रहण) किया जाता है, जो पाँच स्कन्धों से भिन्न, एक, नित्य, शाश्वत, कर्मों का कर्ता, फलों का भोक्ता तथा बन्ध—मोक्ष का आश्रय है । तथा बाह्य अर्थ सत् हैं तथा ग्राह्य और ग्राहक की पृथक् द्रव्यसत्ता है, इस प्रकार समझने वाली दृष्टि धर्मात्मदृष्टि है ।

नैरात्म्यद्वय—पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य—ये दो नैरात्म्य होते हैं । ऊपर जिस प्रकार के पुद्गल का निरूपण किया गया है, उसका अभाव पुद्गलनैरात्म्य है तथा बाह्यार्थ से शून्यता या ग्राह्य—ग्राहकद्वय से रहितता धर्मनैरात्म्य है ।

यह विशेषतः ज्ञातव्य है कि यद्यपि पुद्गल नित्य, शाश्वत आदि आत्मा से रहित है, फिर भी पुद्गल का अभाव नहीं है । वह आधार है, जिसमें आत्मा से रहितता होती है । विज्ञान के गर्भ में उसका अस्तित्व होता है । इसी तरह घट, पट आदि वस्तुएं बाह्यार्थता से शून्य हैं, किन्तु उनका सर्वथा अभाव नहीं हैं । वे परतन्त्रलक्षण हैं । बाह्यार्थता से शून्य होने पर भी वे ज्ञानात्मक द्रव्य के रूप में सत् होते हैं ।

आगमानुयायी विज्ञानवाद के अनुसार पुद्गलनैरात्म्य का स्वरूप वैभाषिक, सौत्रान्तिक दर्शनों में मान्य स्वरूप से भिन्न नहीं है । पुद्गलात्मदृष्टि का जब अशेष प्रहाण हो जाता है, तब पुद्गल अर्हत् हो जाता है, किन्तु उसमें अभी भी धर्मात्मदृष्टि के विद्यमान होने से वह सर्वज्ञ नहीं होता ।

कार्यकारणव्यवस्था

इनके मत में समकालिक कार्यकारणभाव मान्य है । जैसे क्लिष्ट मनोविज्ञान और उसके परिवार में होनेवाले सम्प्रयुक्त चैतसिक परस्पर कार्यकारण के रूप में अवस्थित होते हैं । इसी प्रकार बाह्य धर्मों में भी समकालिक कार्यकारणभाव माना जाता है ।

प्रमाणव्यवस्था

प्रमाणद्वय—प्रमाण दो होते हैं, यथा—प्रत्यक्ष और अनुमान । इनके प्रत्यक्ष का लक्षण सौत्रान्तिकों से नितान्त भिन्न है । कल्पनापोढ एवं स्थिरवासना से उत्पन्न ज्ञान होना प्रत्यक्ष का लक्षण है । यहां इस लक्षण में अभ्रान्त शब्द का निवेश नहीं किया गया है, क्योंकि इनके मत में पृथग्जनों के चक्षुर्विज्ञान आदि सभी ज्ञान भ्रान्त ही हैं, क्योंकि इनमें बाह्यार्थ का प्रतिभास होता है । जब पृथग्जनों के सभी इन्द्रियज ज्ञान भ्रान्त होते हैं तब पीतशङ्ख आदि भ्रान्त ज्ञानों से भेद करने के लिए लक्षण में 'स्थिरवासनोत्पन्न' यह विशेषण दिया गया है । आशय यह है कि पीत शंखज्ञान भी यद्यपि कल्पनापोढ है, फिर भी वह क्योंकि स्थिरवासना से उत्पन्न नहीं है, इसलिए प्रत्यक्ष नहीं है । अनादि काल से कल्पनाओं द्वारा प्रवृत्त वासना 'स्थिरवासना' कहलाती है । पीतशंखज्ञान इस प्रकार की वासना से उत्पन्न नहीं है, अपितु तात्कालिक इन्द्रियविकार से उत्पन्न है । प्रत्यक्ष—चतुर्विध है, यथा—इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष एवं योगी—प्रत्यक्ष । इन प्रत्यक्षों का लक्षण सौत्रान्तिकों की भाँति है । अनुमान का लक्षण, स्वरूप, भेद आदि भी सौत्रान्तिकों के समान ही हैं ।

मार्ग—फलव्यवस्था

मार्ग व्यवस्था—मार्ग के तीन प्रकार हैं, यथा—श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान एवं महायान (या बोधिसत्त्वयान) ।

श्रावकयान—इसमें सम्भारमार्ग, प्रयोगमार्ग, दर्शनमार्ग, भावनामार्ग एवं अशैक्षमार्ग—ये पाँचों मार्ग होते हैं । इनकी भावना का मुख्य विषय (अनुभाव्य) पुद्गलनैरात्म्यमात्र होता है । इसलिए इनकी फलावस्था में भी क्लेशक्षयमात्र ही

प्राप्त होता है । अर्थात् इनके मत में निर्वाण क्लेशक्षयमात्र या क्लेशाभावमात्र ही होता है । जब श्रावक अर्हत्त्व पद प्राप्त करता है तब पहले सोपधिशेष निर्वाण प्राप्त करता है । उस अर्हत् को भी सोपधिशेष अर्हत् कहते हैं । जब अर्हत् का परिनिर्वाण होता है, तब उसकी ज्ञानधारा और जडधारा दोनों निरुद्ध हो जाती हैं । इसे निरुपधिशेष निर्वाण कहते हैं । यदि परिनिर्वाण के बाद भी चित्तसन्तति अवशिष्ट रहेगी तो श्रावकयान की दृष्टि से यह दोष होगा कि उसे अवश्य जन्म ग्रहण करना होगा । इसलिए उस (निरुपधिशेष) अवस्था में सभी प्रपञ्चों से शान्त, जिसमें सभी संस्कारों की प्रवृत्ति निरुद्ध हो गई है, ऐसी अनिमित्तधातु निर्वाण ही विद्यमान होती है । उस अनिमित्त धातु (तथता) में वेदनात्मक सुख नहीं है, किन्तु दुःखों से अत्यन्त वियोग रूपी शान्त सुख होता है । वह निर्वाण प्रसज्यप्रतिषेध रूप भी नहीं है तथा द्रव्यसत् भी नहीं है । प्रसज्यप्रतिषेध के निषेध से सौत्रान्तिक प्रस्थान का तथा द्रव्यसत्ता के निषेध से वैभाषिक प्रस्थान का निराकरण किया गया है । वह अवस्था नित्य, अचल एवं अक्षर है । विज्ञानवाद के अनुसार निरुपधिशेष निर्वाण प्राप्त पुद्गल कभी भी महायान में प्रवेश नहीं करेगा ।

प्रत्येकबुद्धयान—इस यान में भी पूर्वोक्त सम्भारमार्ग से लेकर अशैक्षमार्ग तक पाँचों मार्ग होते हैं, इनकी भावना का विषय (अनुभाव्य) भी मुख्यतः पुद्गलनैरात्म्य ही होता है । इस यान का श्रावकयान से भेद पुण्यसंचय की दृष्टि से होता है, मुख्यतः ज्ञान की दृष्टि से नहीं । तीक्ष्णेन्द्रिय श्रावक तीन जन्मों में अर्हत् पद प्राप्त कर लेता है । वह इन तीन जन्मों में ही पुण्यसंचय कर पाता है, जब कि प्रत्येकबुद्ध सौ महाकल्पों तक पुण्यसंचय करने के अनन्तर अर्हत् होता है । वह अन्तिम जन्म में उपदेशक या मार्गदर्शक की विना अपेक्षा किये बोधि का लाभ करता है । इसमें भी सोपधिशेष और निरुपधिशेष भेद श्रावकयान की भाँति ही होते हैं । श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान दोनों के अनुयायी धर्मनैरात्म्य बिलकुल नहीं जानते ।

महायान या बोधिसत्त्वयान—इस यान में भी सम्भारमार्ग से लेकर अशैक्षमार्ग तक पाँचों मार्ग होते हैं । इस यान की भावना का मुख्य विषय (अनुभाव्य) धर्मनैरात्म्य होता है । दर्शनमार्ग से लेकर सभी समाहित ज्ञानों का आलम्बन धर्मनैरात्म्य ही होता है । जैसे सौत्रान्तिक मत में लोकोत्तर मार्ग का साक्षात् विषय तो पञ्चस्कन्धात्मक संस्कृत पुद्गल होता है, और उस प्रत्यक्ष के

बल से उसमें आत्मशून्यता का स्पष्ट अवबोध हो जाता है, वैसे यहां नहीं होता, अपितु महायानी पुद्गल को धर्मनैरात्म्य का प्रत्यक्ष में साक्षात् प्रतिभास होता है । दर्शन मार्ग के अनन्तर भावनामार्ग की अवस्था में दस भूमियाँ होती हैं । पारमितायान (महायान) के अनुसार एक पुद्गल को बोधिसत्त्वसम्भारमार्ग से दर्शनमार्ग तक प्राप्त करने में एक असंख्येय महाकल्प लगता है । दर्शनमार्ग से लेकर सप्तमभूमि तक एक असंख्येय महाकल्प लगता है । अष्टम भूमि से सर्वज्ञ होने तक या दशमभूमि तक एक असंख्येय महाकल्प लगता है । इस प्रकार तीन असंख्येय महाकल्पों में भावना एवं पुण्यसंचय करने पर बुद्धत्व की प्राप्ति होती है । ये तीन असंख्येय महाकल्प भी तीक्ष्ण बुद्धि एवं वीर्य वाले बोधिसत्त्वों की दृष्टि से हैं । अन्य मन्दवीर्य बोधिसत्त्वों को बुद्धत्व प्राप्ति में इससे अधिक समय भी लग सकता है ।

फलव्यवस्था—दशम भूमि में स्थित बोधिसत्त्व अन्तिम जन्म अकनिष्ठ भूमि में ग्रहण करता है । उक्त भूमि में बोधिसत्त्व ने यद्यपि अभी बुद्धत्व प्राप्त नहीं किया है, अभी वह बोधिसत्त्व ही है, तथापि वह बत्तीस लक्षणों और अस्सी अनुव्यञ्जनों से विभूषित होकर सम्भोगकाय की तरह उत्पन्न होता है । जिस क्षण उसे बुद्धत्व प्राप्त होगा, उससे पहले वह वज्रोपम समाधि द्वारा सूक्ष्म ज्ञेयावरणों का प्रहाण करके बुद्ध होता है । जिस क्षण वह बुद्ध होगा, उस क्षण में वह सम्भोगकाय के रूप में परिणत होगा । जिस क्षण बुद्ध का सम्भोगकाय निष्पन्न होता है, उसी क्षण में इस ब्रह्माण्ड की समस्त लोकधातुओं में जितने जम्बूद्वीप हैं, सभी में एक ही काल में उतनी ही संख्या में निर्माणकाय निर्मित होते हैं । उस सम्भोगकाय और निर्माणकायों में विद्यमान सर्वज्ञ ज्ञान बुद्ध का ज्ञानधर्मकाय कहलाता है । उस ज्ञानधर्मकाय में दो शून्यताएं रहती हैं—आवरणद्वय शून्यता अर्थात् पुद्गलात्म शून्यता तथा धर्मात्मशून्यता । इन दोनों शून्यताओं को स्वभाव काय कहते हैं । इस प्रकार स्वभावकाय, ज्ञानधर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय—ये चार काय होते हैं ।

इस आगमानुयायी मत में अन्तिम रूप से तीन यानों की व्यवस्था की जाती है । ऐसा नहीं है कि अन्तिम रूप से एक ही यान (बुद्धयान) माना जाता हो, जैसा कि एकयानी बौद्ध मानते हैं । अपि तु ये लोग त्रियानवादी होते हैं, यथा—श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान और बोधिसत्त्वयान या महायान । अन्तिम यान का तात्पर्य यह है कि तीनों यानों के साधक अपने-अपने यान के अनुसार

साधना करते हुए जब अन्तिम फल प्राप्त कर लेते हैं, तब उनकी अग्रगति समाप्त हो जाती है । ऐसा नहीं है कि उनका अन्य यान में प्रवेश हो जाता हो । अतः पूर्वोक्त तीनों यानों को अन्तिम यान कहा गया है । इतना अवश्य है कि श्रावकयानी या प्रत्येकबुद्धयानी पुद्गल चाहें तो निरुपधिशेष निर्वाण से पहले अर्थात् सोपधिशेष अवस्था में महायान में प्रविष्ट हो सकते हैं । किन्तु निरुपधिशेष निर्वाण प्राप्त हो जाने पर यह असम्भव है, क्योंकि उस अवस्था में पहुँचने पर पुद्गल की गति समाप्त हो जाती है ।

(२) युक्त्यनुयायी विज्ञानवाद

दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों में ऐसे अनेक दार्शनिक मुद्दे हैं, जिन पर उनका ऐकमत्य है। फिर भी ऐसे अनेक मुद्दे हैं, जिन पर उनमें मतभेद हैं। यदि ऐसा न होता तो युक्त्यनुयायियों का पृथक् प्रस्थान विकसित न होता। हमने ऊपर आगमानुयायी विज्ञानवाद का यथासम्भव प्रतिपादन किया है। अतः जिन विषयों में दोनों का समान दृष्टिकोण है, हम उनकी चर्चा नहीं करेंगे, अन्यथा पुनरुक्ति दोष होगा और नाहक विस्तार होगा। अब हम केवल उन्हीं विषयों की चर्चा करने जा रहे हैं, जिनमें मतभेद के कारण युक्त्यनुयायी आचार्य आगमानुयायियों से पृथक् होते हैं।

(१) इनके मत में भी सभी पदार्थों के तीन स्वभाव माने जाते हैं, यथा—परिकल्पितलक्षण, परतन्त्रलक्षण और परिनिष्पन्न लक्षण। इनके स्वरूप के विषय में दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों में प्रायः समान मति है।

(२) ये (युक्त्यनुयायी) विज्ञानों की संख्या छह ही मानते हैं, आठ नहीं, जैसे आगमानुयायी विज्ञानवादी मानते हैं। ये आलयविज्ञान की सत्ता का खण्डन करते हैं। आलयविज्ञान खण्डित होने पर क्लिष्ट मनोविज्ञान भी अपने—आप खण्डित हो जाता है। क्योंकि आलयविज्ञान का ही क्लिष्ट मनोविज्ञान आत्मत्वेन ग्रहण करता है। फलतः चक्षुर्विज्ञान से लेकर मनोविज्ञान तक छह विज्ञान ही इनके मत में मान्य हैं।

(३) आलयविज्ञान नहीं होने पर वासनाओं का आधार कौन होगा ? इस विषय में इनका कहना है कि छठवां मनोविज्ञान ही वासना का आधार होगा। वह यद्यपि कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत तीनों प्रकार का होता है, तथापि वासना का आधार हो सकता है। अर्थात् उसमें वासना स्थापित (आहित) हो सकती है।

(४) **आलयविज्ञान का निराकरण**—इनका कहना है कि छह विज्ञानों से अतिरिक्त आलयविज्ञान नामक कोई विज्ञान होगा तो वह आत्मा ही हो जाएगा। पांच स्कन्धों से भिन्न, संसार और मोक्ष के आधार के रूप में आलयविज्ञान को मानना आत्मा को मानने की तरह ही है। विज्ञान होने के लिए

उसका कोई स्पष्ट आकार या आलम्बन होना चाहिए, किन्तु उसका न कोई आकार उपलब्ध है और न आलम्बन तथा न वह किसी विषय का निश्चय ही कर पाता है, अतः उसे विज्ञान मानना ही अयुक्तिसंगत है। अपि च, अनादिकाल से प्रवृत्त उस आलयविज्ञान में न तो किसी तरह का कोई स्वरूप—परिवर्तन ही परिलक्षित होता है, अतः उसके नित्य होने का प्रसङ्ग होगा। ज्ञान का नित्य होना सम्भव नहीं, ऐसा होने पर अनेक दोष होंगे। ज्ञान को अवश्य ही अनित्य होना चाहिए—इत्यादि अनेक युक्तियों द्वारा वे आलयविज्ञान का खण्डन करते हैं।

(५) **बाह्यार्थ निराकरण**—घट, पट आदि सभी वस्तुएं ज्ञानात्मक या बुद्धिद्रव्यात्मक हैं, बाह्यार्थ बिलकुल नहीं हैं। यह दोनों मानते हैं, किन्तु उनकी बुद्धिद्रव्यात्मकता सिद्ध करने के लिए विशेष रूप से ये सहोपलम्भनियम का हेतु के रूप में प्रयोग करते हैं। तथा हि—नील और नीलज्ञ बुद्धि (पक्ष), भिन्न द्रव्य नहीं है (साध्य), सहोपलम्भ होने से (हेतु), यथा—चन्द्रद्रव्य और उसका ज्ञान (सपक्ष दृष्टान्त)। नील और पीत इसका विपक्ष दृष्टान्त है।

इस सहोपलम्भ हेतु की पक्षधर्मता (अर्थात् नील और नीलज्ञबुद्धि पक्ष में रहना) प्रत्यक्षतः सिद्ध है। अर्थात् नील और नीलज्ञ बुद्धि का युगपद् (एक साथ) उपलब्ध होना (सहोपलम्भ) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है। जब नीलबुद्धि होती है, तब नील भी होता है और जब नील होता है, तब नीलबुद्धि भी होती है—इस प्रकार का दोनों में रहनेवाला सम्बन्ध स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात होता है।

जो द्रव्य भिन्न—भिन्न होते हैं, उनकी सर्वदा युगपद् उपलब्धि निश्चित नहीं होती। जैसे नील और पीत दोनों द्रव्यतः भिन्न—भिन्न हैं, अतः उन दोनों का युगपद् उपलब्ध होना निश्चित नहीं है। किन्तु नील और नीलबुद्धि का युगपद् उपलम्भ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा निश्चित है। अतः हेतु और साध्य की व्याप्ति निश्चित होती है। यह सहोपलम्भ नियम दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों का बाह्यार्थ का निरास करने के लिए प्रधान हेतु है।

बाह्यार्थ का निराकरण करने के लिए अन्य युक्तियों का भी प्रयोग किया जाता है, यथा—(१) एक द्रव (तरल) पदार्थ को जब देव, मनुष्य और प्रेत एक साथ देखते हैं तो उनमें तीन प्रकार की बुद्धियाँ उत्पन्न होती है। अर्थात् देव उसे

(तरल पदार्थ को) अमृत के रूप में ग्रहण करता है, मनुष्य जल के रूप में तथा प्रेत उसे पूय या रुधिर के रूप में ग्रहण करता है। तीनों की वे तीन प्रकार की बुद्धियाँ मिथ्या हैं—यह नहीं कहा जा सकता। उनके (बुद्धियों के) यथार्थ ज्ञान होने से उनके विषय भी तीन प्रकार के होते हैं। एक ही तरल विषय एक ही काल में तीनों (अमृत, जल और पूय-रुधिर) नहीं हो सकता। अतः यह सिद्ध होता है कि वे तीनों विषय उन उन बुद्धियों के ही अंश हैं। यदि वे बाह्यार्थतः सत्य होंगे तो देव को भी पूय-रुधिर दिखलाई पड़ना चाहिए और प्रेत को भी अमृत दिखलाई पड़ना चाहिए। अतः वे बाह्यार्थतः सत्य नहीं हैं, अपितु ज्ञानांश के रूप में सत्य हैं।

अपि च, जब किसी एक व्यक्ति को शत्रु और मित्र—इन दो व्यक्तियों द्वारा देखा जाता है तो वह दो प्रकार से दिखाई देता है, यथा—शत्रु को वह कुत्सित रूप में तथा मित्र को मनोज्ञ रूप में दिखाई देता है। किन्तु एक व्यक्ति एक साथ कुत्सित और मनोज्ञ दोनों नहीं हो सकता। अतः सिद्ध होता है कि विषय की बाह्यार्थतः अर्थात् ज्ञान से निरपेक्ष सत्ता नहीं होती, अपि तु ज्ञानसापेक्ष, ज्ञानांश के रूप में या ज्ञान के गर्भ में सत्ता होती है।

बाह्यार्थ के निरास के लिए अन्य युक्तियाँ

(१) नाम-सङ्केत से पूर्व बुद्धि का उत्पाद होगा—घट वस्तु घटशब्द का अभिधेय है, इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं, किन्तु घट में स्थित शब्दाभिधेयता वस्तुसत् नहीं, घट वस्तुसत् है। घट अभिधेयत्व को स्वलक्षणसत् (वस्तुसत्) मानना बाह्यार्थ मानना है। अभिधेयस्वलक्षणता और बाह्यार्थता पर्यायवाची हैं। यदि घटशब्द का अभिधेयत्व वस्तुसत् होगा तो उसे कम्बुग्रीवादिमान् पिण्ड (वस्तु) का स्वभाव होना चाहिए। फलतः उसे नाम एवं कल्पना से अनपेक्ष होना चाहिए। अर्थात् जैसे अभिधेयत्व नाम और कल्पना-सापेक्ष होता है, वैसा नहीं होना चाहिए। ऐसी स्थिति में कम्बुग्रीवादिमान् पिण्ड में 'यह घट है'—इस प्रकार के संकेतग्रह से पूर्व भी 'यह घट है'—इस प्रकार की बुद्धि का उत्पाद होना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं, अपितु 'यह घट है' ऐसी बुद्धि तभी उत्पन्न होती है, जब कम्बुग्रीवादिमान् पिण्ड में 'यह घट शब्द का अभिधेय है'—इस प्रकार पहले से ही संकेतग्रह हुआ रहता है। फलतः यह सिद्ध होता है कि घट का घटशब्द का अभिधेय होना सर्वथा सङ्केत पर निर्भर करता है, न कि वस्तुवशात्

वह घटशब्द का अभिधेय है। यदि वस्तुवशात् अभिधेय होगा तो घटबुद्धि का उत्पाद नाम-सङ्केत की विना अपेक्षा किये नाम-सङ्केत से पूर्व भी होने लगेगा।

(२) एक वस्तु में अनेक वस्तुओं की प्रवृत्ति होगी—यदि शब्दाभिधेय की वस्तुवशात् प्रवृत्ति होगी तो एक ही वस्तु में अनेक वस्तु होने का प्रसङ्ग होगा। ज्ञात है कि एक ही चन्द्र के शशी, हिमांशु, राकेश आदि या एक ही इन्द्र के शतक्रतु, पुरन्दर, गोत्रभिद्, सहस्राक्ष आदि अनेक नाम-पर्याय होते हैं। यदि चन्द्र या इन्द्र का उन नामों का अभिधेय होना वस्तुवशात् होगा तो उन नामों से जो बुद्धियाँ पैदा होती है और उन बुद्धियों में जैसा प्रतिभास होता है, वैसा स्वरूप चन्द्र या इन्द्र में भी विद्यमान होना चाहिए। शशी-बुद्धि शशी-आकार वाली है, हिमांशु आकारवाली नहीं है। इसी तरह शतक्रतु-बुद्धि शतक्रतु-आकारवाली है, सहस्राक्ष-आकारवाली नहीं। किन्तु इन्द्र या चन्द्र का उन-उन नामसंकेतों का अभिधेय होना वस्तु-वशात् स्वीकार किया जाएगा तो एक ही चन्द्र या इन्द्र वस्तु में अनेक वस्तु होने का प्रसङ्ग होगा।

(३) अनेक वस्तुएं एक नाम से व्यवहृत न हो सकेंगी—कभी-कभी दो व्यक्तियों के लिए एक ही नाम प्रवृत्त होता है। जैसे किन्हीं दो व्यक्तियों को 'उपगुप्त' कहा जाता है। यदि उन दोनों व्यक्तियों का 'उपगुप्त' नाम का अभिधेय होना वस्तुवशात् होगा तो वे दोनों व्यक्ति एक पुरुष हो जाएंगे। क्योंकि वे दोनों उपगुप्त-बुद्धि में भिन्न-भिन्न प्रतिभासित नहीं होते। किन्तु वे दोनों एक नहीं है, अतः वस्तु का शब्दाभिधेय होना वस्तुवशात् नहीं होता।

मार्ग एवं फल व्यवस्था

मार्ग के आधार गोत्र का विचार—सभी सत्त्वों की सन्तान में निश्चित रूप से बुद्धगोत्र होता है। चित्त की स्वभावतः निर्मलता ही 'बुद्धगोत्र' है। पृथग्जन एवं शैक्ष की अवस्था में यद्यपि गोत्र आगन्तुक मलों से मलिन रहता है, फिर भी प्रकृति (स्वभाव) से वह निर्मल ही होता है। यदि वह स्वभावतः मलिन होगा तो प्रतिपक्ष (मार्गों) का अभ्यास (भावना) करने पर भी वह निर्मल न हो सकेगा, जैसे कोयले को कितना भी साफ किया जाए, धोया जाए फिर भी वह सफेद नहीं होता। वह गोत्र फलावस्था में बुद्ध के सर्वज्ञ ज्ञान या ज्ञानधर्मकाय के रूप में परिणत हो जाता है। यही गोत्र मार्ग का आश्रय है।

इनके मत में भी तीन यान होते हैं, यथा—श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान एवं महायान (बोधिसत्त्वयान) । इनका स्वरूप आगमानुयायी विज्ञानवादियों की ही तरह है । किन्तु इनकी एक विशेषता है । ये एकयानवादी होते हैं । अर्थात् तीनों यानों के अनुसार साधना करते हुए जब साधक अन्तिम फल प्राप्त कर लेता है तो गन्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती, अपि तु अभी गन्तव्य अवशिष्ट रहता है । आशय यह है कि श्रावकयानी या प्रत्येकबुद्धयानी पुद्गल जब निरुपधिशेषनिर्वाण प्राप्त कर लेता है, तो उस पुद्गल के सास्रव स्कन्धों की धारा यद्यपि समाप्त हो जाती है, किन्तु धारा समाप्त नहीं होती, अपि तु अनास्रव स्कन्धों की धारा प्रवृत्त होते रहती है । अर्थात् चित्तधारा कभी समाप्त नहीं होती । कालान्तर में बुद्ध की महाकरुणा के बल से साधक का महायान में प्रवेश होता है और अन्त में बुद्धत्व का लाभ होता है । इस तरह इनके मत में एक ही यान अर्थात् महायान या बुद्धयान होता है । क्योंकि परवर्ती ज्ञान का उपादान पूर्ववर्ती ज्ञान होता है, अतः ज्ञानधारा के समाप्त होने का प्रश्न ही नहीं है । इसी के आधार पर ये लोग पुनर्जन्म भी सिद्ध करते हैं ।

पुनर्जन्म व्यवस्था—ज्ञान का उपादान कारण अवश्य पूर्ववर्ती ज्ञान ही होता है । ऐसा नहीं हो सकता कि ज्ञान का उपादान जड पदार्थ हो । अर्थात् जड आदि पदार्थ ज्ञान के रूप में परिणत नहीं होते । यदि जड पदार्थ ज्ञान के कारण होंगे तो चार महाभूतों से भी ज्ञान उत्पन्न होने लगेगा । यदि महाभूत ज्ञान के कारण होंगे तो पृथ्वी आदि सविज्ञानक (सजीव) होने लगेंगे और मृतशरीर भी ज्ञान से युक्त होने लगेगा । प्रकाश और वित्ति ज्ञान का लक्षण है । सूर्य में प्रकाश है, वित्ति नहीं; पुद्गल में वित्ति है, किन्तु प्रकाश नहीं । जिसमें वित्ति और प्रकाश दोनों होते हैं, वह धर्म 'ज्ञान' कहलाता है । फैलना, सिकुड़ना आदि क्रियाएं भी ज्ञान के लक्षण नहीं है । ये क्रियाएं शीत, ऊष्मा एवं वायु के संघात आदि से निष्पन्न होती हैं । फलतः महाभूतों में ज्ञान नहीं होता । अन्यथा शिक्षा देने पर वृक्षों आदि को भी भाषाज्ञान हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता । अतः सिद्ध होता है कि पूर्ववर्ती ज्ञान परवर्ती ज्ञान का उपादान कारण होता है—यह व्याप्ति निश्चित होती है । माता के गर्भ से उत्पन्न शिशुओं की बुद्धियों में तीक्ष्णता, मन्दता आदि भेद होते हैं । ये भेद किसी पूर्ववर्ती अभ्यास से ही हो सकते हैं, अन्यथा महाभूत तो सबमें समान ही होते हैं । विश्व के सभी कर्म अभ्यास से ही होते हैं । उत्पन्न होते ही शिशु का हंसना, रोना, स्तनपान करना आदि भी

पूर्वाभ्यास से ही होते हैं । ये पूर्वाभ्यास पूर्व जन्म मानने पर ही हो सकते हैं । अतः पूर्वजन्म सिद्ध होता है ।

युक्ति प्रयोग

(१) अभी उत्पन्न शिशु की बुद्धि (पक्ष), बुद्धिपूर्वगामिनी है (साध्य), बुद्धि होने से (हेतु), प्रत्युत्पन्न बुद्धि के समान (दृष्टान्त) ।

(२) अभी उत्पन्न शिशु के श्वास-प्रश्वास (पक्ष), पूर्व श्वास-प्रश्वासानुगामी हैं (साध्य), श्वास-प्रश्वास होने से (हेतु), वर्तमान श्वास-प्रश्वास के समान (दृष्टान्त) ।

(३) अभी उत्पन्न शिशु की इन्द्रियाँ (साध्य), इन्द्रिय-पूर्वगामिनी हैं (साध्य), इन्द्रिय होने से (हेतु), वर्तमान इन्द्रिय के समान (दृष्टान्त) ।

पूर्व जन्म सिद्ध हो जाने पर उन्हीं युक्तियों से अपर जन्म भी अपने-आप (स्वतः) सिद्ध हो जाता है ।

मरणकालिक अन्तिम चित्त (पक्ष), अपने से पश्चाद्वर्ती चित्त का उपादान कारण (उत्पादक) है (साध्य), चित्त होने से (हेतु), प्रत्युत्पन्न चित्त के समान (दृष्टान्त) ।

इन युक्तियों से यह सिद्ध हो जाता है कि चित्तसन्तति सर्वदा प्रवृत्त होती रहती है, कभी विच्छिन्न नहीं होती । इन युक्तियों के विस्तृत ज्ञान के लिए प्रमाणवार्तिक देखना चाहिए ।

आत्मदृष्टि की संसारमूलकता—चित्त में विद्यमान दोषों का प्रहाण किया जा सकता है कि नहीं ? जब विचार किया जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनका प्रहाण किया जा सकता है, क्योंकि वे राग, अविद्या आदि दोष किन्हीं हेतुओं से उत्पन्न होते हैं, अतः अनित्य एवं आगन्तुक हैं । जब यह विचार प्रवृत्त होता है कि ये राग, द्वेष आदि दोष और दुःख किन हेतुओं से उत्पन्न होते हैं तो यह निश्चित होता है कि इन सारे दोषों और दुःखों का मूल आत्मदृष्टि है । जब हम इस विषय पर विचार करते हैं कि यह आत्मदृष्टि सम्यग्ज्ञान है कि नहीं

तो यह सोचना पड़ता है कि आत्मदृष्टि का विषय क्या है । यदि कहा जाए कि आत्मदृष्टि का विषय 'आत्मा' है, तब विचार करना होता है कि आत्मा की सत्ता है या नहीं ? नाना युक्तियों से चिन्तन करने पर यह सिद्ध होता है कि आत्मा नहीं है और नैरात्म्य (निरात्मकता) ही सत्य है । फलतः आत्मदृष्टि एक प्रकार का मिथ्याज्ञान है—यह निश्चित हो जाता है ।

युक्तिप्रयोग—आत्मदृष्टि (पक्ष), अवश्य प्रहीण होगी (साध्य), क्योंकि उसका प्रबल प्रतिपक्ष विद्यमान है अर्थात् नैरात्म्यज्ञान (=प्रज्ञा) विद्यमान है (हेतु), जैसे सूर्य रूपी प्रतिपक्ष के विद्यमान होने से अन्धकार नष्ट हो जाता है (दृष्टान्त) ।

इस युक्तिप्रयोग से मोक्ष भी सिद्ध हो जाता है । क्योंकि इससे यह सिद्ध होता है कि अविद्या, राग आदि का क्षय होता है और अविद्या, तृष्णा आदि का क्षय ही 'मोक्ष' है । महायान का उद्देश्य क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का अशेष प्रहाण कर बुद्धत्व प्राप्त करना है । इसे ही 'महामोक्ष' भी कहते हैं । बाह्यार्थ दृष्टि ही इस महामोक्ष या सर्वज्ञता की बाधक है । विज्ञप्तिमात्रता के सम्यग् ज्ञान से बाह्यार्थदृष्टि का प्रहाण होता है, अतः महामोक्ष भी सिद्ध होता है ।

युक्तिप्रयोग—बाह्यार्थदृष्टि (पक्ष), अवश्य समाप्त होगी (साध्य), मिथ्यादृष्टि होने से (हेतु), रज्जुसर्पदृष्टि के समान (दृष्टान्त) ।

इससे ज्ञेयावरण का प्रहाण होना सिद्ध होता है और ज्ञेयावरण के प्रहाण से व्यक्ति बुद्ध होता है ।

इन उपर्युक्त हेतुओं से यान एक ही है और वह महायान ही एकमात्र अन्तिम यान है, यह भी सिद्ध होता है ।

इतना ज्ञान होने पर व्यक्ति का महायान में प्रवेश होता है । इस महायान में भी सम्भारमार्ग से लेकर अशैक्षमार्ग तक पाँच मार्ग होते हैं । उनके लक्षण और स्वरूप आदि वैसे ही हैं, जैसे आगमानुयायी विज्ञानवाद के प्रतिपादन के अवसर पर पहले कहे गये हैं ।

प्रमाण और प्रमाणफल व्यवस्था

इनके मत में भी दो प्रमाण और प्रत्यक्ष के चार प्रकार वैसे ही माने जाते हैं, जैसे सौत्रान्तिक मानते हैं ।

प्रमाण—अविसंवादकता और अपूर्वगोचरता प्रमाण का लक्षण है । अर्थात् वही ज्ञान प्रमाण कहला सकता है, जिसमें यह सामर्थ्य हो कि अपने द्वारा दृष्ट वस्तु को प्राप्त करा सके तथा जो अपने बल से वस्तु को जाने, अन्य पर निर्भर होकर नहीं ।

प्रामाण्य—ज्ञान की अविसंवादकता और अपूर्वगोचरता स्वतः सिद्ध होती है या परतः (अर्थात् अन्य प्रमाणों से) ? यदि स्वतः प्रामाण्य निश्चित होता है तो किसी भी व्यक्ति को प्रमाण और अप्रमाण के विषय में कभी अज्ञान ही नहीं होगा । यदि परतः (दूसरे प्रमाण से) प्रामाण्य निश्चित होता है तो उस दूसरे प्रमाण के प्रामाण्य के लिए अन्य (तीसरे) प्रमाण की आवश्यकता होगी । इस तरह अनवस्था दोष होगा ?

समाधान—जितने प्रमाण होते हैं, वे सभी न तो एकान्त रूप से स्वतः प्रमाण होते और न परतः प्रमाण होते हैं । उनमें कुछ स्वतः प्रमाण होते हैं और कुछ परतः ।

प्रश्न—स्वतः प्रामाण्य और परतः प्रामाण्य क्या है ? याने प्रमाण स्वबल से विषय का निश्चय करता है या विषयी का निश्चय करता है ? अर्थात् विषय के निश्चय से प्रामाण्य निश्चित होता है कि विषयी के निश्चय से । ?

समाधान—जो प्रमाण अपनी अविसंवादकता का निश्चय स्वतः अपने बल से कर लेता है, वह 'स्वतः प्रमाण' तथा जिसकी अविसंवादकता परतः (दूसरे प्रमाण से) निश्चित होती है, वह 'परतः प्रमाण' कहलाता है ।

प्रश्न—यदि स्वतः या परतः प्रमाण का लक्षण उक्त प्रकार का है तो अनुमान स्वतः प्रमाण नहीं हो सकेगा, जब कि सिद्धान्ततः अनुमान स्वतः प्रमाण माना जाता है, क्योंकि चार्वाक का कहना है धूम हेतु से वह्नि को जाननेवाला अनुमान अपनी अविसंवादकता का निश्चय स्वतः नहीं कर सकता ?

समाधान—दोष नहीं है । यद्यपि चार्वाक पूछने पर यह कहेगा कि अनुमान प्रमाण नहीं है, फिर भी उसकी चित्तसन्तति में धूम से वह्नि को जाननेवाला ज्ञान उत्पन्न होता है और उससे वह जानता है कि पर्वत में वह्नि है और उस ज्ञान को वह सही ज्ञान भी समझता है । अतः अनुमान स्वतः प्रमाण सिद्ध होता है ।

सभी स्वसंवेदन स्वतः प्रमाण हैं, क्योंकि वे अपनी अविसंवादकता को स्वयं निश्चयपूर्वक जानते हैं । योगी प्रत्यक्ष स्वतः प्रमाण है । पृथग्जन का मानस प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है । अभिज्ञाप्राप्त पृथग्जन योगी का मानस प्रत्यक्ष स्वतः प्रमाण होता है । आर्य का मानस प्रत्यक्ष भी स्वतः प्रमाण है ।

साधनप्रवृत्त, अपोहप्रवृत्त, सामान्यलक्षण, सविकल्प, निर्विकल्प इत्यादि का स्वरूप एवं विचार सौत्रान्तिकों के समान ही इस मत में भी मान्य हैं ।

ज्ञान सात प्रकार के होते हैं, यथा—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. अधिगतविषयक ज्ञान, ४. मनोविचार, ५. प्रतिभास—अनिश्चायक, ६. मिथ्याज्ञान एवं ७. सन्देह ।

१. और २. स्पष्ट हैं ।

३. चक्षुर्विज्ञान आदि ज्ञान अपने उत्पाद के द्वितीय क्षण से लेकर जब तक उनकी धारा समाप्त नहीं होती, 'अधिगतविषयक ज्ञान' हैं ।

४. जो ज्ञान सम्यक् लिङ्ग पर आश्रित (अनुमान) नहीं होता तथा अनुभवात्मक (प्रत्यक्ष) भी नहीं होता, किन्तु अपने विषय का विना संशय के ग्रहण करता है, ऐसा अध्यवसायात्मक ज्ञान 'मनोविचार' कहलाता है । इसके तीन प्रकार हैं—(क) अहेतुक मनोविचार, (ख) अनैकान्तिक मनोविचार, (ग) विरुद्ध मनोविचार ।

(क) अहेतुक मनोविचार—विना किसी हेतु के और विना संशय के यह जानना कि 'शब्द अनित्य है' या 'सर्वज्ञ होता है'—यह 'अहेतुक मनोविचार' कहलाता है ।

(ख) अनैकान्तिक मनोविचार—'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है'—इस प्रकार के अनैकान्तिक प्रमेय हेतु से उत्पन्न शब्दानित्यता का ज्ञान 'अनैकान्तिक मनोविचार' है ।

(ग) विरुद्ध मनोविचार—'शब्द अनित्य है, क्योंकि अकृतक है'—इस प्रकार के विरुद्ध हेतु से उत्पन्न शब्दानित्यता का ज्ञान 'विरुद्ध मनोविचार' है ।

५. **प्रतिभास—अनिश्चायक**—विषय का प्रतिभास होने पर भी जब निश्चय नहीं होता, तो ऐसे ज्ञान को 'प्रतिभास—अनिश्चायक' कहते हैं । उदाहरणार्थ दूर से आते हुए अपने गुरु का ज्ञान में प्रतिभास होने पर भी यह निश्चय नहीं होता कि प्रतिभासित व्यक्ति गुरु ही है तथा अन्यगतमानस पुद्गल का श्रोत्रविज्ञान और पृथग्जन का रूपज्ञ, शब्दज्ञ आदि मानस प्रत्यक्ष 'प्रतिभास—अनिश्चायक' ज्ञान हैं ।

६. और ७. स्पष्ट हैं ।

सभी मनोविचार अविसंवादी ज्ञान नहीं होते, क्योंकि वे संशय एवं विपर्यय आदि मिथ्या विप्रतिपत्तियों का निरास कर विषय का स्पष्ट परिच्छेद (अवबोध) नहीं करते । अविसंवादी ज्ञान होने के लिए विप्रतिपत्तियों का निरास करना आवश्यक है । अन्यथा परवादी द्वारा संशय पैदा किया जा सकता है ।

प्रमाणफल—इसकी दो प्रकार से व्यवस्था की जाती है,—(१) बाह्यार्थवादी—साधारण और (२) असाधारण ।

(१) बाह्यार्थवादी—साधारण—नील प्रमेय में अनधिगत अविसंवादी नीलाकार ज्ञान प्रमाण तथा विप्रतिपत्तिनिरास पूर्वक नील—परिच्छेद (अविपरीत अवबोध) प्रमाणफल है ।

(२) असाधारण—प्रज्ञप्त नील प्रमेय में अनधिगत अविसंवादी ज्ञान प्रमाण तथा प्रज्ञप्त नील का परिच्छेद 'प्रमाणफल' हैं ।

*

विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद् विकल्प्यते ।
तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम् ।।

(त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, का० १७)

माध्यमिक दर्शन

[शून्यवाद]

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्युभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥

(बोधिचर्यावतारपंजिका में उद्धृत, पृ० १७४)

सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते ।
सर्वं न युज्यते तस्य शून्यं यस्य न युज्यते ॥

(मूलमाध्यमिककारिका २४ : १४)

यः शून्यतां प्रतीत्यसमुत्पादं मध्यमां प्रतिपदमनेकार्थाम् ।
निजगाद प्रणमामि तमप्रतिमसम्बुद्धम् ॥

(विग्रहव्यावर्तनी, ७२ कारिका)

प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः ।
प्रभवन्ति न तस्य किं न भवति शून्यता यस्येति ॥

(विग्रहव्यावर्तनी, ७१ कारिका)

माध्यमिक दर्शन
[शून्यवाद]

परिभाषा—सत्त्व (सत्ता) और असत्त्व (असत्ता) के मध्य में स्थित होना 'माध्यमिक' शब्द का अर्थ है । अर्थात् सभी धर्म परमार्थतः (सत्यतः) सत् नहीं हैं और संवृतितः (व्यवहारतः) असत् भी नहीं हैं—ऐसी जिनकी मान्यता है, वे 'माध्यमिक' कहलाते हैं ।

माध्यमिकों के भेद—माध्यमिक दो प्रकार के होते हैं, यथा—१. स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं २. प्रासङ्गिक माध्यमिक । 'स्वातन्त्रिक' और 'प्रासङ्गिक'—यह नामकरण भोट देश के विद्वानों द्वारा किया गया है । भारतीय मूल ग्रन्थों में यद्यपि उनके सिद्धान्तों की चर्चा और वाद–विवाद उपलब्ध होते हैं, किन्तु उपर्युक्त नामकरण उपलब्ध नहीं होता ।

(१) स्वातन्त्रिक माध्यमिक

व्यावहारिक सत्ता की स्थापना में मतभेद के कारण इनके भी दो भेद होते हैं, यथा—(क) सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं (ख) योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक ।

(क) सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक—ये लोग व्यवहार की स्थापना प्रायः सौत्रान्तिक दर्शन की भाँति करते हैं । इसलिए इन्हें 'सौत्रान्तिक स्वातन्त्रिक माध्यमिक' भी कहते हैं । अर्थात् अठारह धातुओं में संगृहीत धर्मों की स्थापना व्यवहार में ये सौत्रान्तिकों की भाँति करते हैं । आचार्य भावविवेक या भव्य एवं ज्ञानगर्भ आदि इस मत के प्रमुख आचार्य हैं ।

विचार विन्दु—इनके मतानुसार व्यवहार में बाह्यार्थ की सत्ता मान्य है । इन्द्रियज ज्ञान मिथ्याकार नहीं होते, अपितु सत्याकार होते हैं । वे (ज्ञान) अपने विषय के आकार को ग्रहण करते हुए उन (विषयों) का ग्रहण करते हैं । सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक पूर्वापरकालिक कार्यकारणभाव मानते हैं, समकालिक नहीं । अर्थात् कारण और कार्य का एक काल में (युगपद्) समवस्थान नहीं होता । दशभूमक सूत्र के "**चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा यदुत**

त्रैधातुकम्" (अर्थात् बोधिसत्त्वों, ये तीनों अर्थात् काम, रूप और अरूप धातुएं चित्तमात्र हैं) इस वचन का अर्थ ये लोग ऐसा नहीं मानते कि इसके द्वारा बाह्यार्थ का निराकरण और चित्तमात्रता की स्थापना की गई है, अपि तु इस वचन के द्वारा चित्त से अतिरिक्त कोई ईश्वर, महेश्वर आदि इस लोक का कर्ता है, जैसा तैर्थिक (बौद्धेतर दार्शनिक) मानते हैं, उस (मान्यता) का खण्डन किया गया है, बाह्यार्थ का नहीं। लङ्कावतार सूत्र के :

दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते ।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम् ॥
(लङ्कावतारसूत्र, ३ : ३३)

[अर्थात् बाह्य दृश्य (अर्थ) विद्यमान नहीं हैं, चित्त ही विविध आकार में दिखलाई पड़ता है। देह, भोग, भाजन आदि सब कुछ चित्तमात्र हैं—ऐसा मैं कहता हूँ]।

इस वचन का अभिप्राय भी बाह्यार्थ के निषेध में नहीं है, अपितु बाह्यार्थों की परमार्थतः सत्ता नहीं है—इतना मात्र अर्थ है। इतना ही नहीं, जितने भी सूत्रवचन विज्ञप्तिमात्रता का प्रतिपादन करते हुए से दृष्टिगोचर होते हैं, भावविवेक के मतानुसार उनका वैसा अर्थ नहीं है। अर्थात् विज्ञप्तिमात्रता किसी भी सूत्र का प्रतिपाद्य अर्थ नहीं है।

क्योंकि बाह्यार्थ की व्यवहारतः सत्ता है, इसलिए रूप, शब्द आदि संघातावस्था के प्रत्येक परमाणु इन्द्रियविज्ञान के आलम्बन होते हैं। वे परमाणु इन्द्रियविज्ञान में आभासित नहीं होते—ऐसा नहीं, अपि तु आभासित भी होते हैं। सेना, वन आदि विभिन्न आश्रयों में सञ्चित विजातीय परमाणुओं की राशि की द्रव्यसत्ता नहीं है। अर्थात् सेना, वन आदि द्रव्यसत् नहीं हैं। एक ही आश्रय में सजातीय परमाणुओं के सञ्चय की द्रव्यसत्ता होती है, जैसे—घट आदि। आशय यह है कि विजातीय परमाणुओं का सञ्चय द्रव्यसत् नहीं होता, जैसे—सेना, वन आदि। किन्तु सजातीय परमाणुओं का संचय द्रव्यसत् होता है, जैसे—घट आदि।

द्विचन्द्राभास आदि भ्रान्त ज्ञान भी एक चन्द्र के विना नहीं हो सकते। अर्थात् द्विचन्द्रज्ञान के उत्पाद के लिए भी एक चन्द्र का आलम्बन आवश्यक है। यदि एक चन्द्र का भी अस्तित्व न माना जाएगा तो द्विचन्द्रज्ञान उत्पन्न नहीं हो

सकता। यदि एक चन्द्र भी बाहर सत् नहीं होगा तो केवल वासना मात्र से द्विचन्द्रज्ञान उत्पन्न नहीं होगा, जैसे—अमावस्या की रात्रि में चन्द्रज्ञान उत्पन्न नहीं होता। फलतः ज्ञान बाह्यार्थ—आलम्बन के विना कदापि उत्पन्न नहीं हो सकते।

अपि च, यदि बाह्यार्थों का अस्तित्व न माना जाएगा तो "**सञ्चितालम्बनाः पञ्चविज्ञानकायाः**" (अर्थात् इन्द्रियविज्ञान संचित आलम्बन से उत्पन्न होते हैं)—इस वचन का भी अपवाद होगा। अर्थात् सूत्रविरोध का दोष होगा। क्योंकि उस स्थिति में इन्द्रियविज्ञानों का परमार्थतः या व्यवहारतः किसी भी तरह आलम्बन से उत्पन्न होना अयुक्त हो जाएगा।

बाह्यार्थ की सत्ता मानने के कारण आचार्य भावविवेक आलयविज्ञान की भी सत्ता नहीं मानते। यदि वे आलयविज्ञान मानते तो बाह्यार्थ न होने पर भी आलयविज्ञान स्थित बाह्यार्थवासनाओं से ही बाह्यार्थाविभासी विज्ञप्तियाँ उत्पन्न हो जातीं, अतः उन्हें प्रयत्नपूर्वक बाह्यार्थ सिद्ध करने के लिए आयास नहीं करना पड़ता। मध्यमकहृदय नामक अपने ग्रन्थ में उन्होंने कहा है कि विज्ञानवादी लोगों ने आलयविज्ञान के नाम से वस्तुतः आत्मा की ही स्थापना कर दी है, दोनों में केवल नाममात्र का ही अन्तर (भेद) है। उनमें और आत्मवादी तैर्थिकों में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। वे (भावविवेक) क्योंकि आलयविज्ञान नहीं मानते, अतः क्लिष्टमनोविज्ञान मानने की भी आवश्यकता नहीं रहती। फलतः वे चक्षुर्विज्ञान से मनोविज्ञान तक केवल छह (षड्गण) विज्ञान मानते हैं।

भावविवेक स्वसंवेदन भी नहीं मानते। उनका कहना है कि ज्ञान का स्वयं अपने को आलम्बन बनाना (स्वसंवेदन) व्यवहारतः भी अयुक्त है। ज्ञान चाहे जितना अभिव्यक्त हो, वह स्वयं अपने को प्रकाशित नहीं कर सकता, जैसे कितना भी शिक्षित नटबटु अपने स्कन्धों (कन्धों) पर आरूढ नहीं हो सकता। ज्ञान का अपने को आलम्बन बनाने में कर्मकर्तृविरोध होता है। अर्थात् किसी क्रिया का कर्ता ही उस क्रिया का कर्म नहीं हो सकता। ऐसा होना विरुद्ध है। अतः स्वसंवेदन व्यवहारतः भी असिद्ध है। विशेष ज्ञान के लिए उनके मध्यमकहृदय का अवलोकन करना चाहिए।

स्वलक्षणपरीक्षा—विज्ञानवादियों के मतानुसार प्रज्ञापारमितासूत्रों में प्रतिपादित सर्वधर्मनिःस्वभावता का तात्पर्य यह है कि परिकल्पितलक्षण

लक्षणनिःस्वभाव हैं, परतन्त्रलक्षण उत्पत्तिनिःस्वभाव हैं तथा परिनिष्पन्नलक्षण परमार्थनिःस्वभाव हैं।

भावविवेक विज्ञानवादियों से पूछते हैं कि उस परिकल्पित लक्षण का स्वरूप क्या है, जो लक्षणनिःस्वभाव होने के कारण निःस्वभाव कहलाता है। यदि रूपादिविषयक शब्द एवं कल्पनाबुद्धि से इसका तात्पर्य है तो यह महान् अपवादक होगा, क्योंकि शब्द और कल्पनाबुद्धि पञ्चस्कन्धों में संगृहीत होनेवाली वस्तु हैं। यदि यह कहें कि वे शब्द और कल्पनाबुद्धि परिकल्पित नहीं हैं, अपितु उनके द्वारा आरोपित अर्थ परिकल्पित हैं और वे ही लक्षणनिःस्वभाव हैं, क्योंकि उनकी स्वलक्षणसत्ता नहीं है, जैसे रज्जु में सर्पबुद्धि द्वारा आरोपित सर्प की सत्ता नहीं होती। भावविवेक कहते हैं कि तब भी दोष से मुक्ति नहीं है, क्योंकि रज्जु में सर्पबुद्धि द्वारा आरोपित अर्थ (सर्प) की यद्यपि सत्ता नहीं होती, तथापि सर्पबुद्धि के अर्थ (सर्प) की सत्ता तो होती है, क्योंकि सर्प की सत्ता है। उसी प्रकार रूप को वेदना समझने वाली बुद्धि का अर्थ नहीं होता, परन्तु रूप को रूप समझनेवाली बुद्धि का विषय तो होता है। यहाँ पर सत्ता का अभिप्राय स्वलक्षण सत्ता से है, क्योंकि यहाँ परिकल्पितलक्षण की निःस्वलक्षणता पर विचार हो रहा है।

भावविवेक पुनः कहते हैं कि शब्द, कल्पना और उनके द्वारा आरोपित विषय सबकी पारमार्थिक सत्ता का यदि प्रतिषेध करना चाहते हो तो तुम विज्ञानवादी हमारे माध्यमिक दर्शन का ही अनुसरण कर रहे हो। इन कथनों के द्वारा भावविवेक आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र के उन वचनों का अभिप्राय प्रकट करते हैं, जिनमें परिकल्पित लक्षण को लक्षणनिःस्वभाव कहा गया है। इस व्याख्यान से यह स्पष्ट हो जाता है कि भावविवेक व्यवहार में स्वलक्षणसत्ता मानते हैं। भावविवेक के अनुसार शून्यता का प्रतिषेध्य केवल स्वलक्षणसत्ता नहीं है, अपितु 'परमार्थतः स्वलक्षणसत्ता' है। इसीलिए वे 'परमार्थतः' इस विशेषण पर बहुत बल देते हैं। उनके मतानुसार स्वलक्षणसत्ता और स्वभावसत्ता पर्यायवाची है। व्यवहार में स्वलक्षणसत्ता मानने के कारण वे व्यवहार में स्वभावसत्तावादी हैं। नागार्जुन के शास्त्रों में जो निःस्वभावता उल्लिखित है, उसका अर्थ भावविवेक 'परमार्थतः निःस्वभावता' समझते हैं।

यों तो माध्यमिक शास्त्रों में स्वलक्षणसत्ता, स्वभावसत्ता, द्रव्यसत्ता आदि शब्दों का प्रयोग सभी ने सर्वत्र किया है, इसलिए यह भेद करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि कौन क्या मानता है, परन्तु भावविवेककृत मूलमाध्यमिक–कारिकाटीका प्रज्ञाप्रदीप के उपर्युक्त अंश से स्पष्ट हो जाता है कि भावविवेक के अनुसार 'परमार्थतः स्वलक्षणसत्ता' एवं 'स्वलक्षणसत्ता' में बहुत अन्तर है। 'परमार्थतः स्वलक्षणसत्ता' शून्यता का प्रतिषेध्य है, 'स्वलक्षणसत्ता' नहीं। परमार्थतः स्वलक्षणसत्ता का प्रतिषेध शून्यता है। स्वलक्षणसत्ता व्यवहार में होती है। अतः उसका प्रतिषेध नहीं किया जाता है।

स्वलक्षणसत्ता ही ऐसा मर्मस्थल है, जिसके आधार पर स्वातन्त्रिक और प्रासङ्गिक माध्यमिकों का दर्शन एक दूसरे से भिन्न हो जाता है।

परमार्थतः सत्ता के निषेध की युक्तियाँ—हेतु और साध्य में अन्वयव्याप्ति के दृष्टान्त की सरलता देखकर वे निम्न युक्तियाँ प्रयुक्त करते हैं :

चक्षुर्विज्ञान (पक्ष), परमार्थतः रूप को नहीं देखता (साध्य), इन्द्रिय होने से (हेतु), श्रोत्रविज्ञान के समान (दृष्टान्त)।

पृथ्वी (पक्ष), परमार्थतः कठोर स्वभाववाली नहीं है (साध्य), महाभूत होने से (हेतु), जल महाभूत के समान (दृष्टान्त)।

इसी प्रकार अन्य अनेक युक्तियों द्वारा परमार्थसत्ता का निषेध किया जाता है।

नागार्जुन और आर्यदेव के ग्रन्थों में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। भावविवेक उन्हीं प्रयोगों को लेकर उनका विस्तार करते हैं।

यदि पृथ्वी परमार्थतः कठोर स्वभाववाली (खरस्वभावा) होगी और चक्षुर्विज्ञान परमार्थतः रूप को देखनेवाला होगा तो महाभूतों की समानता की वज़ह से कठोरता और मृदुता में अन्तर (भेद) नहीं किया जा सकेगा और इन्द्रियों में समानता की वज़ह से रूप को देखने और नहीं देखने में अन्तर नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि अन्तर (भेद) करनेवाले हेतु उपलब्ध नहीं हैं।

यदि कोई वस्तु परमार्थतः सत् है तो वह जैसी अवभासित हो रही है, वैसी उसे अपनी स्थिति (सत्ता) के वश से अर्थात् स्वग्राहक बुद्धि की विना अपेक्षा किए अवभासित होना चाहिए। आशय यह है कि यदि वस्तु स्ववश से है याने स्वतः सिद्ध है तो उसे दूसरे की अपेक्षा नहीं करना चाहिए, किन्तु वस्तु अपनी स्थिति के लिए बुद्धि की अपेक्षा करती है, अतः महाभूततुल्यता की वज़ह से कठोर और अकठोर में अन्तर (भेद) करनेवाले प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। उदाहरणार्थ यदि धूम अग्नि की विना अपेक्षा किए स्वतः उत्पन्न होगा तो सर्वत्र धूम होने का प्रसङ्ग होगा या कहीं भी न होने का प्रसङ्ग होगा।

इस तरह वस्तु की स्वभावतः (स्वलक्षणतः) सत्ता मानने पर भी भावविवेक उसकी परमार्थतः सत्ता नहीं मानते। उनका कहना है कि यदि परमार्थतः सत्ता होगी तो हेतु–प्रत्यय–सामग्री की विना अपेक्षा किए उसे (वस्तु को) हेतुप्रत्ययनिरपेक्षतया स्वतः पृथक् उपलब्ध होना चाहिए। किन्तु भूत, भौतिक समस्त वस्तुएं अष्टद्रव्यात्मक संघात के रूप में ही उपलब्ध होती हैं। चित्त–चैतसिक भी परस्पर अविनाभूत रूप में ही उपलब्ध होते हैं। अर्थात् चित्त के विना चैतसिक और चैतसिक के विना चित्त स्वतन्त्रतया पृथक् उपलब्ध नहीं होते। अतः सभी वस्तुएं हेतु–प्रत्ययसामग्री की अपेक्षा से ही उत्पन्न होती हैं। निरपेक्षतया कुछ भी उत्पन्न नहीं होते। फलतः सभी वस्तुएं अपरमार्थसत् एवं अद्रव्यसत् सिद्ध होती हैं।

सौत्रान्तिक स्वातन्त्रिक माध्यमिक मत के शास्त्रों में इसी प्रकार की युक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, यथा–यदि वस्तु परमार्थतः सत् हो तो उसका स्वरूप अन्यनिरपेक्ष, स्वतन्त्रतया पृथक् उपलब्ध होना चाहिए। यदि स्वतन्त्र और पृथक् उपलब्ध होता है–ऐसा कहा जाए तो ये उसमें अनेक बाधाएं प्रदर्शित करते हैं। इनके ग्रन्थों में योगाचार माध्यमिक मत के आचार्यों के शास्त्रों की भाँति अवयव–अवयवी का खण्डन करने के लिए एकानेक–वियुक्तत्व युक्ति का अधिक प्रयोग उपलब्ध नहीं होता।

(ख) योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक–ये लोग निःस्वभावतावादी माध्यमिक होते हुए भी व्यवहार की स्थापना योगाचार दर्शन की भाँति करते हैं, अतः 'योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक' कहलाते हैं। ये व्यवहार में बाह्यार्थ की सत्ता नहीं मानते, अतः तीनों धातुओं को विज्ञप्तिमात्र व्यवस्थापित करते हैं। आचार्य शान्तरक्षित, कमलशील आदि इस मत के प्रमुख आचार्य हैं। हम निम्नलिखित विन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में इनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहे हैं, यथा–(१) परमार्थतः पुद्गल और धर्मों की स्वभावसत्ता पर विचार, (२) व्यवहारतः बाह्यार्थ की सत्ता पर विचार, (३) आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र का वास्तविक अर्थ तथा (४) परमार्थतः सत्ता का खण्डन करनेवाली प्रधान युक्ति का प्रदर्शन।

(१) परमार्थतः पुद्गल और धर्मों की स्वभावसत्ता पर विचार– आर्य सन्धिनिर्मोचनसूत्र में लक्षणनिःस्वभावता एवं उत्पत्तिनिःस्वभावता की चर्चा उपलब्ध होती है। उसकी जैसी व्याख्या आचार्य भावविवेक करते हैं, उसी तरह का अर्थ मध्यमकालोक में भी वर्णित है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शान्तरक्षित भी व्यवहार में स्वलक्षणतः सत्ता स्वीकार करते हैं। ज्ञात है आचार्य शान्तरक्षित ही इस मत के पुरःस्थापक हैं। इनके मत में भी वे ही युक्तियाँ प्रयुक्त हैं, जिनका आचार्य धर्मकीर्ति के सप्त प्रमाणशास्त्रों में कार्य–कारण की स्थापना के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ये व्यवहार में स्वभावसत्ता मानते हैं। फलतः इनके मतानुसार पुद्गल और धर्मों की परमार्थतः सत्ता नहीं होती, किन्तु उनकी व्यवहारतः सत्ता मान्य है।

(२) व्यवहारतः बाह्यार्थ सत्ता पर विचार–आचार्य शान्तरक्षित ने अपने मध्यमकालङ्कार भाष्य में कार्य और कारण की सांवृतिक सत्ता के स्वरूप पर विचार किया है। उन्होंने वहां यह पूर्वपक्ष उपस्थित किया है कि संवृतिसत् धर्म मात्र चित्तचैत्तात्मक (विज्ञप्तिमात्रात्मक) हैं या उनकी बाह्यार्थतः सत्ता होती है ? इसका समाधान करते हुए उन्होंने लिखा है कि उनकी बाह्यार्थतः सत्ता कथमपि नहीं होती। अर्थात् उनकी बाह्यतः सत्ता मानना नितान्त युक्तिविरुद्ध है। इसके लिए उन्होंने सहोपलम्भ युक्ति का वहां प्रयोग किया है तथा स्वप्न, माया आदि दृष्टान्तों के द्वारा व्यवहारतः उनकी विज्ञप्तिमात्रात्मकता प्रतिपादित की है।

उनका कहना है कि समस्त धर्मों को व्यवहारतः विज्ञप्तिमात्र मानने से आर्यसन्धिनिर्मोचन सूत्र एवं आर्यघनव्यूहसूत्र–आदि से किसी प्रकार विरोध नहीं होता तथा :

दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते ।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम् ॥

(लङ्कावतारसूत्र, ३ : ३३)

इस लङ्कावतारसूत्र से भी अविरोध होता है ।

विज्ञप्तिमात्रता को मानने पर पुद्गल, आत्मा–आत्मीय, ग्राह्य–ग्राहक, अभिधान–अभिधेय आदि जितने द्वैत प्रपञ्च हैं, उनका निराकरण आसान हो जाता है । त्रैधातुक समस्त विज्ञप्तिमात्र हैं,– ऐसा अवबोध हो जाने पर यह जानना सरल हो जाता है कि विज्ञप्तिमात्र भी परमार्थतः सत् नहीं है । क्योंकि परमार्थतः विज्ञप्तिमात्र भी सत् नहीं, अपितु संवृतितः सत् ही है । परमार्थतः सत्ता तो किसी की भी नहीं होती और यही असत्ता 'शून्यता' है, जो माध्यमिकों का परमार्थ सत्य है । घट, पट आदि समस्त पदार्थ यद्यपि पारमार्थिक सत्ता से शून्य हैं, तथापि सर्वथा अलीक नहीं हैं । उनकी व्यावहारिक सत्ता है । वे संवृतितः सत् होते हैं । सर्वप्रथम विज्ञप्तिमात्रता के आधार पर बाह्यार्थाभाव का बोध हो जाता है । तदनन्तर बाह्यार्थाभाव जान लेने पर यह विज्ञप्तिमात्रता भी परमार्थसत् नहीं है, इस तरह के अत्यन्त नैरात्म्य का अवबोध कर लेना चाहिए । व्यवहार में विज्ञप्तिमात्र होना (बाह्यार्थाभाव होना) और परमार्थतः विज्ञप्तिमात्र का भी न होना—इन दोनों के ज्ञान से माध्यमिक शब्द का वास्तविक अर्थ ज्ञात होता है और महायान में प्रवेश होता है ।

शान्तरक्षित का कहना है व्यवहार में विज्ञप्तिमात्रता आर्य नागार्जुन का सिद्धान्त है । अपने इस कथन की पुष्टि के लिए वे उनके युक्तिषष्टिका ग्रन्थ से प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, यथा :

महाभूतादि विज्ञाने प्रोक्तं समवरुध्यते ।
तज्ज्ञाने विगमं याति ननु मिथ्या विकल्पितम् ॥

(युक्तिषष्टिका, का० ३० संस्कृत छाया)

अर्थात् महाभूत आदि जितने ख्यात धर्म हैं, वे सब विज्ञान में संगृहीत हैं । इसके ज्ञान से मिथ्या ज्ञान वियुक्त होता है ।

इस योगाचार माध्यमिक मत में जितने ज्ञानगत नीलाकार, पीताकार आदि होते हैं, वे सब आकार वस्तु (अर्थात् वास्तविक) माने जाते हैं । आचार्य धर्मकीर्ति भी ऐसा ही मानते हैं । अतः आचार्य शान्तरहित व्यवहार में सत्याकार विज्ञानवादी माध्यमिक हैं—यह निश्चित होता है । ये बाह्यार्थ की सत्ता नहीं मानते, अतः ये स्वसंवेदन मानते हैं । अर्थात् स्वसंवेदनवादी हैं । इनके मत में आलयविज्ञान की सत्ता मानी जाती है कि नहीं ? इसके बारे में इनके ग्रन्थों का अवलोकन करने से स्थिति स्पष्ट नहीं होती । फिर भी ग्रन्थों के वातावरण से ऐसा प्रतीत होता है कि ये आलयविज्ञान नहीं मानते । भोटदेशीय महापण्डित आचार्य चोंखापा का भी ऐसा ही मन्तव्य है ।

(३) आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र का वास्तविक अर्थ—'परिकल्पितलक्षण लक्षणनिःस्वभाव हैं तथा अवशिष्ट दोनों लक्षण (अर्थात् परतन्त्र और परिनिष्पन्न लक्षण) वैसे नहीं है'—आर्यसन्धिनिर्मोचन के इस वचन का आचार्य शान्तरक्षित यह अर्थ ग्रहण करते हैं कि परतन्त्रलक्षण और परिनिष्पन्न लक्षण लक्षणनिःस्वभाव नहीं है, अपितु उनकी स्वलक्षणसत्ता है । किन्तु उनकी वह स्वलक्षणसत्ता पारमार्थिक नहीं, अपितु व्यावहारिक (सांवृतिक) है । परतन्त्र और परिनिष्पन्न की परमार्थतः सत्ता मानना नितान्त परिकल्पित है और उस परिकल्पित की परमार्थतः सत्ता शशशृङ्गवत् सर्वथा अलीक है । आशय यह है कि परतन्त्र और परिनिष्पन्न की परमार्थतः सत्ता परिकल्पित है और वह परिकल्पित लक्षणनिःस्वभाव (शशशृङ्गवत्) है । विज्ञान के गर्भ में उनकी व्यावहारिक (संवृतितः) स्वलक्षणसत्ता मानने में आपत्ति नहीं है । जो आकाश आदि परिकल्पितलक्षण हैं, वे शशशृङ्गवत् सर्वथा अलीक नहीं हैं, अपि तु उनकी सांवृतिक सत्ता होती है । पारमार्थिक सत्ता की तो सांवृतिक सत्ता भी नहीं है ।

पुनश्च, सन्धिनिर्मोचन में 'परतन्त्रलक्षण उत्पत्तिनिःस्वभाव है'—ऐसा कहा गया है । आचार्य शान्तरक्षित का कहना है कि इस वचन का अर्थ यथाशब्द अर्थात् शब्द के अनुसार ग्रहण नहीं करना चाहिए । अपितु यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए कि 'परतन्त्रलक्षण परमार्थतः उत्पत्तिनिःस्वभाव है' । अन्यथा अर्थात् यदि ऐसा अर्थ ग्रहण नहीं करेंगे और यथाशब्द अर्थ स्वीकार करेंगे तो उत्पत्तिनिःस्वभाव होने से परतन्त्र की उत्पत्ति ही नहीं होगी ।

(४) परमार्थतः सत्ता का खण्डन करनेवाली प्रधान युक्ति—ज्ञात है कि माध्यमिक शून्यतावादी हैं। शून्यता के द्वारा जिसका निषेध किया जाता है, उस निषेध्य का पहले निश्चय कर लेना चाहिए। तभी शून्यता का स्वरूप स्पष्ट होता है, क्योंकि निषेध्य का निषेध ही शून्यता है। निषेध्य में फर्क होने के कारण माध्यमिकों के आन्तरिक भेद होते हैं। अतः इस मत के अनुसार निषेध्य के स्वरूप का निर्धारण किया जा रहा है।

प्रश्न—सभी धर्मों की जब व्यवहार में स्वलक्षणसत्ता मानी जाती है तो उससे अतिरिक्त 'परमार्थतः सत्ता' क्या है, जो निषेध्य मानी जाती है ?

समाधान—यदि इस अवसर पर परमार्थतः सत्ता या सत्यतः सत्ता को ग्रहण करनेवाली बुद्धि का विषय क्या है—उस सत्ता का ग्रहण कैसे होता है ? इस तरह निषेध्य के सामान्य आकार का सम्यक् परिचय न होगा तो सभी धर्मों की परमार्थतः नहीं, अपि तु अपरमार्थतः सत्ता या असत्यतः सत्ता है—ऐसे शब्दमात्र का कथन करने से कुछ भी सिद्ध (लाभ) नहीं होगा, जैसे लक्ष्य का विना अनुसन्धान किये तीर फेंकने से कुछ भी लाभ नहीं होता।

'पृथ्वी आदि की परमार्थतः सत्ता नहीं है', इस वाक्य में प्रयुक्त 'परमार्थ' की तीन प्रकार की व्याख्या उपलब्ध होती है, यथा—(१) 'परमार्थ' शब्द में प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द का मतलब है—ज्ञेय, परीक्ष्य या अवबोद्धव्य विषय। 'परम' का अर्थ है—उत्तम या श्रेष्ठ। इस तरह परमार्थ शब्द का अर्थ है—उत्तम ज्ञेय। (२) परम का अर्थ है, निर्विकल्पक ज्ञान, उसका 'अर्थ' या विषय 'परमार्थ' है। (३) 'परम' शब्द का अर्थ है 'वस्तुसत्तान्वेषिणी बुद्धि। 'अर्थ' का मतलब है, उस बुद्धि द्वारा परीक्षा करने पर उपलब्ध विषय। फलतः वस्तुसत्तान्वेषिणी बुद्धि द्वारा उपलब्ध विषय 'परमार्थ' है। इन तीनों प्रकार के निर्वचनों में तृतीय निर्वचन इस अवसर पर प्रसङ्गप्राप्त या ग्राह्य है।

यहाँ माध्यमिकों और अन्य सिद्धान्तवादियों में प्रमुख विचारणीय विषय यह है कि वस्तुसत्ता का अन्वेषण करनेवाली बुद्धि द्वारा अन्वेषण (परीक्षा) करने पर कुछ उपलब्ध होता है या नहीं ? सभी लोग इस पर विचार करते हैं। क्योंकि परमार्थसत्ता और अपरमार्थसत्ता के निश्चय की यही कसौटी है। यदि उपलब्ध होता है तो परमार्थसत्ता है, यदि उपलब्ध नहीं होता है तो परमार्थतः

सत्ता नहीं, अर्थात् अपारमार्थिक सत्ता है। 'परमार्थ' शब्द के 'अर्थ' का निरूपण कर देने पर अब हम 'सत्ता'—शब्द पर विचार करते हैं।

तृण, काष्ठ, लोष्ठ आदि मन्त्र एवं माया आदि के प्रभाव से अश्व, हस्ती आदि के रूप में मन्त्र—माया आदि से दूषित नेत्र वालों को दृष्टिगोचर होते हैं। उस समय तृण, काष्ठ आदि की ओर से भी अश्व, हस्ती आदि का प्रतिभास होता है और नेत्र के दूषित होने से इन्द्रिय की ओर से भी अश्व, हस्ती आदि का प्रतिभास होता है। ऐसे ही बीज से अङ्कुर उत्पन्न होने का प्रतिभास होता है। उस समय अङ्कुर की ओर से भी उत्पाद का प्रतिभास होता है और बुद्धि की ओर से भी उत्पन्न होने का आभास होता है। अर्थात् अश्व आदि और अङ्कुर आदि की बुद्धि की ओर से भी एक आरोपित सत्ता होती है और वस्तु की ओर से भी सत्ता होती है।

प्रश्न—यदि वस्तु की ओर से भी अश्व, हस्ती आदि का प्रतिभास होता है तो अश्व आदि की पारमार्थिक सत्ता हो जाएगी ? इसी तरह यदि अङ्कुर की ओर से भी उत्पाद होता है तो वह परमार्थतः उत्पत्ति हो जाएगी ?

समाधान—जब नेत्र आदि इन्द्रिय दूषित होते हैं, तभी तृष्ण, काष्ठ आदि अधिष्ठान की ओर से अश्व, हस्ती आदि प्रतिभासित होते हैं। दोषरहित शुद्ध नेत्र वालों को वे प्रतिभासित नहीं होते। यदि परमार्थतः सत्ता होगी तो अदुष्ट (शुद्ध) नेत्रवालों को भी उन्हें प्रतिभासित होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता।

इसी प्रकार बीज से अङ्कुर का उत्पन्न होना भी व्यावहारिक बुद्धि के वश से ही होता है, स्ववश से नहीं। अर्थात् अङ्कुर अपनी स्थिति के वश से उत्पन्न नहीं होता। यदि केवल अपनी ओर से उत्पन्न होता तो विना हेतु—प्रत्ययों के भी उत्पन्न होता। फलतः स्वविषयी (अपने को ग्रहण करनेवाली=स्वग्राहिका) बुद्धि में अवभास के बल से विना आरोपित (स्थापित) हुए अङ्कुर आदि वस्तुएं अपनी स्थिति के बल से (स्ववश से) उत्पन्न नहीं हैं।

अतः अङ्कुर आदि वस्तु को विषय बनानेवाली बुद्धि में अवभास के बल से विना स्थापित हुए अपनी स्थिति (सत्ता या स्वभाव) के बल से उत्पन्न होने को ग्रहण करने वाली बुद्धि 'वस्तुतत्त्वान्वेषिणी बुद्धि' या 'सत्यतः (परमार्थतः) ग्रहण करनेवाली बुद्धि' कहलाती है। उस बुद्धि का विषय परमार्थतः सत्ता या सत्यतः सत्ता कहलाता है।

परमार्थतः निःस्वभाव होने पर भी वस्तु को परमार्थतः सस्वभाव ग्रहण करनेवाली अनादिकालीन वासना से उत्पन्न भ्रान्त बुद्धि के बल से 'होने' को संवृतितः सत्ता कहते हैं ।

परमार्थतः सत्ता और संवृतितः सत्ता के उपर्युक्त लक्षण (स्वरूप) सभी स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के मत में समान हैं ।

सहज आत्मदृष्टिद्वय अर्थात् पुद्गलात्मदृष्टि एवं धर्मात्मदृष्टि सरीखी अविमृश्यकारिणी बुद्धि में अवभास के बल से व्यवहार की स्थापना या व्यावहारिक सत्ता की स्थापना नहीं की जा सकती, किन्तु जो बुद्धि अन्य प्रमाणों से बाधित नहीं है, ऐसी व्यावहारिक अर्थात् प्रामाणिक बुद्धि में अवभास के बल से व्यावहारिक सत्ता (सांवृतिक सत्ता) स्थापित की जा सकती है ।

क्योंकि स्वातन्त्रिकों के मत में उक्त प्रकार की व्यावहारिक बुद्धि में प्रतिभास के बल से स्थापित व्यावहारिक सत्ता मानी जाती है, अतः निषेध्य (परमार्थसत्ता) का परिचय (अन्वेषण) करने की अवस्था में 'स्वग्राहिणी बुद्धि में प्रतिभास के बल से बिना स्थापित' इतना विशेषण जोड़ा जाता है ।

संसार के सभी प्राणियों को प्रायः ऐसा भान हुआ करता है कि समस्त धर्म स्वग्राहिणी बुद्धि द्वारा बिना स्थापित हुए केवल अपनी ओर से (अपने बल से) सत् (वस्तुतः सत्) हैं । किन्तु वस्तुस्थिति में ऐसा नहीं होता । वे स्वग्राहिणी बुद्धि की ओर से भी स्थापित (आरोपित) होते हैं । अतः सभी धर्म मिथ्या हैं । अर्थात् उनकी सत्ता बुद्धि द्वारा भी आरोपित है ।

उक्त प्रकार की सत्यतः सत्ता या परमार्थतः सत्ता से रहितता अर्थात् शून्यता यद्यपि घट, पट आदि समस्त धर्मों की पारमार्थिक स्थिति है, उनकी प्रकृति है, फिर भी वह पारमार्थिक स्थिति या शून्यता स्वग्राहिणी बुद्धि में अवभास के बल से बिना स्थापित हुए अपने स्वभाव (स्थिति) के वश से सिद्ध नहीं है । इस प्रकार 'शून्यताशून्यता' का अर्थ समझना चाहिए ।

उक्त प्रकार की सत्यतःसत्ता–दृष्टि इस सिद्धान्त के अनुसार सहज सत्यतादृष्टि है । नाम और अर्थ के सम्बन्ध से अपरिचित या सङ्केतग्रह से अनभिज्ञ प्राणी इसका युक्तिपूर्वक ग्रहण नहीं करते, फिर भी उनमें सहज

अर्थदृष्टि होती है । इस प्रकार की यह सत्यतःसत्तादृष्टि यदि सही हो तो इसके विषय अर्थात् सत्यतः सत् वस्तु को वस्तुतत्त्वान्वेषिणी युक्तियों के सम्मुख परीक्षासह, निरवयव वस्तु एवं त्रिविध विशेषणों से युक्त स्वभाव वाला होना चाहिए[1], किन्तु सत्यतः सत्तादृष्टि इस प्रकार परीक्षासह, निरवयवस्तु एवं त्रिविध विशेषणों से युक्त का ग्रहण करनेवाली दृष्टि नहीं है । इनका निषेध कर देने पर भी असत्यतः सत्ता निष्पन्न नहीं होती । अर्थात् वस्तुसत्तान्वेषिणी बुद्धि द्वारा परीक्षासह, निरवयव वस्तु आदि का निषेध कर देने से भी असत्यतः सत्ता, अपारमार्थिक सत्ता या सांवृतिक सत्ता सिद्ध नहीं होती ।

स्वातन्त्रिक मत में सत्यतः सत्ता दृष्टि का जैसा स्वरूप मान्य है, उसका भलीभांति परिचय न होने के कारण कुछ ऐसा कहते हैं कि वस्तुसत्तान्वेषिणी बुद्धि का प्रमेय ही नहीं होता, यदि प्रमेय होगा तो सत्यतःसत्ता हो जाएगी । कुछ लोगों का कहना है कि उसका विषय ही नहीं होता । अन्य लोग वस्तुसत्तान्वेषिणी बुद्धि एवं वस्तुस्थिति को जाननेवाले अनुमान में भेद करके क्रमशः विषय है और विषय नहीं है–ऐसा मानते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि इन सभी लोगों को स्वातन्त्रिकों की सत्यतःसत्ता दृष्टि से भलीभाँति परिचय ही नहीं है ।

इस तरह निषेध्य का निश्चय हो जाने पर यह जानना आवश्यक है कि इस मत में निषेध्य का निषेध करने वाली प्रधान युक्ति कौन है ?

स्वातन्त्रिक आचार्य प्रायः (अधिकतर) सम्बन्ध्यनुपलम्भ हेतु द्वारा निषेध्य का निषेध करते हैं यह हेतु लङ्कावतारसूत्र एवं पितापुत्रसमागमसूत्र में कथित एकानेकस्वभाववियुक्तत्व हेतु से सिद्ध होता है । इसका प्रयोग आचार्य शान्तरक्षित ने अपने मध्यमकालङ्कार में किया है । मध्यमकालोक में वज्रकणयुक्ति, सदसदनुपपत्तियुक्ति, चतुष्कोट्युत्पादानुपपत्ति एवं प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व आदि युक्तियाँ भी प्रयुक्त की गई हैं । प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व युक्ति विरोध्यनुपलम्भ हेतु है[2] ।

प्रश्न–विरोध दिखलाने का प्रकार क्या है ?

---

१. यदि वस्तु सस्वभाव हो तो उसे–(१) अकृत्रिम होना चाहिए, (२) अन्य निरपेक्ष होना चाहिए तथा (३) उसके स्वभाव में परिवर्तन नहीं होना चाहिए । (लमरिम छेनमो, पृ० ३५० – b७ ल्हासा–संस्करण)

२. इन युक्तियों के स्वरूप के बारे में द्रष्टव्य प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० २६८ ।

समाधान—योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के विरोध–प्रदर्शन का प्रकार इस प्रकार है :

अपने द्वारा अथवा दूसरों द्वारा स्वीकृत सभी धर्म काल के अंश, देश के अंश और बुद्ध्याकार आदि अनेक अवयवों से युक्त होते हैं। अतः वे निश्चित ही निरवयव नहीं है। यदि वस्तु एक है तो उसका अनेक अवयवात्मक होना यद्यपि व्यावहारिक अर्थ में विरुद्ध नहीं है, किन्तु पारमार्थिक अर्थ में यदि अवयव–अवयवी आदि भिन्न–भिन्न हैं, अर्थात् स्वरूपतः पृथक्–पृथक् हैं तो वे परस्पर असम्बद्ध हो जाएंगे। यदि अवयव–अवयवी आदि एकात्मक होंगे अर्थात् स्वरूपतः अभिन्न होंगे तो जैसे अवयवी एक है, वैसे सभी अवयव एक हो जाएंगे अथवा जैसे अवयव अनेक हैं, वैसे अवयवी भी अनेक हो जाएगा। इस प्रकार बाधा दिखलाकर धर्मों (वस्तुओं) की पारमार्थिक सत्ता का निषेध किया जाता है। इस विषय में आचार्य आर्यदेव की '**पर्वभ्योऽङ्गुलिर्भिन्ना नास्ति**' इत्यादि युक्तियों को आधार बनाकर आचार्य शान्तरक्षित ने उनका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है।

परतः उत्पाद का निषेध करते समय भी पहले धर्मों का नित्य और अनित्य में विभाजन करके नित्य से उत्पाद का निषेध किया जाता है। अनित्य से उत्पाद मानने पर समकालिक और असमकालिक में विभाजन कर समकालिक अनित्य से उत्पाद का खण्डन किया जाता है। असमकालिक या विषमकालिक से उत्पाद मानने पर उसका विनष्ट और अविनष्ट में विभाजन करके विनष्ट कारण से उत्पाद का निषेध करते हैं। अविनष्ट से उत्पाद मानने पर उसका व्यवहित और अव्यवहित में विभाजन कर व्यवहित कारण से उत्पाद का निषेध किया जाता है। यहाँ तक खण्डन करना तो अपेक्षाकृत सरल है।

अव्यवहित से उत्पाद मानने पर भी उसका सर्वतः अव्यवहित या एकदेशतः अव्यवहित में विभाजन कर यदि सर्वतः अव्यवहित से उत्पाद माना जाता है तो दोनों काल मिश्रित हो जाएंगे। अर्थात् कारण और कार्य एककालिक हो जाएंगे, जैसे कलापान्तर्वर्ती दो परमाणु यदि सर्वतः अव्यवहित हों तो वे एकदेशवर्ती हो जाते हैं। अर्थात् उनका एक देश में मिश्रण हो जाता है। यदि एकदेशतः अव्यवहित होंगे तो सावयव होने से वे सांवृतिक हो जाएंगे।

मध्यमकालोक में इनका विस्तृत निरूपण किया गया है। अतः विस्तारपूर्वक ज्ञान के लिए उसका अवलोकन करना चाहिए।

इसी क्रम में विरोध–प्रदर्शन के लिए अन्तिम युक्ति के रूप में अवयव–अवयवी में एकत्व और अनेकत्व की परीक्षा करके निषेध करना चाहिए। इस तरह परतः उत्पाद का निषेध करनेवाली अनेक युक्तियाँ हैं। आचार्य ज्ञानगर्भ ने अपने सत्यद्वविभङ्ग नामक ग्रन्थ में सत्यतः सत्ता का निषेध करने के लिए चतुष्कोटयुत्पादानुपपत्ति युक्ति को प्रमुख बनाया है। इस युक्ति का वास्तविक मर्म भी वैसा ही है, जैसा शान्तरक्षित ने प्रदर्शित किया है। ये सभी युक्तियाँ नागार्जुन के अनुयायियों के युक्तिमार्ग की महापथ हैं। अतः जो माध्यमिक दर्शन के प्रतिपाद्य (शून्यता) का स्पष्टतया अभ्रान्त अवबोध करना चाहते हैं, उन्हें इनका अभ्यास करना चाहिए।

२. प्रासङ्गिक माध्यमिक

जो माध्यमिक केवल 'प्रसङ्ग' का प्रयोग करते हैं, वे प्रासङ्गिक माध्यमिक कहलाते हैं । सभी भारतीय दर्शनों में स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष के निराकरण की विधा दृष्टिगोचर होती है । माध्यमिक सभी धर्मों को निःस्वभाव (शून्य) मानते हैं । प्रासङ्गिक माध्यमिकों का कहना है कि जब हेतु, साध्य, पक्ष आदि सभी शून्य है तो ऐसी स्थिति में यह उचित नहीं है कि शून्यता को साध्य बनाकर उसे हेतुप्रयोग आदि के द्वारा सिद्ध किया जाए । इस स्थिति में एक ही उपाय अवशिष्ट रहता है कि जो दार्शनिक हेतुओं के द्वारा वस्तुसत्ता सिद्ध करते हैं, उनके प्रयोगों (अनुमानप्रयोगों) में दोष दिखाकर यह सिद्ध किया जाए कि उनके साधन उनके साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ हैं । इस उपाय से जब स्वभावसत्ता (वस्तुसत्ता) सिद्ध नहीं होगी तो यही निःस्वभावता की सिद्धि होगी । अर्थात् स्वभावसत्ता का निषेध ही निःस्वभावता की सिद्धि है । इसलिए परपक्ष का निराकरणमात्र माध्यमिक को करना चाहिए । स्वतन्त्ररूप से हेतुओं का प्रयोग करके स्वपक्ष की सिद्धि करना माध्यमिकों के विचारों के वातावरण के सर्वथा विपरीत है । अतः परपक्ष निराकरणमात्र पर बल देने के कारण ये लोग 'प्रासङ्गिक' माध्यमिक कहलाते हैं । जब कि भावविवेक, शान्तरक्षित आदि माध्यमिक आचार्य इन विचारों से सहमत नहीं है, उनका कहना है कि सभी धर्मों के परमार्थतः निःस्वभाव (शून्य) होने पर भी व्यवहार में उनकी सत्ता होती है, अतः स्वतन्त्र रूप से हेतु, दृष्टान्त आदि का प्रयोग करके शून्यता की सिद्धि की जा सकती है । अतः ये लोग 'स्वातन्त्रिक' माध्यमिक कहलाते हैं । ज्ञात है कि प्रासङ्गिक व्यवहार में भी वस्तु की सत्ता नहीं मानते । इन्हीं उपर्युक्त बातों के आधार पर स्वातन्त्रिक और प्रासङ्गिक माध्यमिकों ने अपने–अपने ढंग से अपने–अपने दर्शनों का विकास किया है ।

दोनों प्रकार के माध्यमिकों का दावा है कि वे ही आचार्य नागार्जुन और आर्यदेव के मन्तव्यों को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं । ऊपर स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के दृष्टिकोण प्रस्तुत किये गये हैं । अब यहाँ प्रासङ्गिक माध्यमिक दर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है । आचार्य चन्द्रकीर्ति इस दर्शन के प्रवर्तक है । आचार्य शान्तिदेव, दीपंकरश्रीज्ञान आदि अनेक भारतीय अद्वितीय मनीषियों ने इस मत का विकास किया है । इतना ही नहीं, भोट देश में भी माध्यमिक दर्शन का

अद्भुत विकास हुआ है । भोट देश में प्रचलित चारों (ञिङ्मा, करग्युद, साक्या एवं गेलुक्) सम्प्रदायों में मूर्धन्य विद्वान् हुए हैं । सभी की रुझान प्रासङ्गिक माध्यमिक दर्शन की ओर है । वस्तुतः प्रासङ्गिक माध्यमिक दर्शन अवैदिक बौद्धदर्शन के विकास की पराकाष्ठा है और यह दर्शन निश्चय ही न केवल भारतीय दर्शनों में, अपितु विश्व में अद्वितीय और बेजोड़ है ।

ऊपर कहा गया है कि स्वातन्त्रिक और प्रासङ्गिक—यह नामकरण भी भोटदेशीय विद्वानों की देन है । भारतीय शास्त्रों में यद्यपि पारस्परिक मतभेद और वाद–विवाद उपलब्ध हैं, किन्तु नामकरण उपलब्ध नहीं है । भोट विद्वानों द्वारा ही यह नामकरण विश्व में प्रचलित हुआ है । भोट देश के महापण्डित आचार्य चोंखापा ने प्रासङ्गिक दर्शन और स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के विचारों और भेदों को अपनी कृतियों द्वारा अत्यन्त स्पष्टतया प्रतिपादित किया है । आवश्यकता इस बात की है कि भोट विद्वानों की कृतियों का हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं और विश्व की अन्य भाषाओं में अनुवाद किया जाए, जिससे इन महनीय विचारों से विश्व ठीक–ठीक अवगत हो सके । हमारे विचार में सन्त्रस्त विश्व और सङ्कटग्रस्त मानव के त्राण का एकमात्र यही आसरा है, यह निःसन्दिग्ध हैं ।

प्रासङ्गिक प्रस्थान के दर्शन का निरूपण हम निम्नलिखित विन्दुओं के आधार पर प्रस्तुतत कर रहे हैं :

१. पुद्गल एवं धर्म की निःस्वभावता या सस्वभावता
२. परमार्थ सत्ता का निषेध करने वाली प्रधान युक्ति

१. पुद्गल एवं धर्म की निःस्वभावता या सस्वभावता

इस गूढ़ विषय पर विचार करते समय भी यदि हम उसका निम्नलिखित तीन भागों में वर्गीकरण कर लेते हैं तो प्रतिपादन में भी स्पष्टता होगी और समझने में भी आसानी होगी, यथा :

(क) पुद्गल और धर्म की सस्वभावता के निषेध की विशेषता

(ख) निषेध की इस विशेषता के द्वारा आर्य नागार्जुन के अभिप्राय को व्यक्त करने का असाधारण प्रकार

(ग) सूत्रविरोध का परिहार

(क) पुद्गल और धर्म की सस्वभावता के निषेध की विशेषता

इसका भी हम द्विधा विभाजन करके प्रतिपादन कर रहे है, यथा :

(ए) स्वलक्षण सत्ता (स्वभाव) के निषेध की विशेषता

(बी) निषेध्य के स्वरूप का परिचय और उसके माध्यम से शून्यता का प्रतिपादन

(ए) स्वलक्षण सत्ता (स्वभाव) के निषेध की विशेषता

आचार्य बुद्धपालित द्वारा प्रणीत मूलमाध्यमिककारिकाटीका के ऊपर यद्यपि आचार्य भावविवेक ने अनेक दोषारोपण किये हैं, तथापि नैरात्म्यद्वय (पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य) के स्वरूप के विषय में न कोई विरोध प्रकट किया है और न दोषारोपण किया है। आचार्य अवलोकितेश्वरव्रत का कहना है कि 'सभी आध्यात्मिक एवं बाह्य धर्म माया की भाँति, प्रतीत्यसमुत्पन्न एवं अर्थक्रियासमर्थ हैं, किन्तु वे परमार्थतः सस्वभाव नहीं हैं—ऐसा जानना आर्यपितापुत्रसमागमसूत्र, भावविवेक एवं बुद्धपालित आदि माध्यमिकमतानुयायी आचार्यों की प्रज्ञापारमिता की विधि हैं'। ऐसा कहकर उन्होंने यह प्रतिपादन किया है कि 'व्यवहारतः माया की भाँति सत्ता' और 'परमार्थतः निःस्वभावता' के विषय में भावविवेक और बुद्धपालित इन दोनों आचार्यों के मतों में ऐकमत्य है। आचार्य ज्ञानगर्भ, आचार्य शान्तरक्षित एवं आचार्य कमलशील आदि ने भी अपने और आचार्य चन्द्रकीर्ति के मत में नैरात्म्य के विषय में कोई अन्तर (भेद) है—ऐसा नहीं कहा।

आचार्य चन्द्रकीर्ति ने ज़रूर यह स्पष्ट रूप से माना है कि आचार्य बुद्धपालित ने आर्य नागार्जुन का अभिप्राय अविपरीत रूप से प्रकट किया है तथा उनके और अपने विचारों में जहां तक परमार्थ और संवृति के स्वरूप की स्थापना का प्रश्न है, कुछ भी अन्तर (फर्क) नहीं है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि अन्य माध्यमिकों ने आचार्य नागार्जुन का मत जैसा प्रकट किया है, उससे उन (चन्द्रकीर्ति) का मत असाधारण है। उपर्युक्त बातें उनके मध्यमकावतारभाष्य में प्रतिपादित है।

मध्यमकावतारभाष्य में चन्द्रकीर्ति ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि माध्यमिक शास्त्रों से अतिरिक्त अन्य शास्त्रों में जैसे शून्यता प्रमुखरूप से, इष्टरूप से और विस्तृतरूप से स्पष्टतया प्रतिपादित नहीं है, वैसे ही विभिन्न और गम्भीर युक्तियों द्वारा जैसे शून्यता का प्रतिपादन हमने किया है, वैसा प्रतिपादन अन्य माध्यमिक शास्त्रों में नहीं है। विद्वानों को यह बात जान लेना चाहिए।

अतः कुछ लोग, जो ऐसा कहते हैं कि सौत्रान्तिक मत में जो परमार्थ है, वही माध्यमिकों का संवृतिसत्य है, उनका ऐसा कहना माध्यमिक शास्त्रों में अनभिज्ञता की वज़ह से ही है। जैसा सौत्रान्तिकों के बारे में कहा है, वैसे वैभाषिकों के बारे में कहकर अन्त में चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि लोकोत्तर धर्म का लौकिक धर्मों से तुल्य होना अयुक्त है, क्योंकि यह मत (जैसा चन्द्रकीर्ति आदि ने व्याख्यायित किया है) असाधारण है—ऐसा विद्वज्जनों को जानना चाहिए।

अपने मत को असाधारण कहने की वजह से वैभाषिक और सौत्रान्तिक नामक दो वस्तुवादी दार्शनिक प्रस्थानों में जिसे परमार्थ कहा गया है, वह माध्यमिकों का संवृतिसत्य है—ऐसा कथन माध्यमिक तत्त्व की अनभिज्ञता के कारण है—इस बात का स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिए :

आचार्य चन्द्रकीर्ति अपने मत में स्वलक्षणसत्ता व्यवहार में भी नहीं मानते, जब कि वैभाषिक और सौत्रान्तिक आचार्य स्वलक्षणसत्ता के ही आधार पर अपने दर्शन की स्थापना करते हैं।

संवृति और परमार्थ इन दो सत्यों में से एक से भी च्युत होने पर दोनों से च्युति हो जाती है। अतः दोनों सत्यों से अच्युत लोकोत्तर धर्म और दोनों सत्यों से च्युत लौकिक धर्म लौकिक और पारमार्थिक दोनों दृष्टियों से कथमपि तुल्य नहीं है। फलतः आर्य नागार्जुन का मन्तव्य परमार्थतः ही नहीं, अपितु संवृतितः भी वस्तुवादी सिद्धान्तों से असाधारण है।

(बी) निषेध्य के स्वरूप का परिचय औरउसके माध्यम से शून्यता का प्रतिपादन

इस विषय का प्रतिपादन भी सुविधा की दृष्टि से दो शीर्षकों में विभाजित करके किया जा रहा है :

(स)– (अ) परिकल्पित आरोपिका बुद्धि का ग्राह्य और उस बुद्धि द्वारा विषय ग्रहण करने का प्रकार

(आ) सहज आरोपिका बुद्धि का ग्राह्य और उस बुद्धि द्वारा विषय ग्रहण करने का प्रकार

(श) श्रावकपिटक में धर्मनैरात्म्य उपदिष्ट है—इसका प्रतिपादन

(स-अ) परिकल्पित आरोपिका बुद्धि का ग्राह्य और उस बुद्धि द्वारा ग्रहण करने का प्रकार

प्रश्न है कि किस प्रकार ग्रहण करने से स्वलक्षण सत्ता का ग्रहण होता है ? इसका प्रतिपादन करने के प्रसंग मं पहले स्वलक्षणसत्तावादियों का मत प्रस्तुत किया जा रहा है :

इस प्रकार का लोक में व्यवहार प्रचलित है कि 'अमुक पुद्गल ने यह कार्य किया और उसका यह फल भोग रहा है' । अतः (ऐसे व्यवहार के कारण) यह सोचा जा सकता है कि क्या 'पञ्च स्कन्ध ही पुद्गल हैं या पुद्गल इन स्कन्धों से भिन्न हैं ? । ऐसा सोचना वस्तुतः पुद्गलव्यवहार के निहितार्थ को खोजना है । खोजने पर 'स्कन्धों से भिन्न या अभिन्न'—इन दोनों पक्षों में से कोई एक पक्ष उपलब्ध हो तो उससे पुद्गल की स्थापना हो सकती है और कर्मों के कर्ता और फलों के भोक्ता आदि की सिद्धि हो सकती है । यदि खोज करने पर कोई भी पक्ष उपलब्ध न हो तो पुद्गल—व्यवहार की स्थापना नहीं की जा सकती । इस तरह पुद्गल व्यवहार के आरोपमात्र से सन्तुष्ट न होकर जिस आधार में वह व्यवहार होता है, उस आधार अर्थात् पञ्चस्कन्धों का विचार—विमर्श और अन्वेषण करके पुद्गल की स्थापना की जाती है । इस प्रकार की स्थापना ही पुद्गल की स्वलक्षणतः सत्ता की स्थापना है । स्वयूथ्य वैभाषिक से लेकर स्वातन्त्रिक माध्यमिक पर्यन्त सभी लोग ऐसा ही मानते हैं । इसी तरह

रूप, वेदना, संज्ञा आदि संस्कृत धर्म तथा प्रतिघस्पर्श से रहितता अर्थात् प्रसज्यप्रतिषेधरूपी आकाश आदि असंस्कृत धर्म, इस तरह जितने भी प्रमाणसिद्ध प्रमेय हैं, उनके नाम व्यवहारमात्र से सन्तुष्ट न होकर उस (नामव्यवहार) का अभिधेय अर्थात् आधार 'किस प्रकार का है'—ऐसा अन्वेषण करने पर यदि कोई अर्थ उपलब्ध होता है, तो उसकी 'सत्' के रूप में स्थापना की जा सकती है । यदि कुछ भी उपलब्ध नहीं हो तो उसे 'सत्' नहीं कह सकते ।

ज्ञातव्य है कि प्रमाणशास्त्रों में अर्थक्रियासमर्थ वस्तु को 'स्वलक्षण' कहा गया है । अभिधर्मशास्त्रों में असाधारण लक्षण को 'स्वलक्षण' कहते हैं, जैसे अग्नि का असाधारण लक्षण 'ऊष्मा' है । इन दोनों प्रकार के स्वलक्षणों में और यहाँ जो 'स्वलक्षणसत्' कहा गया है, उसमें प्रयुक्त 'स्वलक्षण' में बहुत अन्तर है ।

माध्यमिकों की निषेध्य जो स्वलक्षणसत्ता है, उसका स्वरूप जैसा ऊपर वर्णित है, वैसा ही है । अर्थात् वस्तुसत्तान्वेषिणी या परमार्थगवेषिणी बुद्धि द्वारा खोज करने पर यदि उपलब्ध होता है तो वह 'सत्' तथा उपलब्ध न हो तो उसे 'असत्' कहा जाता है । आशय यह है कि माध्यमिक मतानुसार खोजने पर जो उपलब्ध होता है, वह स्वलक्षणसत् है और यही माध्यमिकों का निषेध्य है । इस स्वलक्षण सत् में और उपर्युक्त स्वलक्षण में अन्तर है । सामान्यतया वह्नि की ऊष्मा को माध्यमिक भी स्वलक्षण कहते हैं । यहाँ तक वैभाषिक से लेकर स्वातन्त्रिक माध्यमिक पर्यन्त 'सत्' और 'असत्' की जो सीमा मानी गई है, उसका निर्देश किया गया है ।

चन्द्रकीर्ति के मत में उक्त प्रकार से निर्दिष्ट 'सत्' की स्थापना व्यवहार में भी मान्य नहीं है । चन्द्रकीर्ति के मतानुसार 'सत्' की सीमा निम्नलिखित प्रकार से है :

जितने भी नामव्यवहार हैं, उनका आधार (अभिधेय) खोजने पर उन नामव्यवहारों से अतिरिक्त कोई अर्थ उपलब्ध नहीं होता । उदाहरणार्थ राहु के शिरस् में राहु का नामव्यवहार तथा शिलापुत्रक के शरीर में शिलापुत्र का सङ्केत किया जाता है । सङ्केतार्थ की खोज करने पर राहुशिरस् से भिन्न राहु उपलब्ध नहीं होता । वस्तुतः लौकिक व्यवहार में उस प्रकार की (वस्तुसत्तान्वेषिणी बुद्धि द्वारा) खोज प्रवृत्त ही नहीं होती । सभी लौकिक वस्तुएं अविमर्शतः (विना विचार

किये) 'सत्' हैं । अर्थात् अविचाररमणीय हैं । आशय है कि प्रासङ्गिक माध्यमिकों से भिन्न बौद्ध दार्शनिक प्रस्थान जिस प्रकार विमर्श (खोज) करके 'सत्' की स्थापना करते हैं, उस प्रकार 'सत्' की स्थापना यहाँ नहीं की जा सकती। विना विमर्श के ही जैसे 'सत्' की स्थापना की जाती है, उसका प्रकार निम्न है :

देवदत्त का रूप या देवदत्त का चित्त—इस प्रकार कहने पर उस प्रकार के नामव्यवहारों के आधार देवदत्त, रूप या चित्त की सत्ता किस प्रकार की है—यदि ऐसी परीक्षा (खोज या विचार—विमर्श) की जाए तो रूप और चित्त से अभिन्न या रूप और चित्त से भिन्न किसी भी प्रकार से 'देवदत्त' यह अर्थ उपलब्ध नहीं होगा। अतः विमर्श या अन्वेषण या परीक्षण द्वारा उपलब्ध अर्थ के रूप में 'देवदत्त' की स्थापना नहीं की जा सकती। इसका अर्थ हुआ 'देवदत्त' स्वलक्षणतः असत् (सत् नहीं) है। इसका यह अर्थ कथमपि नहीं है कि 'देवदत्त असत्' है। देवदत्त के असत् न होने से वह (देवदत्त) स्कन्धों पर आश्रित के रूप में संवृतितः सत् है। उसी प्रकार राहु और शिलापुत्रक की स्थापना भी संवृतितः ही है।

ऊपर जैसे सांवृतिक दृष्टि से पुद्गल की स्थापना की गई है, उसी प्रकार धर्मों की स्थापना भी होती है। तथा हि :

पृथ्वी (लक्ष्य) और खरत्व (लक्षण) आदि सभी लक्ष्य—लक्षणों की स्थापना करते समय लक्ष्यलक्षणव्यवहार की प्रवृत्ति के आधार की पूर्वोक्त विधि से खोज करके उपलब्ध अर्थ की लक्ष्य—लक्षण के रूप में स्थापना की जाएगी तो वे कदापि स्थापित नहीं किये जा सकते, फिर भी परस्परापेक्षा द्वारा वे 'सत्' स्थापित किये जाते हैं। यदि पूर्वोक्त प्रकार से मीमांसा (परीक्षा, अन्वेषण) करके वस्तुसत्ता की स्थापना की जाएगी तो वह परमार्थसत्ता की स्थापना हो जाएगी, सांवृतिकसत्ता की नहीं।

प्रश्न—स्वातन्त्रिक आचार्य ज्ञानगर्भ के 'सत्यद्वयविभङ्ग' नामक ग्रन्थ में उल्लिखित है कि 'यथाप्रतिभास' अर्थात् प्रतिभास के अनुरूप ही वस्तु का स्वरूप होने से उसमें विचार या परीक्षा की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। यदि परीक्षा या विचार करके वस्तुस्वभाव की स्थापना की जाएगी तो भिन्न प्रकार की अर्थोपलब्धि होने से वस्तुस्वभाव की हानि होगी। अर्थात् कोई अर्थ उपलब्ध न

होने से स्थापना न हो सकेगी'। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वातन्त्रिक माध्यमिक भी युक्ति द्वारा अन्वेषण करके उपलब्ध अर्थ में संवृतितः सत्ता की स्थापना करने का निषेध करते हैं। ऐसी स्थिति में 'युक्ति द्वारा मीमांसित (परीक्षित) अर्थ में व्यावहारिक सत्ता की स्थापना न करना'—यह केवल तुम्हारी (प्रासङ्गिक माध्यमिक की) ही विशेषता कैसे होगी ?

उत्तर—यद्यपि दोनों प्रकार के (स्वातन्त्रिक एवं प्रासङ्गिक) माध्यमिक परमार्थसत्ता और संवृतिसत्ता की स्थापना के लिए अन्वेषण, विचार या मीमांसा करते हैं, किन्तु किस तरह के विचार, अन्वेषण या परीक्षण से परमार्थ का अन्वेषण होता है, इसका अन्तर न जानने के कारण उक्त प्रकार के प्रश्न उत्थित होते हैं।

प्रासङ्गिक मत में उक्त प्रकार के परीक्षण मात्र से तत्त्व (परमार्थ) का अन्वेषण हो जाता है। क्योंकि सभी भाव (पदार्थ) नाममात्र, सङ्केतमात्र, व्यवहारमात्र हैं—ऐसा अनेक बार कहा गया है।

स्पष्टीकरण—प्रासङ्गिक माध्यमिक स्पष्ट रूप से कहते हैं कि उक्त प्रकार की परीक्षा करने पर उपलब्ध अर्थ निश्चित ही परमार्थसत् हो जाएगा अर्थात् परमार्थसत्ता की स्थापना हो जाएगी, सांवृतिक सत्ता की नहीं। जब कि वैभाषिक से लेकर स्वातन्त्रिक माध्यमिक पर्यन्त सभी दार्शनिक उक्त प्रकार की परीक्षा से उपलब्ध अर्थ की स्वलक्षणसत्ता स्थापित करते हैं। स्वलक्षणसत्ता स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के मत में व्यावहारिक है, क्योंकि वे व्यवहार में स्वलक्षणसत्ता मानते हैं। अतः उनके मत में उक्त प्रकार की परीक्षा से व्यावहारिक (सांवृतिक) सत्ता की स्थापना होती है। किन्तु प्रासङ्गिक कहते हैं कि यदि उक्त प्रकार की परीक्षा की जाती है तो उससे सांवृतिक सत्ता की स्थापना न होकर परमार्थसत्ता की स्थापना हो जाएगी।

नाममात्र आदि का अर्थ—प्रासङ्गिकों का कहना है कि 'उक्त प्रकार के नामव्यवहार के व्यवहार्य अर्थ का अन्वेषण करने पर उसकी अनुपलब्धि' नाममात्र, सङ्केतमात्र आदि का अर्थ है, अन्य अर्थ बिलकुल नहीं हैं। अर्थात् "'नाम' है, किन्तु 'अर्थ' नहीं है या नाम से भिन्न अर्थ नहीं है"—यह नाममात्र का

किये) 'सत्' हैं । अर्थात् अविचाररमणीय हैं । आशय है कि प्रासङ्गिक माध्यमिकों से भिन्न बौद्ध दार्शनिक प्रस्थान जिस प्रकार विमर्श (खोज) करके 'सत्' की स्थापना करते हैं, उस प्रकार 'सत्' की स्थापना यहाँ नहीं की जा सकती। विना विमर्श के ही जैसे 'सत्' की स्थापना की जाती है, उसका प्रकार निम्न है :

देवदत्त का रूप या देवदत्त का चित्त—इस प्रकार कहने पर उस प्रकार के नामव्यवहारों के आधार देवदत्त, रूप या चित्त की सत्ता किस प्रकार की है—यदि ऐसी परीक्षा (खोज या विचार-विमर्श) की जाए तो रूप और चित्त से अभिन्न या रूप और चित्त से भिन्न किसी भी प्रकार से 'देवदत्त' यह अर्थ उपलब्ध नहीं होगा। अतः विमर्श या अन्वेषण या परीक्षण द्वारा उपलब्ध अर्थ के रूप में 'देवदत्त' की स्थापना नहीं की जा सकती। इसका अर्थ हुआ 'देवदत्त' स्वलक्षणतः असत् (सत् नहीं) है। इसका यह अर्थ कथमपि नहीं है कि 'देवदत्त असत्' है। देवदत्त के असत् न होने से वह (देवदत्त) स्कन्धों पर आश्रित के रूप में संवृतितः सत् है। उसी प्रकार राहु और शिलापुत्रक की स्थापना भी संवृतितः ही है।

ऊपर जैसे सांवृतिक दृष्टि से पुद्गल की स्थापना की गई है, उसी प्रकार धर्मों की स्थापना भी होती है। तथा हि :

पृथ्वी (लक्ष्य) और खरत्व (लक्षण) आदि सभी लक्ष्य-लक्षणों की स्थापना करते समय लक्ष्यलक्षणव्यवहार की प्रवृत्ति के आधार की पूर्वोक्त विधि से खोज करके उपलब्ध अर्थ की लक्ष्य-लक्षण के रूप में स्थापना की जाएगी तो वे कदापि स्थापित नहीं किये जा सकते, फिर भी परस्परापेक्षा द्वारा वे 'सत्' स्थापित किये जाते हैं। यदि पूर्वोक्त प्रकार से मीमांसा (परीक्षा, अन्वेषण) करके वस्तुसत्ता की स्थापना की जाएगी तो वह परमार्थसत्ता की स्थापना हो जाएगी, सांवृतिकसत्ता की नहीं।

प्रश्न—स्वातन्त्रिक आचार्य ज्ञानगर्भ के 'सत्यद्वयविभङ्ग' नामक ग्रन्थ में उल्लिखित है कि 'यथाप्रतिभास' अर्थात् प्रतिभास के अनुरूप ही वस्तु का स्वरूप होने से उसमें विचार या परीक्षा की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। यदि परीक्षा या विचार करके वस्तुस्वभाव की स्थापना की जाएगी तो भिन्न प्रकार की अर्थोपलब्धि होने से वस्तुस्वभाव की हानि होगी। अर्थात् कोई अर्थ उपलब्ध न

होने से स्थापना न हो सकेगी'। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वातन्त्रिक माध्यमिक भी युक्ति द्वारा अन्वेषण करके उपलब्ध अर्थ में संवृतितः सत्ता की स्थापना करने का निषेध करते हैं। ऐसी स्थिति में 'युक्ति द्वारा मीमांसित (परीक्षित) अर्थ में व्यावहारिक सत्ता की स्थापना न करना'—यह केवल तुम्हारी (प्रासङ्गिक माध्यमिक की) ही विशेषता कैसे होगी ?

उत्तर—यद्यपि दोनों प्रकार के (स्वातन्त्रिक एवं प्रासङ्गिक) माध्यमिक परमार्थसत्ता और संवृतिसत्ता की स्थापना के लिए अन्वेषण, विचार या मीमांसा करते हैं, किन्तु किस तरह के विचार, अन्वेषण या परीक्षण से परमार्थ का अन्वेषण होता है, इसका अन्तर न जानने के कारण उक्त प्रकार के प्रश्न उत्थित होते हैं।

प्रासङ्गिक मत में उक्त प्रकार के परीक्षण मात्र से तत्त्व (परमार्थ) का अन्वेषण हो जाता है। क्योंकि सभी भाव (पदार्थ) नाममात्र, सङ्केतमात्र, व्यवहारमात्र हैं—ऐसा अनेक बार कहा गया है।

स्पष्टीकरण—प्रासङ्गिक माध्यमिक स्पष्ट रूप से कहते हैं कि उक्त प्रकार की परीक्षा करने पर उपलब्ध अर्थ निश्चित ही परमार्थसत् हो जाएगा अर्थात् परमार्थसत्ता की स्थापना हो जाएगी, सांवृतिक सत्ता की नहीं। जब कि वैभाषिक से लेकर स्वातन्त्रिक माध्यमिक पर्यन्त सभी दार्शनिक उक्त प्रकार की परीक्षा से उपलब्ध अर्थ की स्वलक्षणसत्ता स्थापित करते हैं। स्वलक्षणसत्ता स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के मत में व्यावहारिक है, क्योंकि वे व्यवहार में स्वलक्षणसत्ता मानते हैं। अतः उनके मत में उक्त प्रकार की परीक्षा से व्यावहारिक (सांवृतिक) सत्ता की स्थापना होती है। किन्तु प्रासङ्गिक कहते हैं कि यदि उक्त प्रकार की परीक्षा की जाती है तो उससे सांवृतिक सत्ता की स्थापना न होकर परमार्थसत्ता की स्थापना हो जाएगी।

नाममात्र आदि का अर्थ—प्रासङ्गिकों का कहना है कि 'उक्त प्रकार के नामव्यवहार के व्यवहार्य अर्थ का अन्वेषण करने पर उसकी अनुपलब्धि' नाममात्र, सङ्केतमात्र आदि का अर्थ है, अन्य अर्थ बिलकुल नहीं हैं। अर्थात् "'नाम' है, किन्तु 'अर्थ' नहीं है या नाम से भिन्न अर्थ नहीं है"—यह नाममात्र का

अर्थ नहीं। आशय यह है कि नाम भी है और अर्थ भी है, किन्तु परीक्षा करने पर उपलब्धि नहीं होती।

इस प्रासङ्गिक मत में नामव्यवहार की आरोपिका बुद्धि (विकल्पों) द्वारा जो अर्थ आरोपित हैं, यद्यपि वे सब व्यवहारतः (संवृतितः) सत् नहीं हैं, (कुछ हैं भी); तथापि नामव्यवहार की आरोपिका बुद्धि द्वारा अस्थापित (अनारोपित) की व्यावहारिक सत्ता भी नहीं मानी जाती। अर्थात् जितने उस बुद्धि द्वारा आरोपित हैं, वे सब यद्यपि संवृतितः (व्यवहारत) सत् नहीं हैं, किन्तु जितने व्यवहारतः सत् हैं, वे सब आरोपितमात्र हैं।

स्वातन्त्रिक माध्यमिक नामव्यवहार की आरोपिका बुद्धि के वश मात्र से रूप, वेदना आदि की व्यावहारिक सत्ता की स्थापना नहीं कर सकते। अपि तु वे अबाधित इन्द्रियज्ञान आदि में प्रतिभास के वश से व्यावहारिक सत्ता की स्थापना करते हैं। ऐसा स्वीकार करने के कारण 'बुद्धि के वश से स्थापित या अस्थापित'—ऐसा दोनों माध्यमिकों के द्वारा कहने पर भी बुद्धि के स्वरूप के बारे में दोनों माध्यमिकों में बड़ा अन्तर है।

स्वातन्त्रिक माध्यमिक 'अबाधित इन्द्रियज्ञान आदि बुद्धि के वश मात्र से स्थापित (आरोपित) न होकर वस्तु अपनी ओर से (स्वतः) या अपनी स्थिति के बल से सत् है कि नहीं'—इस प्रकार की मीमांसा करने से तत्त्व का अन्वेषण होना मानते हैं। वे प्रासङ्गिक सम्मत पूर्वलिखित परीक्षामात्र से तत्त्व का अन्वेषण होना नहीं मानते। अतः वे व्यवहार में स्वलक्षणसत्ता मानते हैं।

आगमों (बुद्धवचनों) में 'संवृतिसत् नाममात्र हैं, सङ्केत मात्र हैं, आरोपित मात्र हैं'—ऐसा अनेकधा कहा गया है। यहाँ 'मात्र' शब्द द्वारा जिसका निषेध किया जाता है, उस निषेध्य के स्वरूप के बारे में भी दोनों माध्यमिकों में बड़ा अन्तर है।

प्रश्न—लोक में गमन, आगमन, उत्पाद आदि व्यवहार होते हैं और उनकी परीक्षाएं भी होती हैं। आपने ऊपर जैसी परीक्षा की है, तदनुसार 'देवदत्त आता है, जाता है, अङ्कुर उत्पन्न होता है'—इत्यादि कहा जा सकता है या नहीं ?

उत्तर—यहाँ लोक में लौकिक परीक्षाएं होती हैं। ऊपर जिस प्रकार की परीक्षा वर्णित है, वह परमार्थ की गवेषणा करनेवाली परीक्षा है। इन दोनों परीक्षाओं में महान् अन्तर है। उसे इस प्रकार समझना चाहिए :

यहाँ 'देवदत्त आता है कि नहीं, अङ्कुर उत्पन्न होता है कि नहीं' इत्यादि के चिन्तन की अवस्था में गन्ता, आगन्ता, गमन, आगमन आदि का व्यवहार आरोपित होने पर उस व्यवहार के आरोप मात्र से सन्तुष्ट न होकर 'वह व्यवहृतार्थ (व्यवहारविषय) किस प्रकार का है' ऐसा सोचकर परीक्षापूर्वक गमन—आगमन के बारे में नहीं पूछा गया है, अपि तु गमन, आगमन के साधारण व्यवहार के प्रवृत्त होने पर साधारण परीक्षा की गई है। अर्थात् लौकिक व्यवहार की लौकिक परीक्षा की गई है। अतः इस प्रकार की परीक्षा के द्वारा परीक्षित अर्थ को स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है।

आरोपण करने वाली (आरोपिका) बुद्धि भी दो प्रकार की होती है, यथा—परिकल्पित आरोपिका बुद्धि और सहज आरोपिका बुद्धि। सिद्धान्तविशेष से प्रभावित बुद्धि 'परिकल्पित आरोपिका' है। इस बुद्धि की वजह से अपने द्वारा मान्य विषय की पुष्टि के लिए तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं और युक्तिपूर्वक विषय सिद्ध किया जाता है। सहज आरोपिका बुद्धि वह है, जो सिद्धान्तविशेष से प्रभावित नहीं होती, अपितु जो सहज (संस्कारवश) प्रवृत्त होती है। ऐसी बुद्धि विना पढ़े—लिखे लोगों में भी होती है, यहाँ तक कि पशु—पक्षी में भी होती है। जैसे 'अहं' के अस्तित्व की बुद्धि पशु, पक्षी, अशिक्षित मनुष्य सब में होती है। यह बुद्धि किसी सिद्धान्त के प्रभाव की वजह से उत्पन्न नहीं होती। अतः इसे 'सहज आरोपिका बुद्धि' कहते हैं।

यहाँ तक परिकल्पित—आरोपिका बुद्धि द्वारा अपने विषय का किस प्रकार ग्रहण किया जाता है, उसका निरुपण किया गया है। अब सहज आरोपिका बुद्धि के ग्रहणप्रकार के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है।

(स.आ) सहज आरोपिका बुद्धि का ग्राह्य और उस बुद्धि द्वारा ग्रहण करने का प्रकार

ऊपर जैसे मीमांसा या अन्वेषण की प्रक्रिया वर्णित है, उस विधि से मीमांसा और अन्वेषण करके स्वलक्षणतः सत्ता या स्वभावतः सत्ता का ग्रहण

करना 'सहज आरोपिका बुद्धि (आत्मदृष्टि) द्वारा ग्रहण करने का प्रकार नहीं है। समस्त प्राणियों को संसारचक्र में आबद्ध करने वाली प्रमुख दृष्टि तो यह 'सहज दृष्टि' ही है । अतः युक्तियों द्वारा इसी का निषेध करना चाहिए । इसलिए इसके द्वारा ग्रहण करने का प्रकार क्या है ? इसका प्रतिपादन किया जा रहा है :

"बाह्य और आध्यात्मिक सभी धर्म मात्र व्यवहार के वश से स्थापित होकर 'सत्' नहीं है, अपि तु स्वभावतः (स्वतः या स्वरूपतः) अर्थात् अपने बल से 'सत्' हैं"—इस प्रकार यह सहज आत्मदृष्टि ग्रहण करती है । यह सहज आत्मदृष्टि यज्ञदत्त, देवदत्त आदि पुद्गलों के प्रति उसी प्रकार अर्थात् 'स्वतः सत्' रूप में ग्रहण करनेवाली 'पुद्गलात्मदृष्टि' है तथा चक्षुष, श्रोत्र, रूप, शब्द आदि धर्मों के प्रति भी उसी रूप में अर्थात् 'स्वतः सत्' रूप में ग्रहण करनेवाली 'धर्मात्मदृष्टि' है । अतः इस दृष्टि द्वारा उस प्रकार से गृहीत 'पुद्गलात्मा' और 'धर्मात्मा' के स्वरूप का भी परिचय कर लेना चाहिए । ऊपर जैसे पुद्गल और धर्मों के व्यवहार के 'व्यवहृत अर्थ' की परीक्षा की गई है, इस सहज आत्मदृष्टि द्वारा 'व्यवहृत अर्थ कैसा है' इस प्रकार की परीक्षा करके ग्रहण नहीं किया जाता, क्योंकि इसके द्वारा आगोपाल नर–नारी, पशु–पक्षी सभी के द्वारा 'आत्मा है, धर्म है'—ऐसा ग्रहण किया जाता है । किन्तु इसके द्वारा धर्म और पुद्गल का जैसे ग्रहण होता है, वैसी ही यदि वस्तुस्थिति भी हो तो इसके द्वारा आरोपित (गृहीत या अध्यस्त) की परीक्षा करने पर उसी रूप में उपलब्धि भी होना चाहिए । अतः परीक्षा करके ग्रहण नहीं करनेवाली (अपरीक्षिका) यह सहज आत्मदृष्टि और इसके द्वारा गृहीत विषय (पुद्गल और धर्म) प्रासङ्गिक माध्यमिक युक्तियों के प्रधान निषेध्य हैं और ग्रन्थों में परीक्षा करके उस प्रकार का निषेध उपलब्ध भी होता है फिर भी इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है । अर्थात् सहज आरोपिका बुद्धि (सहज आत्मदृष्टि) द्वारा विना परीक्षा किये ग्रहण करना और ग्रन्थों में परीक्षा करके उनका निषेध करना—इन दोनों में कोई विरोध नहीं है ।

सिद्धान्तविशेष की वज़ह से जिनकी बुद्धि प्रभावित नहीं है—ऐसे पुद्गलों (व्यक्तियों) में तथा नाम और सङ्केत को नहीं जानने वाले पुद्गलों में परिकल्पित आरोपिका (व्यवहार–आरोपिका) बुद्धि द्वारा अनारोपित और सहज आरोपिका बुद्धि द्वारा आरोपित (स्थापित) सत्ता के नाम और अर्थ के सम्बन्ध को जाननेवाली बुद्धि नहीं हो सकती, फिर भी उस प्रकार की सत्तादृष्टि होती है ।

जैसे घट सङ्केत को नहीं जानने वाले प्राणियों में भी घट अर्थ के अस्तित्व का बोध होता है ।

सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक और योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक इन दोनों मतों में पुद्गल और धर्मों में जिस निषेध्य (पुद्गलात्मा और धर्मात्मा) का निषेध करने से नैरात्म्य (पुद्गल नैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य) की स्थापना की जाती है, उन दोनों पुद्गलात्मा और धर्मात्मा में तथा उनमें अभिनिवेश करने के प्रकार में अत्यन्त भेद माना जाता है । अर्थात् ये दोनों मत पुद्गलात्मा और धर्मात्मा के स्वरूप और उनके प्रति अभिनिवेश के प्रकार में बड़ा भेद मानते हैं । अर्थात् दोनों आत्माओं के स्वरूप और उसके प्रति अभिनिवेश के प्रकार में भेद को दोनों मतवादी समान रूप से मानते हैं । किन्तु प्रासङ्गिक माध्यमिक धर्मी (आधार) के भेदमात्र की दृष्टि से दोनों नैरात्म्यों में भेद मानते हैं । नैरात्म्य के निषेध्य धर्मात्मा और पुद्गलात्मा के स्वरूप में कोई तात्त्विक भेद नहीं मानते ।

प्रश्न—आपने कहा है कि स्वयूथ्य वैभाषिक से लेकर स्वातन्त्रिक माध्यमिक सभी दार्शनिक प्रमाणतः सिद्ध सभी अर्थों की स्वलक्षणतः सत्ता मानते हैं । किन्तु जहाँ तक योगाचार दार्शनिकों का प्रश्न है, वे तो रूप आदि (परतन्त्र) में आरोपित स्वभाव एवं विशेष की परिकल्पित सत्ता मानते हैं । अर्थात् उनके द्वारा उनकी स्वलक्षणसत्ता का निषेध किया जाता है और उनकी परिकल्पित सत्ता मानी जाती है । ऐसी स्थिति में क्या आपके कथन में त्रुटि नहीं है ?

उत्तर—त्रुटि नहीं है । योगाचार जिस स्वलक्षणसत्ता का निषेध करते हैं, उसकी 'नाम और सङ्केत द्वारा स्थापना की जा सकती है'—इतना मात्र अर्थ है । वे नाम और सङ्केत के द्वारा आरोपित (व्यवहृत) की खोज करने पर उसकी अनुपलब्धि नहीं मानते । अतः प्रासङ्गिकसम्मत स्वलक्षणदृष्टि तो उनमें होती है । योगाचार साहित्य में यद्यपि स्वभाव और विशेष के रूप में आरोपित को नाममात्र कहा गया है, तथापि उसका अर्थ मात्र इतना है कि 'स्वभाव के रूप में और विशेष के रूप में आरोपित (परतन्त्र) में और आरोप करनेवाली आरोपिका बुद्धि में जैसे भिन्नता का प्रतिभास होता है, वैसी वस्तुस्थिति नहीं है । यही नाममात्र होने का उनके अनुसार अर्थ है । फलतः प्रासङ्गिकसम्मत 'नाममात्र' एवं योगाचारसम्मत 'नाममात्र' में बहुत अन्तर है ।

(श) श्रावकपिटक में धर्मनैरात्म्य उपदिष्ट है—इसका प्रतिपादन

योगाचार और स्वातन्त्रिक माध्यमिक दोनों इस बात में सहमत हैं कि हीनयानपिटक में धर्मनैरात्म्य उपदिष्ट नहीं है तथा पुद्गलनैरात्म्य का स्वरूप जैसे श्रावकों ने प्रतिपादित किया है, उससे अधिक महायान में नहीं है।

आचार्य बुद्धपालित ने अपनी मध्यमकस्ववृत्ति में कहा है कि हीनयान में भी धर्मनैरात्म्य उपदिष्ट है, क्योंकि भगवान् ने कहा है :

एतद्धि भिक्षवः, परमं सत्यं यदुत अमोषधर्मं निर्वाणम्, सर्वसंस्काराश्च मृषा मोषधर्माण इति । तथा च—नास्त्यत्र तथता वा अवितथता वा । मोषधर्मकमप्येतत्, प्रलोपधर्मकमप्येतत्, मृषाप्येतत्, मायेयं बाललापिनी इति ।

(प्रसन्नपदा मूलमाध्यमिककारिकाटीका, पृ० १३)

अर्थात् अमोषधर्मक निर्वाण ही परम सत्य है। सभी संस्कार मृषा और मोषधर्मक हैं। इन (संस्कारों) में तथता (सस्वभावता), अविपरीतता नहीं है। यह सब कुछ मृषा है, मोषधर्मक है और नाशस्वभाव हैं और बाल—पृथग्जनों को भासित होने वाली माया है।

इसी तरह उन्होंने (भगवान् ने) पुनः कहा है :

फेनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदोपमा ।
मरीचिसदृशी संज्ञा संस्काराः कदलीनिभाः ।
मायोपमं च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना ॥

(संयुक्तनिकाय, २-३, पृ० ३६०)

अर्थात् रूपस्कन्ध फेनपिण्ड के समान, वेदना बुलबुले के समान, संज्ञा मृगमरीचिका के समान, संस्कार कदलीस्तम्भ के समान तथा विज्ञान माया के समान है।

धर्मनैरात्म्य

आचार्य बुद्धपालित का कहना है कि इन सब वचनों के द्वारा भगवान् ने सभी धर्मों को अनात्म कहा है। उन्हें माया, मरीचि, स्वप्न एवं प्रतिबिम्ब की तरह कहा है। इन सभी संस्कारों में तथता अर्थात् सस्वभावता नहीं है, सभी मिथ्या और प्रपञ्चात्मक है—ऐसा कहा है। बुद्धपालित कहते हैं कि यहाँ

'अनात्म' शब्द निःस्वभाव के अर्थ में है, क्योंकि 'आत्मा' शब्द स्वभाववाची है। इसलिए 'सभी धर्म अनात्म हैं' का अर्थ 'सभी धर्म निःस्वभाव हैं'—यह होता है। उपर्युक्त बुद्धवचन हीनयानपिटक में भी हैं, अतः वहाँ भी धर्मनैरात्म्य प्रतिपादित हैं। आचार्य चन्द्रकीर्ति भी बुद्धपालित के उपर्युक्त व्याख्यान से सहमत हैं। उनका भी कहना है कि श्रावकपिटक में भी धर्मनैरात्म्य प्रतिपादित है। इस बात का प्रतिपादन उन्होंने अपनी युक्तिषष्टिका—टीका में विस्तारपूर्वक किया है।

आचार्य भावविवेक का कहना है कि माया, मरीचि, स्वप्न, प्रतिबिम्ब आदि उदाहरणों के द्वारा हीनयानी श्रावकों के मतानुसार पुद्गलनैरात्म्य का निर्देश किया गया है, न कि धर्मनैरात्म्य का। 'आत्मा' शब्द धर्मस्वभाववाची नहीं, अपितु पुद्गलात्मवाची है।

आचार्य भावविवेक पुनः कहते हैं कि यदि श्रावकयान में भी धर्मनैरात्म्य का प्रतिपादन माना जाएगा तो महायान के व्यर्थ होने का प्रसङ्ग होगा। इस प्रकार वे आचार्य बुद्धपालित के व्याख्यान का खण्डन करते हैं।

आचार्य चन्द्रकीर्ति आचार्य भावविवेक के इस कथन का निरास करते हैं कि 'यदि श्रावकयान में भी धर्मनैरात्म्य प्रतिपादित होगा तो महायान के व्यर्थ होने का प्रसङ्ग होगा। अपने मध्यमकावतारभाष्य में उन्होंने स्पष्टरूप से कहा है कि महायान की व्यर्थता का प्रसङ्ग बिलकुल नहीं है, क्योंकि महायान में केवल धर्मनैरात्म्य ही उपदिष्ट नहीं है, अपि तु भूमि, पारमिता, प्रणिधान, संवर आदि अनेक विशिष्ट धर्म उपदिष्ट हैं, अतः महायान व्यर्थ नहीं है। अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने आर्य नागार्जुन की रत्नावलि के अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।

अपि च,

कात्यायनाववादे च अस्ति नास्तीति चोभयम् ।
प्रतिषिद्धं भगवता भावाभावविभाविना ॥

(मध्यमकशास्त्र, १५.७)

तथा

तन्मृषा मोषधर्मं यद् भगवानित्यभाषत ।
सर्वे च मोषधर्माणः संस्कारास्तेन ते मृषा ॥

(मध्यमकशास्त्र, १३.१)

अर्थात् भाव और अभाव को जाननेवाले भगवान् ने कात्यायनाववादसूत्र में भावों के सत्त्व, और असत्त्व और सदसत्त्व का निषेध किया है ।

तथा

जो भगवान् ने (धर्मों को) मृषा और मोषधर्मक (विसंवादित) कहा है, फलतः सभी संस्कार मृषा और मोषधर्मक हैं ।

इन उपर्युक्त कारिकाओं के द्वारा भगवान् ने सभी संस्कार धर्मों को विसंवादित (अर्थात् वे जैसे प्रतीत होते हैं, वैसा उनका वास्तविक स्वरूप नहीं होता)—कहा है, इसलिए वे मिथ्या है । नागार्जुन का कहना है कि यहाँ 'मिथ्या' का अर्थ 'स्वभावतः शून्य होना' है । यदि इससे विपरीत अर्थ किया जाता है तो नागार्जुन उसमें अनेक आक्षेप प्रदर्शित करते हैं और 'मिथ्या' को 'स्वभावशून्यता' के अर्थ में निश्चित करते हैं । अतः 'हीनयानपिटक में भी धर्मनैरात्म्य निर्दिष्ट है'—नागार्जुन के इस अभिप्राय को अवश्य स्वीकार करना चाहिए ।

प्रासङ्गिक माध्यमिकों का कहना है कि यद्यपि हीनयान पिटक में धर्मनैरात्म्य उपदिष्ट है, फिर भी हम ऐसा नहीं कहते कि हीनयान पिटक में सभी धर्मों को स्वलक्षणतः सत् नहीं ही कहा गया है । अपि तु दोनों बातें कही गई हैं । स्वलक्षणसत्ता तो अनेक बार कही गई है ।

पुद्गलनैरात्म्य

वैभाषिक से लेकर स्वातन्त्रिक माध्यमिक पर्यन्त सभी स्वयूथ्य सिद्धान्तवादियों के मत में यह माना जाता है कि 'पुद्गल स्कन्धों से भिन्न लक्षणवाला, स्वतन्त्र एवं द्रव्यसत् नहीं है' । इसे (पृथक् द्रव्यतः सत्ता के अभाव को) ही वे 'पुद्गलनैरात्म्य' कहते हैं ।

उनका यह भी कहना है कि आत्मदृष्टि 'अहम्' के आश्रय (आधार) आत्मा को स्कन्धों के स्वामी की भाँति तथा स्कन्धों को उसके दास की भाँति ग्रहण करती है । क्योंकि 'मेरा रूप, मेरी वेदना, मेरी संज्ञा' इत्यादि प्रकार से ग्रहण किया जाता है, इसलिए वे स्कन्ध उस आत्मा के हैं और इसीलिए वे आत्मा के अधीन हैं । इसलिए आत्मदृष्टि पाँचों स्कन्धों को आत्मा के अधीन रूप में ग्रहण करती है । अतः स्वामी की भाँति, स्कन्धों से पृथक् लक्षण वाले, स्वतन्त्र आत्मा का जैसा अवभास (प्रतीति) होता है तथा उसी के अनुरूप उसका 'सत्' के रूप में जो अभिनिवेश किया जाता है, वैसा अभिनिवेश ही पुद्गल को 'द्रव्यसत्' ग्रहण करने का आकार—प्रकार है । पुद्गल की उस प्रकार की द्रव्यसत्ता का खण्डन हो जाने पर 'पुद्गल' स्कन्धों में उपचरितमात्र या आरोपित मात्र रह जाता है । 'मात्र' शब्द द्वारा पुद्गल की स्कन्धों से भिन्नार्थता का निषेध किया जाता है ।

आचार्य भावविवेक अपने 'तर्कज्वाला' नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि "व्यवहार में विज्ञान में ही आत्मा का उपचार किया जाता है, क्योंकि विज्ञान ही पुनर्भव का उपादान करता है । अतः वही (विज्ञान ही) आत्मा है—इस प्रकार शरीरेन्द्रियसमूह में उपचार होता है' । अपने इस कथन की पुष्टि में वे :

यथा पि अङ्गसम्भारा होति सद्दो रथो इति ।
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तो ति सम्मुति ॥

(संयुक्तनिकाय, सगाथवग्ग, वजिरासुत्त, पृ० १३५)

[अर्थात् जैसे रथ के (चक्र, नेमि, धुरा आदि) अङ्गों में 'रथ' इस प्रकार की शब्दप्रज्ञप्ति होती है, उसी प्रकार स्कन्धों के होने पर 'सत्त्व' इस प्रकार की प्रज्ञप्ति होती है ।] इस आगम को प्रस्तुत करते हैं । इसी प्रकार वे पुनः :

"चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं"

(धम्मपद, चित्तवग्ग)

[अर्थात् चित्त का दमन अच्छा है, क्योंकि दान्त (दमन किया हुआ) चित्त सुखावह (सुख लानेवाला) होता है ।]

इस आगम को प्रस्तुत करते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि विज्ञान (चित्त) में ही आत्मा का उपचार होता है । क्योंकि आत्मा पुनर्भव में स्कन्धों का समादान करने वाला माना जाता है और विज्ञान ही पुनर्भव का समादान करता

है, अतः विज्ञान ही आत्मा है—यह कहना सर्वथा युक्तियुक्त है । विज्ञान को ही आत्मा सिद्ध करने के लिए वे प्रमाण प्रस्तुत करते हैं ।

ज्ञात है कि आचार्य भावविवेक आलयविज्ञान नहीं मानते । अतः जिस विज्ञान में वह आत्मा का उपचार मानते हैं, वह विज्ञान 'मनोविज्ञान' ही है । जितने भी बौद्ध दार्शनिक आलयविज्ञान नहीं मानते, वे सभी इसी प्रकार मानेंगे । अर्थात् उन्हें मनोविज्ञान को आत्मा के उपचार का आश्रय (आधार) मानना पड़ेगा । जो दार्शनिक आलयविज्ञान मानते हैं, वे आलयविज्ञानसन्तति को ही पुद्गल मानते हैं । वे लोग उसी प्रकार के पुद्गल को मानने के पक्ष में अनेक आगम और युक्तियां प्रस्तुत करते हैं । विस्तार भय से हम उन्हें छोड़ रहे हैं ।

आचार्य चन्द्रकीर्ति का कहना है कि उस प्रकार के स्कन्धों से भिन्न, स्वतन्त्र, द्रव्यसत् आत्मा का खण्डन हो जाने पर भी व्यवहार में उपचरितमात्र पुद्गल के अलावा उसकी स्वभावसत्ता का खण्डन नहीं हो सकेगा । उस प्रकार की स्वभावसत्ता का खण्डन न होने से वह दृष्टि पुद्गलसत्यतादृष्टि या पुद्गलसस्वभावतादृष्टि है । अर्थात् पुद्गलात्मदृष्टि ही है । जैसे घट आदि की सस्वभावता दृष्टि धर्मात्मदृष्टि होती है, वैसे पुद्गल की सस्वभावता दृष्टि पुद्गलात्मदृष्टि होती है । इसका खण्डन तो आप (भावविवेक आदि) के द्वारा हुआ नहीं । कहने का आशय यह है कि आपने स्कन्धों से भिन्न लक्षण, स्वतन्त्र, द्रव्यसत् पुद्गल का खण्डन किया है और उस प्रकार के पुद्गल का खण्डन (निषेध) हो भी जाता है, फिर भी इतने मात्र से पुद्गलनिःस्वभावता या निःस्वभाव पुद्गल सिद्ध नहीं होता, क्योंकि आपके निषेध (खण्डन) का विषय अर्थात् आपका निषेध्य पुद्गल की स्वभावसत्ता (पुद्गलसस्वभावता) नहीं थी, अतः उसका खण्डन नहीं हुआ । खण्डन न होने से पुद्गलसस्वभावता दृष्टि अवशिष्ट ही रह गई । अर्थात् पुद्गलात्मदृष्टि अवशिष्ट रह गई ।

अपि च, उक्त प्रकार का स्कन्धों से भिन्न, स्वतन्त्र, द्रव्यसत् आत्मा तो तैर्थिकों द्वारा कल्पित आत्मदृष्टि का विषय होता है । प्रत्यक्षतः उसका अभाव जान कर उस अभाव की भावना (अभ्यास) करने पर भी रूप आदि धर्मों के प्रति जो पहले से विद्यमान सत्यतादृष्टि है, उसका किञ्चित् मात्र क्षय नहीं होगा । अर्थात् रूपादि के प्रति विद्यमान सस्वभावता दृष्टि किञ्चित् मात्र भी क्षीण नहीं होगी । उसके क्षीण न होने से उस सत्यतादृष्टि से उत्पन्न राग आदि क्लेशों की

कथमपि निवृत्ति नहीं होगी । यह बात मध्यमकावतारभाष्य, युक्तिषष्टिकावृत्ति, चतुःशतक मूल और उसकी वृत्ति (चन्द्रकीर्तिकृत) में विस्तारपूर्वक वर्णित है । विशेष जानकारी के लिए उनका अवलोकन करना चाहिए ।

उपर्युक्त भावविवेक आदि आचार्यों द्वारा जिस प्रकार पुद्गलसमारोप की स्थापना की जाती है, वह श्रावकपिटक में कथित **"यथापि अङ्गसम्भारा होति सद्दो रथो इति"** इस वचन के अनुकूल भी नहीं है । क्योंकि उस वचन के अनुसार तो जैसे चक्र, नेमि, धुरा आदि अङ्गों को आश्रय बना कर समारोपित रथ 'रथाङ्ग' नहीं है, वैसे ही स्कन्धों को आश्रय बनाकर समारोपित पुद्गल भी 'स्कन्ध' नहीं है, किन्तु आप (भावविवेक) ने तो विज्ञानस्कन्ध को पुद्गल कहा है ।

यद्यपि अङ्गसमूह को आधार बनाकर समारोपित रथ चक्र, नेमि, धुरा आदि कोई अङ्ग नहीं है, तथापि अङ्गसमूह को 'रथ' कहा जाता है, उसी प्रकार स्कन्धसमूह 'पुद्गल' है । यदि ऐसा कहा जाए तो इसमें क्या आपत्ति है ?

यह भी अयुक्त है । क्योंकि समारोपित धर्म अर्थात् पुद्गल आश्रय (स्कन्ध) नहीं हो सकता तथा आश्रय (स्कन्धसमूह) समारोपित धर्म 'पुद्गल' नहीं हो सकता । जैसे महाभूतों को आश्रय (हेतु) बनाकर नील, चक्षुष् आदि समारोपित है । इस अवस्था में महाभूत कभी भी नील, चक्षुष् आदि नहीं होते और न तो नील, चक्षुष् आदि ही महाभूत होते हैं । ठीक वैसे ही 'घट' आदि धर्म भी पुद्गल की भाँति अपने अङ्गों (अवयवों) में आरोपित मात्र हैं । सूत्रों में कथित 'स्कन्धों को आश्रय करके आत्मा प्रज्ञप्त है' इत्यादि वचनों से स्कन्धों का संघात (समूह) आत्मा नहीं है, यही सिद्ध होता है ।

जिज्ञासा—यदि कोई कहे कि सूत्रों में :

"ये केचिद् भिक्षवः, श्रमणा वा ब्राह्मणा वा आत्मेति समनुपश्यन्तः समनुपश्यन्ति, त इमानेव पञ्चोपादानस्कन्धान्" (पुद्गलविनिश्चय, अभिधर्मकोश, पृ० १२०४, बौद्धभारती संस्करण) ।

अर्थात् जो श्रमण और ब्राह्मण आत्मा और आत्मीय (के बारे में सोचते हुए, उन) को देखते हैं, वे इन पाँच स्कन्धों को ही आत्मा और आत्मीय के रूप

में देखते हैं । जो ऐसा कहा गया है, उसके द्वारा स्कन्ध ही आत्मदृष्टि के आलम्बन कहे गये हैं । अतः वे ही आत्मा हैं ?

समाधान—'वे पाँच स्कन्धों में ही देखते हैं'—इस वचन के द्वारा स्कन्ध मुख्य रूप से आत्मदृष्टि के आलम्बन निर्दिष्ट नहीं हैं, अपितु स्कन्धों से भिन्न, स्वतन्त्र, 'आत्मा' नामक अर्थ के आत्मदृष्टि के आलम्बन होने का निषेध किया गया है । 'एव' शब्द द्वारा उसी का निवारण किया गया है । अन्य सूत्रों में '**रूपं नात्मा रूपवान्नापि चात्मा रूपे नात्मा नात्मनि रूपं . . . . एवं यावद् विज्ञानं नात्मा विज्ञानवान्नात्मा विज्ञाने नात्मा नात्मनि विज्ञानम्**' इत्यादि द्वारा भी प्रत्येक स्कन्ध के आत्मा होने का निषेध किया गया है । इसी युक्ति के आधार पर जिसे 'सत्कायदृष्टि' कहा गया है, उसका अर्थ भी जान लेना चाहिए ।

उन उपर्युक्त सूत्रों द्वारा सहज अहंकार दृष्टि के जो आलम्बन और आकार दो होते हैं, उनमें से आलम्बन–विषय (अहम्) की व्यावहारिक सत्ता का निरूपण किया गया है । सहज आत्मदृष्टि 'आत्मा स्वलक्षणतः सत् है'—इस प्रकार ग्रहण करती है, 'स्वलक्षणतः सिद्ध आत्मा' जो उस (सहज आत्मदृष्टि) का विषयाकार है, उसकी व्यवहारतः भी सत्ता नहीं होती । अर्थात् वह विषयाकार व्यवहार में भी सत् नहीं है ।

इसी तरह आत्मीय (ममकार) सहज सत्कायदृष्टि के जो आत्मीय (पदार्थ) आलम्बन हैं, उनकी व्यावहारिक सत्ता होती है । 'वे आत्मीय स्वलक्षणतः सत् हैं—इस प्रकार जो आत्मीय सहज सत्काय दृष्टि ग्रहण करती है । उन आत्मीय धर्मों की स्वलक्षणः सत्ता, जो उसका विषयाकार है, उसकी व्यवहारतः भी सत्ता नहीं है ।

जिज्ञासा—सहज अहंकार दृष्टि के आलम्बन यदि स्कन्ध—नहीं होंगे तो सूत्रों में 'रूपं नात्मा. . .' (रूप आत्मा नहीं है) इत्यादि रूप में जो आत्मनिषेध किया गया है, वह युक्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि वे स्कन्ध आत्मदृष्टिरूपी सहज सत्कायदृष्टि के विषय या आधार (आश्रय) नहीं हो सकेंगे ?

समाधान—स्कन्ध और आत्मा में एकता (अभिन्नता) और भिन्नता की दोनों दृष्टियाँ परिकल्पित दृष्टियाँ हैं, न कि सहज आत्मदृष्टि, अतः दोष नहीं है । फिर भी जिस रूप में वे सहज आत्मदृष्टि द्वारा गृहीत हैं, उसी रूप में सत् हों तो

भिन्न या अभिन्न होने से अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की सत्ता नहीं हो सकती । इसलिए सूत्रों द्वारा '**नास्ति रूपम् आत्मा**' इत्यादि प्रकार से परीक्षा करके खण्डन करना युक्तियुक्त है ।

उपर्युक्त सभी निरूपण आगम द्वारा बाधित नहीं हैं, अपितु आगम द्वारा सिद्ध हैं—इस बात का ऊपर प्रतिपादन किया गया है । अब 'आत्मा नहीं है'—इसका युक्ति द्वारा निरूपण किया जा रहा है, तथा हि :

स्कन्ध आत्मा के उपादेय होते हैं और आत्मा स्कन्धों का उपादाता होता है । इसलिए विज्ञान का या किसी अन्य स्कन्ध का आत्मा होना सर्वथा अयुक्त है, अन्यथा अर्थात् स्कन्ध ही आत्मा होंगे तो कर्ता और कर्म के एक होने (एकत्व) का प्रसङ्ग होगा । आर्य नागार्जुन ने इस अभिप्राय को निम्नकारिका द्वारा व्यक्त किया है, यथा :

"यदिन्धनं स चेदग्निरेकत्वं कर्तृकर्मणोः" ।

(मूलमाध्यमिककारिका १०.१)

अर्थात् जो इन्धन है, यदि वही अग्नि होगा तो कर्ता और कर्म का एकत्व हो जाएगा ।

अग्नि और इन्धन की परीक्षा द्वारा आत्मा और उस के उपादान अर्थात् स्कन्धों के उपादेय होने का क्रम व्याख्यात हो जाता है । साथ ही, घट, पट, आदि सभी का क्रम ज्ञात हो जाता है, यथा :

अग्नीन्धनाभ्यां व्याख्यात आत्मोपादानयोः क्रमः ।
सर्वो निरवशेषेण सार्धं घटपदादिभिः ॥

(मूलमाध्यमिककारिका १०.१५)

अपि च,

एवं विद्यादुपादानम्

(मूलमाध्यमिककारिका ८.१३)

अर्थात् इसी प्रकार उपादान को जानना चाहिए ।

इस प्रकार कर्म और कर्ता सभी परस्पर की अपेक्षा से अर्थात् सापेक्षतया स्थित हैं । उनकी स्वभावतः सत्ता नहीं है । इसी तरह उपादान और उपादाता की स्थापना करना चाहिए ।

जब 'चक्षुष् द्वारा रूप देखा जाता है'—तब यज्ञदत्त ने रूप देखा—ऐसा कहा जाता है । जब यज्ञदत्त द्वारा रूप देखा जाता है, तब 'चक्षु ने रूप देखा'—ऐसा कहा जाता है । किन्तुं रूप देखने वाला 'चक्षु' यज्ञदत्त नहीं है और रूप देखनेवाला 'यज्ञदत्त' भी चक्षु नहीं है । फिर भी इन दोनों में विरोध नहीं है ।

इसी प्रकार चक्षु में व्याधि होने या नीरोगता होने पर क्रमशः मैं (अहं) रोगी हूँ या नीरोग (स्वस्थ) हूँ—इस प्रकार व्यवहार किया जा सकता है तथा मेरा चक्षु रोगग्रस्त या नीरोग है—ऐसा व्यवहार भी किया जा सकता है । किन्तु उसी चक्षु को आत्मा के रूप में या आत्मीय के रूप में लोकव्यवहार में व्यवस्थापित नहीं किया जाता । इसी विधि द्वारा बाह्य और आध्यात्मिक अवशिष्ट आयतन और आत्मा दोनों की एक की अपेक्षा से दूसरे की व्यवस्था भी जान लेना चाहिए ।

यहाँ तैर्थिक लोग चक्षु आदि धर्मों की पुद्गल के रूप में व्यवस्था करने में अयुक्तता को देख कर चक्षु आदि से द्रव्यतः भिन्न द्रष्टा आदि स्वीकार करते हैं । स्वयूथ्य प्रासंगिकेतर सिद्धान्तवादी बौद्ध उस द्रव्यतः भिन्न पुद्गल में दोष देखकर विज्ञान या अन्य स्कन्धों को 'पुद्गल' स्वीकार करते हैं । बुद्धवचनों के अभिप्राय को अविपरीत रूप से जानने वाले प्रासङ्गिक मतानुयायी तो 'व्यवहार में प्रज्ञप्तिमात्र से पृथक् (अतिरिक्त) स्वभाव की सत्ता नहीं है'—ऐसा जानकर मुक्त हो जाते हैं । उस आरोपितमात्र में ही कर्म का सञ्चय करने वाले और उसको भोगनेवाले आदि सभी की सुचारुतया व्यवस्था हो जाती है—ऐसा जानना चाहिए ।

"**यथापि अङ्गसम्भारा होति सद्दो रथो इति**" इत्यादि वचनों का अभिप्राय मध्यमकावतार और उसके भाष्य में जिस प्रकार निर्णीत है, उसी प्रकार सात प्रकार के पुद्गलव्यवहार के व्यवहृतार्थ की खोज करने पर भी उपलब्ध नहीं होने से उसकी निःस्वभावता ही 'पुद्गलनैरात्म्य' कही जाती है ।

अतः अन्य लोगों की व्याख्या से इस व्याख्यान में बहुत अन्तर है और यही बुद्धपालित की वृत्ति का वास्तविक अभिप्राय है ।

(ख) निषेध की इस विशेषता के द्वारा आर्य नागार्जुन के अभिप्राय को व्यक्त करने का असाधारण प्रकार

इस विषय का भी निम्नलिखित तीन उपशीर्षकों में विभाजन करके प्रतिपादन किया जा रहा है :

(क्ष) नैरात्म्य का अवबोध एवं स्थूल और सूक्ष्म आत्मदृष्टि की असाधारण विशेषता

(त्र) बाह्य अर्थ की स्थापना करके आलयविज्ञान और स्वसंवेदन के अस्वीकार की असाधारण विशेषता

(ज्ञ) स्वतन्त्र हेतु के अस्वीकार की असाधारण विशेषता

(क्ष) नैरात्म्य का अवबोध एवं स्थूल और सूक्ष्म आत्मदृष्टि की असाधारण विशेषता

उपर्युक्त प्रकार से 'आत्मा' और 'धर्म' के व्यवहार के व्यवहृत अर्थ की एक–अनेकयुक्ति द्वारा गवेषणा (खोज) करने पर उनकी 'एक' या 'अनेक' किसी भी रूप में उपलब्धि नहीं होती, फिर भी 'यह देवदत्त है' 'यह चक्षु है' इत्यादि व्यवहार की लोक में स्थापना अवश्य करनी चाहिए, क्योंकि इसी के आधार पर सारे जगत्–व्यवहार चलते हैं । खोजने पर उपलब्ध होनेवाले धर्मों के आधार पर जगत्–व्यवहार नहीं चला करता । अतः व्यवहार के वश से विना स्थापित (अनारोपित) स्वभाव का न होना (परमार्थ सत्य) तथा व्यवहार के वश से स्थापित (आरोपित) स्वभाव (सत्ता) का होना (संवृति सत्य) और उसमें संसार एवं निर्वाण की सारी व्यवस्थाएं युक्तियुक्त ढंग से की जाती हैं । दोनों सत्यों की इस प्रकार की स्थापना आचार्य बुद्धपालित और चन्द्रकीर्ति ने आर्य नागार्जुन और आर्यदेव के अभिप्राय के रूप में की है और यही आचार्य भावविवेक और शान्तरक्षित आदि माध्यमिक आचार्यों से इनकी विशेषता है ।

व्यावहारिक अस्तित्व एवं व्यावहारिक उत्पाद आदि व्यावहारिक बुद्धि द्वारा उपचरित हैं । अत एव सूत्रों में उक्त है कि 'लोक में उत्पत्ति, स्थिति एवं भङ्ग आदि सब व्यवहार के बल से होते हैं । सत्यतः किसी भी धर्म की उत्पत्ति, स्थिति आदि नहीं होते । इसीलिए महाकारुणिक तथागत ने लोक को भय से मुक्त करने के लिए उत्पत्ति, स्थिति आदि सभी की देशना की है' । और भी, आर्य नागार्जुन ने भी शून्यतासप्तति में कहा है कि 'भगवान् ने उत्पत्ति, स्थिति, भङ्ग, अस्ति, नास्ति, हीन, मध्यम और उत्तम आदि सब की देशना लोकव्यवहार के वश से की है, तत्त्वतः नहीं । यथा :

उत्पादस्थितिभङ्गास्तिनास्तिहीनसमोत्तमम् ।
लौकिकव्यवहारात्तु बुद्धेनोक्तं न तत्त्वतः ॥

(शून्यतासप्तति, का० – १ तिब्बती संस्थान)

जननी (प्रज्ञापारमिता)—सूत्रों में अनेक बार अनेक स्थलों पर कहा गया है कि 'सभी धर्म लौकिक व्यवहार की दृष्टि से ही सत् हैं, उन्हीं वचनों के आधार पर माध्यमिक सभी धर्मों की व्यावहारिक सत्ता स्थापित करते हैं । वह इस प्रकार है—लोक में बीज से अङ्कुर के उत्पाद की व्यवस्था की जाती है । किन्तु इस व्यवहार के व्यवहृत अर्थ की 'यह अङ्कुर स्वतः उत्पन्न है कि परतः या उभयतः या अहेतुतः उत्पन्न है' ऐसी परीक्षा करके व्यवस्था नहीं की जाती, जैसे कि आर्य नागार्जुन ने मूलमाध्यमिककारिका में कहा है :

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥

(द्र० –मूलमाध्यमिककारिका, का० १ : ३)

इस प्रकार विना परीक्षा किये व्यवहार की स्थापना करना, नागार्जुन का अभिमत है । विना परीक्षा किये व्यवहार की स्थापना का तात्पर्य एवं उसका प्रकार पुद्गल–व्यवहार की स्थापना के अवसर पर जैसा वर्णित है, उसी प्रकार जानना चाहिए । पाँच स्कन्धों से भिन्न, स्वतन्त्र द्रव्यसत् रूप में पुद्गल की स्थापना करना अथवा पाँच स्कन्धों के समूहमात्र की पुद्गल के रूप में स्थापना करना, लौकिक व्यवहार का अर्थ नहीं है, क्योंकि लोक में तो आत्मा और आत्मीय (अर्थात् पुद्गल और स्कन्ध) स्वामी एवं दास की भाँति व्यवहृत होते हैं ।

पुद्गल और धर्म की निरात्मकता और उनकी व्यावहारिक सत्ता का स्वरूप उक्त प्रकार का ही होने से जब तक स्वसिद्धान्त के प्रभाव से मन में धर्मात्मा (धर्म स्वभाव) के अस्तित्व (सत्ता) के प्रति स्वीकृति का भाव रहेगा, तब तक पुद्गलनैरात्म्य ज्ञान भी नहीं हो सकेगा । आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपने मध्यमकावतारभाष्य में कहा है कि 'जब तक धर्म के प्रति आत्मदृष्टि निवृत्त नहीं होती, तब तक पुद्गलनैरात्म्य ज्ञान नहीं होता' । अतः श्रावक और प्रत्येकबुद्ध में भी दोनों नैरात्म्यों का ज्ञान होना ही चाहिए (अर्थात् होता है) । ऊपर वर्णित आशय केवल आचार्य चन्द्रकीर्ति का ही नहीं है, अपितु आर्य नागार्जुन ने भी युक्तिषष्टिका में कहा है :

न चैवास्तितया मोक्षो भवादस्मान्न नास्तितः ।
भावाभावपरिज्ञानान्महात्मा हि विमुच्यते ॥

(युक्तिषष्टिका का०. ४ संस्कृत छाया)

अर्थात् भावदृष्टि और अभावदृष्टि से संसार से मोक्ष नहीं होता । भाव और अभाव के सम्यक् परिज्ञान से ही महात्मा (बोधिसत्त्व) मुक्त होते हैं ।

आशय यह है कि सभी धर्मों को स्वलक्षणतः सत् ग्रहण करना 'सत्–दृष्टि' है तथा कार्यकारणभाव (या हेतुफलभाव) को अयुक्त देखना 'असत्–दृष्टि' है । जब तक इन दोनों दृष्टियों से छुटकारा नहीं मिलेगा, तब तक मोक्ष सम्भव नहीं है, अपि तु अन्तद्वय से रहित भाव और अभाव की तथता के परिज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है । ऊपर की कारिका में प्रयुक्त '**विमुच्यते**' (मुक्त होता है) शब्द ज्ञेयावरण से मुक्त होने के अर्थ में नहीं है, क्योंकि द्वितीय पाद के '**भवादस्मात्**' (इस भव से) यह पद 'संसार से विमुक्त होने' के अर्थ में प्रयुक्त है । इसी प्रकार आर्य नागार्जुन ने 'रत्नावलि' में कहा है :

मरीचिप्रतिमं लोकमेवमस्तीति गृह्णतः ।
नास्तीति चापि मोहोऽयं सति मोहे न मुच्यते ॥
नास्तिको दुर्गतिं याति सुगतिं याति चास्तिकः ।
यथाभूतपरिज्ञानान्मोक्षमद्वयनिश्रितः ॥

(रत्नावलि १:५६–५७)

अर्थात् मृगमरीचिका के समान इस लोक को 'सत्' रूप में या 'असत्' रूप में ग्रहण करनेवाले का उस प्रकार ग्रहण करना 'मोह' ही है और मोह के विद्यमान रहते मुक्ति (सम्भव) नहीं है।

नास्तिक दुर्गति को प्राप्त करता है तथा आस्तिक सुगति को प्राप्त करता है, किन्तु यथाभूत (तथता) के परिज्ञान से अद्वय (तत्त्व) में आश्रित व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है।

इस प्रकार संसार से मुक्ति के लिए अस्ति और नास्ति इन दोनों अन्तों से रहित होना नितान्त आवश्यक है। ऐसी स्थिति में आत्मदृष्टि (आत्मग्राह) क्लेशावरण और ज्ञेयावरण इन दो आवरणों में किस आवरण के अन्तर्गत गृहीत होगी ? इस विषय में दूसरे माध्यमिकों (भावविवेक और शान्तरक्षित आदि) से इस प्रासङ्गिक मत की अत्यधिक विशेषता (भिन्नता) है। अन्य माध्यमिकों द्वारा जो धर्मात्मदृष्टि ज्ञेयावरण मानी जाती है, वह इस मत (प्रासङ्गिक) में क्लेशावरण मानी जाती है।

राग, द्वेष और मोह इन तीन विषों (त्रिविष) में से मोह विषय के प्रति 'सत्–दृष्टि' है तथा वही भव (संसार) का बीज भी है। उसकी निवृत्ति के लिए नैरात्म्यदर्शन अपेक्षित है और नैरात्म्यदर्शन वस्तुतः भावनिःस्वभावता का दर्शन ही है। इसीलिए पुद्गल और धर्म के प्रति सत्–दृष्टि ही क्लिष्ट अविद्या मानी गई है। वही सत्–दृष्टि अर्थात् क्लिष्ट अविद्या प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश (बारह) अङ्गों में परिगणित अविद्या है। यह सहज क्लिष्ट अविद्या दो प्रकार की होती है, यथा–पुद्गलात्मदृष्टि और धर्मात्मदृष्टि। अतः सहज पुद्गलात्मदृष्टि भी क्लिष्ट अविद्या है। इसीलिए शास्त्रों में और सूत्रों में कभी–कभी 'अविद्या' संसार का मूल कही गई है और कभी–कभी सहज सत्कायदृष्टि संसार का मूल कही गई है। सहज सत्कायदृष्टि (अहं–दृष्टि) का आलम्बन 'अहम्' ही होता है। अतः भिन्न सन्तानवर्ती पुद्गल के प्रति स्वलक्षणसत्ता का ग्रहण करनेवाली दृष्टि यद्यपि आत्मदृष्टि है, किन्तु वह सत्कायदृष्टि नहीं है। यही आर्य नागार्जुन आदि का वास्तविक अभिप्राय है। शून्यतासप्तति में नागार्जुन ने कहा है।

हेतुप्रत्ययजा भावाः कल्प्यन्ते ये च तत्त्वतः।
प्रोक्ता शास्त्रा ह्यविद्या सा द्वादशाङ्गं ततो भवेत् ॥

(शून्यतासप्तति, का० ६४, पृ० ६४)

अर्थात् हेतु–प्रत्यय से समुत्पन्न भावों के प्रति जो सत्यतः सत्ता की कल्पना की जाती है, उसे ही शास्ता ने 'अविद्या' कहा है। उसी से (प्रतीत्यसमुत्पाद के) बारह अङ्ग प्रवृत्त होते हैं।

प्रश्न–परस्पर विरुद्ध सहज धर्मात्मदृष्टि और सहज पुद्गलात्मदृष्टि का ग्रहण एक सन्तति में सम्भव नहीं है, अतः स्वातन्त्रिक माध्यमिकों द्वारा प्रतिपादित सहज आत्मदृष्टि (सहज धर्मात्मग्राह और पुद्गलात्मग्राह) का व्याख्यान किस प्रकार का है ?

समाधान–स्कन्धों से भिन्न, स्वतन्त्र पुद्गल का ग्रहण तथा द्रव्यतः (स्वतः) भिन्न सत्ता का ग्रहण सहज आत्मदृष्टि नहीं है। स्कन्ध से भिन्न, स्वतन्त्र, द्रव्यसत् पुद्गल का ग्रहण तो हस्त, पाद आदि अवयवों से द्रव्यतः भिन्न पुद्गल का ग्रहण करना होता है। ऐसा ग्रहण उन सामान्य जनों में नहीं होता, जिनकी बुद्धि सिद्धान्तों द्वारा विकृत नहीं की गई है। इसीलिए मध्यमकावतार में कहा गया है :

लोको यतो वक्ति च बीजमात्रमुप्त्वा मयोत्पादित एष सूनुः ।
वृक्षोऽपि विन्यस्त इति ह्यवैति जनिः परस्मान्न च तेन लोके ॥

(मध्यमकावतार, ६:३२)

अर्थात् क्योंकि जगत् में मात्र बीज का वपन करके कहा जाता है कि मैंने पुत्र का उत्पाद किया तथा मैंने वृक्ष का रोपण किया है–ऐसा जाना जाता है, अतः परतः उत्पत्ति लोक में भी नहीं है।

अपि च, बुद्धपालित ने भी कहा है कि "बीज मात्र को बो कर वृक्ष उत्पन्न होने पर उसे दिखाकर कहा जाता है कि मैंने इसे लगाया है", अतः बीज और वृक्ष का पृथक्तया ग्रहण नहीं किया जाता, अन्यथा देवदार वृक्ष को दिखाकर मैंने शिंशपा वृक्ष बोया था–ऐसा व्यवहार भी होने लगेगा। और भी, हाथ की बीमारी को दिखाकर 'मैं बीमार हूँ' ऐसा लोग व्यवहार करते हैं। इस प्रकार वे 'हाथ' और 'मैं' में द्रव्यतः भिन्नता का ग्रहण नहीं करते। यह सब व्यवहार केवल कथनमात्र नहीं हैं, अपितु तदनुसार स्वीकार करना आवश्यक होता है। क्योंकि रोपित बीज और रोगग्रस्त हाथ के क्रमशः वृक्ष और पुद्गल न होने के कारण यदि रोपित वृक्ष और पुद्गल की व्यवस्था न की जा सकेगी तो

ये दोनों असम्भव हो जाएंगे । अर्थात् व्यवस्था न की जा सकेगी । इन युक्तियों के सामर्थ्य से यह सिद्ध होता है कि स्वातन्त्रिक माध्यमिकों द्वारा मान्य सहज धर्मात्मदृष्टि और सहज पुद्गलात्मदृष्टि भी परिकल्पित आत्मदृष्टि ही है ।

प्रश्न—जैसे कहा गया है, वैसा ही है तो ज्ञेयावरण क्या है ?

उत्तर—अविद्या की वासना ज्ञेय के सम्यक् अवबोध में बाधक होती है । राग आदि की वासनाएं भी उस प्रकार की कायिक और वाचिक प्रवृत्तियों की हेतु होती हैं, जैसी काय–वाक् प्रवृत्ति अर्हतों में विद्यमान होती है । राग एवं अविद्या की वासना की सर्वथा निवृत्ति तो सर्वज्ञ या बुद्ध की अवस्था में ही होती है, दूसरी अवस्थाओं में नहीं—इस प्रकार का वर्णन मध्यमकावतारभाष्य में उपलब्ध है । इससे अधिक स्पष्ट ज्ञेयावरणों के स्वरूप का प्रतिपादन नागार्जुन और आर्यदेव के प्रामाणिक ग्रन्थों में नहीं है ।

'वानर की भाँति उत्प्लवन एवं दूसरों को वृषल आदि कहना' आदि कायदौष्ठुल्य एवं वाग्दौष्ठुल्य शास्ता द्वारा निषिद्ध होने पर भी अर्हतों में निवृत्त नहीं होते । इस प्रकार की काय–वाक् प्रवृत्ति उनमें देखी जाती है ।

राग, अविद्या आदि क्लेशों की वासनाएं ज्ञेयावरण हैं । वासना का स्वरूप मध्यमकावतारभाष्य में इस प्रकार वर्णित है, यथा—जिससे चित्तसन्तति वासित होती, मलिन होती है, जो चित्तसन्तति में अनुशयन करती है, जिससे चित्तप्रवाह प्रवर्तित होता है, वह 'वासना' है । क्लेशनिष्ठा, क्लेशाभ्यास, क्लेशमूल और वासना ये सभी पर्यायवाची हैं ।

उक्त प्रकार के ज्ञेयावरण का प्रहाण करने में उक्त प्रकार के तत्त्वबोधक ज्ञान अर्थात् धर्मनैरात्म्य ज्ञान और पुद्गलनैरात्म्य ज्ञान (मार्ग) के अलावा अन्य कोई भी मार्ग सक्षम नहीं है । तथापि उपाय की परिपूर्णता एवं अपरिपूर्णता तथा दीर्घकालीन अभ्यास एवं अनभ्यास आदि से हीनयान और महायान के प्रहाण में अन्तर होता है ।

बुद्धवचनों में दोनों आत्मदृष्टियों का स्वरूप, दोनों नैरात्म्यों का स्वरूप तथा नैरात्म्यदर्शन से आवरणों से मुक्ति आदि के बारे में भिन्न–भिन्न प्रकार की

देशनाएं उपलब्ध होती हैं । अतः उनके नेयार्थ और नीतार्थ के भेद पूर्वोक्त प्रकार से जानना चाहिए ।

जो लोग आलयविज्ञान नहीं मानते, उनके मत में वासना की स्थापना, वासना की स्थिति और उनका स्वरूप आदि के बारे में व्याख्यान करना यद्यपि आवश्यक है, किन्तु थोड़े में कहना सम्भव नहीं है, अतः विस्तार भय से उसका निरूपण नहीं किया जा रहा है ।

स्वातन्त्रिक और प्रासङ्गिक मतों में पुद्गल और धर्म को लेकर दो सत्यों के स्वरूप में भिन्नता होने के कारण धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य के स्वरूप में भी भिन्नता होती है तथा हीनयान और महायान में उनका अवबोध होने और न होने में तथा दो आत्मदृष्टियों एवं दो आवरणों के स्वरूप में भी भिन्नता होने की विशेषताएं होती हैं ।

(त्र) बाह्य अर्थ की स्थापना करके आलयविज्ञान और स्वसंवेदन के अस्वीकार की असाधारण विशेषता

(i) पुद्गल एवं धर्म का अस्तित्व उसी प्रकार है, जैसे ऊपर कहा गया है । इसलिए स्रोत–आपन्न आदि पुद्गल व्यवहारतया सत् हैं और नारकीय आदि पुद्गल असत् हैं—ऐसा भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि परमार्थतया दोनों ही असत् हैं और व्यवहारतया दोनों ही सत् हैं । इसी प्रकार स्कन्ध, धातु और आयतन नामक धर्मों में से रूपी धर्म असत् हैं और चित्त–चैतसिक सत् हैं—ऐसा भेद भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों ही परमार्थतः असत् हैं और संवृतितः (व्यवहारतः) सत् हैं ।

इस अवसर पर कुछ माध्यमिक, जैसे भावविवेक आदि कहते हैं कि बाह्य घट, पट आदि और आन्तरिक चित्त–चैतसिक आदि दोनों ही समान रूप से सत् हैं तथा कुछ माध्यमिक जैसे शान्तरक्षित आदि कहते हैं कि चित्त–चैतसिक ज्ञानजातीय आन्तरिक पदार्थ सत् हैं तथा घट, पट आदि बाह्य जडजातीय धर्म असत् हैं । इन दोनों प्रकार के सूत्राचार एवं योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिकों की यह भी समान रूप से मान्यता है कि यदि (व्यवहारतः भी) सत् हैं तो वे धर्म स्वलक्षणतः सत् हैं और यदि स्वलक्षणतः असत् हैं तो

सर्वथा असत् हैं । अर्थात् उनकी व्यवहारतः भी सत्ता नहीं हैं । अर्थात् वे सत्ता और स्वलक्षणतः सत्ता में फर्क नहीं करते ।

इसी प्रकार प्रासङ्गिक मत में बाह्य (जडजातीय धर्म) यद्यपि स्वलक्षणतः असत् हैं, अर्थात् उनकी स्वलक्षण–सत्ता नहीं है, तथापि उनकी सत्ता का अभाव नहीं है । अर्थात् उनकी सत्ता और असत्ता के बारे में विवाद चलता है । आशय यह है कि जगत् के किसी एक धर्म की स्वलक्षणतः असत्ता होने पर भी सत्ता (व्यावहारिक सत्ता) की स्थापना की जा सके तो 'बाह्यार्थ नहीं है, विज्ञान हैं' इस प्रकार के भेद का निराकरण किया जा सकता है । अन्यथा युक्तियों का मर्म ज्ञात न हो सकेगा ।

योगाचार माध्यमिक निरवयव परमाणु का निषेध करते हैं और उस निषेध के आधार पर कहते हैं कि उन परमाणुओं से आरब्ध स्थूल संचित पदार्थ का भी अभाव है । अर्थात् उनके मत में सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के बाह्यार्थों का अभाव है । इसलिए वे कहते हैं कि बाह्यार्थ सर्वथा नहीं हैं । यद्यपि उन योगाचार माध्यमिकों द्वारा प्रयुक्त युक्तियों के द्वारा निरवयव बाह्यार्थ की सत्ता का खण्डन किया जा सकता है, तथापि बाह्यार्थ की सत्ता का अपलाप (निषेध) नहीं किया जा सकता । इतना ही नहीं, उनके मत में आगम और लोकप्रतीति–विरोध दोनों द्वारा बाधा उपस्थित होती है । दशभूमक सूत्र के "**चित्तमात्रं भो जिनपुत्राः, यदुत त्रैधातुकम्**" (बोधिसत्त्वों, तीनों धातुएं चित्तमात्र हैं) इस वचन में प्रयुक्त 'मात्र' शब्द द्वारा चित्त से अतिरिक्त किसी सृष्टिकर्ता (ईश्वर) के अस्तित्व क निषेध किया गया है, न कि बाह्यार्थ का निषेध किया गया है । अर्थात् उक्त वचन द्वारा बाह्यार्थ का निषेध उपदिष्ट नहीं है । यह आशय उसी सूत्र द्वारा स्पष्ट होता है । इस वचन के बारे में हमारा (प्रासङ्गिकों) का व्याख्यान आचार्य भावविवेक के व्याख्यान के समान ही है । "**दृश्यं न विद्यते बाह्यं**" (अर्थात् बाह्य दृश्य नहीं है) लङ्कावतारसूत्र के इस आगम (वचन) द्वारा 'बाह्यार्थ का निषेध नहीं किया गया है'—ऐसी जो व्याख्या भावविवेक ने की है, चन्द्रकीर्ति उससे सहमत नहीं है । चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि उक्त लङ्कावतारसूत्र के वचन द्वारा बाह्यार्थ का निश्चित ही खण्डन किया गया है, किन्तु वह सूत्र (लङ्कावतार) नेयार्थ है, नीतार्थ नहीं । अर्थात् वे लङ्कावतारसूत्र को नेयार्थ प्रतिपादित करते हैं ।

आचार्य चन्द्रकीर्ति का कहना है कि जननीसूत्रों में विना भेद किये पाँचों स्कन्धों की निःस्वभावता (शून्यता) की देशना की गई है तथा अभिधर्म में उन (स्कन्धों) की स्वलक्षण और सामान्यलक्षण के रूप में समान रूप से सत्ता का निर्देश किया गया है, तदनुसार स्वीकार करना चाहिए । अर्थात् चन्द्रकीर्ति का अभिप्राय है कि यदि सत्ता है तो बाह्य अर्थ और आन्तरिक विज्ञान दोनों की सत्ता है । यदि सत्ता नहीं है तो दोनों की सत्ता नहीं है । एक की सत्ता है और दूसरे की नहीं—इस प्रकार सत्ता भेद स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

लोक में भी बाहर से आए हुए को 'बाह्य' कहते हैं । यदि वे बाहर न हों तो उनका आना सम्भव न होगा । बाह्य धर्म विज्ञान में अपने आकार की स्थापना के द्वारा उन (विज्ञानों) के विषय के रूप में या महाभूत आदि के रूप में प्रज्ञप्त होते हैं । विज्ञान में अपने आकार की स्थापना के विना सत्ता की स्थापना करना किसी के द्वारा भी सम्भव नहीं है । इसीलिए युक्तिषष्टिका में :

महाभूतादि विज्ञाने प्रोक्तं समवरुध्यते ।
तज्ज्ञाने विगमं याति ननु मिथ्या विकल्पितम् ॥

(युक्तिषष्टिका, का० ३० संस्कृत छाया)

अर्थात् सभी महाभूत आदि विज्ञान में संगृहीत हैं । क्योंकि वे विज्ञान द्वारा व्यवस्थापितमात्र हैं । जब विज्ञान का अनुत्पाद प्रत्यक्षतः ज्ञात हो जाता है, तब उसके द्वारा स्थापित अर्थ भी विलुप्त हो जाते हैं । अतः उक्त आगमों द्वारा बाह्यार्थ का खण्डन नहीं किया गया है । बाह्यार्थ और विज्ञप्ति (विज्ञान) दोनों के व्यवहृतार्थ की जब गवेषणा होती है तो दानों की समानरूप से अनुपलब्धि होती है, फिर भी व्यवहार के वश से उनकी सांवृतिक सत्ता में कोई अन्तर नहीं है ।

(ii) प्रासङ्गिक मत में आलयविज्ञान नहीं माना जाता । उनके मतानुसार आलयविज्ञान न मानने में कोई दोष भी नहीं है । कुछ लोगों (योगाचारों) की मान्यता है कि आलयविज्ञान मानना बहुत जरूरी है, क्योंकि कर्म तो अपने उत्पाद के द्वितीय क्षण में ही निरुद्ध (नष्ट) हो जाता है और भङ्ग से उत्पाद असम्भव है । अतः कर्म और उसके फल के आधारभूत आलयविज्ञान को मानना चाहिए । प्रासङ्गिकों का कहना है कि यद्यपि सभी धर्म स्वलक्षणतः असिद्ध हैं, फिर भी वस्तु की व्यवस्था की जा सकती है । अतः भङ्ग को भी वस्तु मानना

युक्तियुक्त है। क्योंकि स्वभावतः किसी का निरोध नहीं होता। अतः कर्म भी स्वभावतः निरुद्ध नहीं होता, और उसमें अर्थक्रियासामर्थ्य विद्यमान होता है। फलतः आलयविज्ञान के न होने पर भी कभी–कभी चिरनिरुद्ध कर्म से फल का उत्पाद होता है। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने मध्यमकावतार में कहा है :

यस्मात् स्वभावेन न तन्निरुद्धं
विनालयं शक्तिरियं हि तस्मात् ।
चिरान्निरुद्धादपि कर्मणस्तत्
क्वचित् फलं सम्भवतीति विद्धि ॥

(मध्यमकावतार, ६:३९)

अर्थात् स्वभाव से वह (कर्म) निरुद्ध नहीं है, अतः आलयविज्ञान के विना भी यह अर्थक्रियाशक्ति है। इसलिए चिरनिरुद्ध कर्म से भी कभी–कभी फल उत्पन्न होता है—यह जानना चाहिए।

संवृति में भी स्वलक्षणतः सत्ता का निषेध करके जो लोग निःस्वभावता के आधार पर कार्य–कारणभाव की स्थापना करने में कुशल होते हैं, उन (प्रासङ्गिकों) के मत में आलयविज्ञान न होने पर भी आलयविज्ञान पर आधारित कर्म–फलव्यवस्था से भी अच्छी कर्म–कर्मफलव्यवस्था स्थापित की जा सकती है। उनके लिए न केवल दोनों सत्यों के प्रति शाश्वत और उच्छेद दृष्टियों का परिहार करने में सुगमता है, अपि तु कर्म–फल आदि सभी व्यवस्थाओं की स्थापना करने में भी सुगमता है। उनके द्वारा ऐसा कर पाने का मूल आधार यही है कि वे लोग निःस्वभाव हेतु से निःस्वभाव फल की उत्पत्ति मानते हैं।

आलयविज्ञान न मानने पर अन्तिम च्युति चित्त और द्वितीय भव के प्रथम प्रतिसन्धि चित्त की सम्यग् व्यवस्था न हो सकेगी—यह दोष भी प्रासङ्गिक मत में नहीं होगा, यदि उपर्युक्त निःस्वभाव से निःस्वभाव की उत्पत्ति की व्यवस्था भलीभाँति जान ली जाती है। बाह्यार्थ की सत्ता इस मत में मान्य होने के मर्म से भी आलयविज्ञान की अस्वीकृति जानी जा सकती है। यदि आलयविज्ञान माना जाता है तो बाह्यार्थ की सत्ताव्यवस्था टूट जाती है।

विनाश (भङ्ग) की वस्तुता की सिद्धि आचार्य चन्द्रकीर्ति ने मूलमाध्यमिककारिकाटीका प्रसन्नपदा में और युक्तिषष्टिकाटीका में विस्तारपूर्वक

की है। विनाश को वस्तु मानने की वजह से त्रिकाल की व्यवस्था में भी इस मत में अनेक असाधारण विशेषताएं होती हैं।

(iii) स्वसंवदेन माननेवालों का पूर्वपक्ष और उस पूर्वपक्ष का खण्डन मध्यमकावतार और उसके भाष्य में निम्न प्रकार से वर्णित है :

पहले अनुभव हुए विना पीछे स्मृति भी नहीं होती, इसलिए जब जब स्मृति होती है, तब तब वह पूर्वानुभव से ही उत्पन्न होती है, यथा—'मैंने पहले नील देखा'—इस प्रकार विषय की स्मृति होती है तथा 'मैंने देखा'—इस प्रकार विषयी की स्मृति होती है। इसलिए पूर्ववर्ती नीलज्ञान का अनुभव करनेवाला एक ज्ञान होना चाहिए, और उसे (अनुभव करनेवाले ज्ञान को) उस नीलज्ञान से भिन्न नहीं होना चाहिए। यदि अनुभव करनेवाला ज्ञान नीलज्ञान से भिन्न होगा तब उस अनुभव करनेवाले ज्ञान का भी अनुभव करनेवाला एक अन्य ज्ञान अपेक्षित होगा और इस तरह अनवस्था होगी। यदि कहें कि पश्चाद्वर्ती ज्ञान पूर्ववर्ती ज्ञान का अनुभव करता है, तो पश्चाद्वर्ती ज्ञान द्वारा रूप आदि विषय का अनुभव न हो सकेगा। अतः स्वतः अनुभव मानना आवश्यक है। क्योंकि अनुभव स्वतः या परतः इन दो कोटियों में ही नियत है, तीसरी कोटि नहीं है। अतः पश्चाद्वर्ती स्मृति के बल से अनुभव करनेवाले पूर्ववर्ती स्वसंवेदन की सिद्धि होती है। इस तरह स्वसंवेदनवादियों का पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

उत्तरपक्ष—पश्चाद्वर्ती स्मृति से पूर्ववर्ती अनुभव सिद्ध नहीं है, क्योंकि उस (स्मृति) की अनुभव के साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं है। उदाहरणार्थ जाड़े की ऋतु में कभी मूषक द्वारा काट लिया जाता है और विष छोड़ दिया जाता है। तदनन्तर वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में मेघगर्जन होने पर मूषक–विष का परिपाक होता है और तज्जन्य पीडा आदि लक्षण प्रादुर्भूत होते हैं। तब व्यक्ति को स्मरण होता है कि जाड़े में मूषक ने काटा था और विष डाल दिया था, किन्तु जब काटा था, उस जाड़े की ऋतु में मूषक के काटने और विष डालने का अनुभव नहीं हुआ था। आशय यह है कि जाड़े की ऋतु में विष डालने का अनुभव न होने पर भी बाद में स्मृति होती है। इस तरह अन्य अनेक उदाहरण भी लोक में उपलब्ध हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि विना अनुभव के भी स्मृति की सिद्धि होती है। अर्थात् अनुभव और स्मृति में व्याप्ति सिद्ध नहीं है।

अपि च, मात्र अनुभव करनेवाला सिद्ध हो भी जाए, फिर भी उससे स्वसंवेदन सिद्ध नहीं होता। सिद्धान्त में स्वसंवेदन न होने पर स्मृति की उपपत्ति इस प्रकार होती है :

पूर्ववर्ती नील विषय का अनुभव करनेवाला नीलज्ञ चक्षुर्विज्ञान और पश्चाद्वर्ती नीलज्ञ स्मृति दोनों एक ही विषय में प्रवृत्त होते हैं। इस समान प्रवृत्ति के बल से 'मैंने देखा' ऐसी स्मृति होती है। पूर्ववर्ती अनुभव और पश्चाद्वर्ती स्मृति दोनों के स्वलक्षणतः पृथक् नहीं होने के कारण विषय के स्मरण से विषयी का स्मरण तथा विषयी के स्मरण से विषय का स्मरण होता है और इस प्रकार परस्पर की अपेक्षा से दोनों के स्मरण होते हैं। पूर्ववर्ती अनुभव से आकृष्ट होकर ही पश्चाद्वर्ती स्मृति स्वविषय में प्रवृत्त होती है, स्वतः नहीं। अतः स्वसंवेदन की व्यवहार में भी स्वलक्षणतः सत्ता न होने के कारण व्यवहार में भी स्वसंवेदन सिद्ध नहीं है।

अनुभव स्वतः या परतः इन दोनों कोटियों में ही नियत है कि नहीं—इस विषय में चन्द्रकीर्ति–प्रणीत शास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, फिर भी वातावरण से उनका ऐसा अभिप्राय प्रतीत होता है कि इनका कोई तीसरा ही पक्ष है, क्योंकि इन दोनों में नियत न होना, इनका अभिमत है। कारण यह है कि दीपक का अपने–आप को प्रकाशित करना ये (चन्द्रकीर्ति) नहीं मानते और दूसरे द्वारा प्रकाशित किया जाना भी नहीं मानते। फिर भी प्रकाशित होना तो स्वीकार करते ही हैं।

पूर्वपक्ष—दीपक अपने–आप को प्रकाशित न भी करे, फिर भी उसकी सत्ता में कोई हानि नहीं होती, किन्तु ज्ञान यदि अपने–आप को नहीं जानेगा तो उसकी सत्ता ही उपपन्न न हो सकेगी, अतः दीपक और ज्ञान में साम्य नहीं है ?

उत्तरपक्ष—दीपक यदि अपने–आप को प्रकाशित न करेगा तो कोई दूसरा भी उसको प्रकाशित न कर सकेगा। यदि दूसरा भी कोई प्रकाशित नहीं करेगा तो दीपक का प्रकाशित होना उपपन्न न हो सकेगा, अतः दीपक और ज्ञान में साम्य है।

पूर्वपक्ष—स्वतः या परतः प्रकाशित न होने पर भी दीपक घट आदि वस्तुओं को प्रकाशित करता है, अतः वह 'प्रकाशस्वभाव' सिद्ध है ?

उत्तरपक्ष—इसी तरह ज्ञान अपने–आप को नहीं जानता, फिर भी घट आदि वस्तुओं को जानता है, अतः 'ज्ञानस्वभाव' सिद्ध है।

पूर्वपक्ष—यदि ज्ञान अपने–आप को नहीं जानेगा, तो वह दूसरे (घट आदि) को कैसे जान सकेगा ? इसलिए ज्ञान अपने–आप को जानता है और घट आदि को भी प्रकाशित करता है ?

उत्तरपक्ष—यह भी अयुक्त है। यदि दूसरों को प्रकाशित करने से पहले अपने–आप को प्रकाशित करना आवश्यक माना जाएगा तो दूसरों को आवृत (ढंकने) करने से पहले अपने–आप को आवृत करना भी आवश्यक होगा। ज्ञात है कि अन्धकार दूसरों का आवरण करता है। यदि वह दूसरों को ढंकने से पहले अपने–आप को ढंक लेगा तो अन्धकार दिखाई ही नहीं पड़ेगा। किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः दूसरों को प्रकाशित करने के लिए अथवा दूसरों को जानने के लिए पहले अपने–आप को प्रकाशित करना या जानना आवश्यक नहीं है।

उपसंहार—ज्ञान का अस्तित्व ज्ञेय पर आश्रित है, उसकी स्वलक्षणतः सत्ता नहीं है, उसी तरह ज्ञेय भी ज्ञान पर आश्रित है, उसकी भी स्वलक्षणतः सत्ता नहीं है। इस तरह ज्ञान और ज्ञेय दोनों का व्यवहार अन्योन्याश्रित या परस्परापेक्ष है। आर्य नागार्जुन ने विग्रहव्यावर्तनी में कहा है :

यदि च स्वतः प्रमाणसिद्धिरनपेक्ष्य ते प्रमेयाणि।
भवति प्रमाणसिद्धिर्न परापेक्षा हि सिद्धिरिति ॥

(विग्रहव्यावर्तनी, का० ४१)

अर्थात् यदि तुम्हारे मत में प्रमाण की स्वतः सिद्धि होती है तो विना प्रमेय की अपेक्षा के प्रमाणासिद्धि होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता, अपि तु अन्य की अपेक्षा से ही सिद्धि होती है।

(ज्ञ) स्वतन्त्र हेतु के अस्वीकार की असाधारण विशेषता

इस विषय का प्रतिपादन भी दो उपशीर्षकों में विभाजन करके किया जा रहा है :

(i) (a) स्वतन्त्र हेतु के निषेध का क्रमिक पर्यालोचन एवं
(b) स्वतन्त्र हेतु का विविध व्याख्यान

(ii) (a) स्वमत में साध्य को सिद्ध करनेवाले हेतु का होना एवं
(b) स्वतन्त्र हेतु का न होना

(i) (a) स्वतन्त्र हेतु के निषेध का क्रमिक पर्यालोचन एवं (b) स्वतन्त्र हेतु का विविध व्याख्यान

(a) बुद्ध के प्रवचनों का अभिप्राय अमुक प्रकार से (स्वलक्षणतः) प्रकाशित किया जाए तो स्वतन्त्र हेतु अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए तथा अमुक प्रकार से (प्रज्ञप्तितः) प्रकाशित किया जाए तो स्वतन्त्र हेतु स्वीकार करना अशक्य होगा—इस तरह का अर्थ यद्यपि प्रवचनों में निहित है, तथापि बौद्ध सिद्धान्तों के वाङ्मय में 'स्वतन्त्र हेतु मानना अयुक्त है तथा प्रसङ्ग मानना युक्त है—ऐसा प्रतिपादन आचार्य चन्द्रकीर्ति और उनके अनुयायियों ने तो किया है, किन्तु उन्हें छोड़कर अन्यों ने नहीं किया है। वह इस प्रकार है :

'न स्वतो नापि परतः' (स्वतः परतः आदि हेतुओं से भावों का उत्पाद नहीं होता) इत्यादि मूलमाध्यमिककारिका की बुद्धपालित ने जो व्याख्या की, उसमें आचार्य भावविवेक ने अनेकविध आक्षेप किये हैं। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपनी प्रसन्नपदा टीका में युक्तिपूर्वक यह प्रतिपादन किया है कि भावविवेक द्वारा प्रदर्शित दोष आचार्य बुद्धपालित पर लागू नहीं होते, क्योंकि बुद्धपालित स्वतन्त्र—हेतु स्वीकार नहीं करते तथा यह भी कहा है कि माध्यमिकों द्वारा स्वतन्त्र हेतु मानना अयुक्त है। इस प्रकार उन्होंने विपक्ष में अनेक दोष और अपने पक्ष में अनेक युक्तियों का प्रदर्शन किया है। चतुःशतक की टीका में उन्होंने आचार्य धर्मपाल के मत का खण्डन करते हुए संक्षेप में स्वतन्त्र हेतु का निषेध किया है[१]। आचार्य भावविवेक को वस्तुतः यह भान ही नहीं था कि स्वतन्त्र हेतु को स्वीकार करने के बारे में उनमें और आचार्य बुद्धपालित में कोई मतभेद है। इतना ही नहीं, उन्हें ऐसा लगता था कि स्वतन्त्र हेतु को स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी वज़ह से वे अपने मत में और बुद्धपालित के

१. द्र०—चतुःशतकवृत्ति, १६:२१, पृ० १५२ (आलोक—प्रकाशन, नागपुर)।

मत में धर्म और पुद्गल के स्वभाव का निषेध करते समय निषेध्य के स्वरूप में कोई अन्तर (फर्क) है—ऐसा समझ ही न पाए।

आचार्य भावविवेक के अनुयायी अवलोकितेश्वरव्रत को मूलमाध्यमिक—कारिकावृत्ति प्रसन्नपदा के बारे में जानकारी थी, अतः उन्हें प्रज्ञाप्रदीप (भावविवेक कृत मूलमाध्यमिक कारिका की टीका) की अपनी पञ्जिका में प्रज्ञाप्रदीप के उस स्थल पर, जहाँ भावविवेक ने बुद्धपालित पर दोषारोपण किया था और चन्द्रकीर्ति ने उन दोषों की अयुक्तता दिखलाई थी, उसकी व्याख्या करते समय चन्द्रकीर्ति के मत की युक्तता या अयुक्तता की समीक्षा करनी चाहिए थी, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसी तरह शान्तरक्षित, कमलशील और उनके अनुयायियों को भी चन्द्रकीर्ति द्वारा जो स्वतन्त्र हेतु का निषेध किया गया था, उसका खण्डन करना चाहिए था, किन्तु उन्होंने भी ऐसा नहीं किया।

सामान्यतया बुद्धपालित और चन्द्रकीर्ति दोनों आचार्यों के द्वारा व्यवहार में भी स्वलक्षणतः सिद्धि का निषेध किया जाता है तथा निःस्वभावता में ही हेतु—फल आदि की समस्त व्यवस्थाएं सुचारुतया युक्तियुक्त ढंग से सिद्ध की जाती हैं। उसमें भी लौकिक और लोकोत्तर प्रतीत्यसमुत्पाद को अनिवार्यतया स्वीकार करना चाहिए। प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु से उस निषेध्य का निषेध करने वाली जिन युक्तियों का प्रतिपादन किया गया है, वे निश्चय ही अत्यन्त गम्भीर और सूक्ष्म हैं—ऐसा प्रतीत होता है। उन युक्तियों में भी स्वतन्त्र हेतु का निषेध करनेवाली युक्तियां निश्चय ही अत्यधिक सूक्ष्म हैं।

(b) इस प्रसङ्ग में कुछ लोगों का कहना है कि साध्य को सिद्ध करनेवाले हेतु, व्याप्ति आदि साधन यदि प्रमाण से सिद्ध हों तो स्वतन्त्र हेतु का औचित्य सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, अतः स्वतन्त्र हेतु अयुक्त है। वादी और प्रतिवादी दोनों द्वारा सिद्ध कोई हेतु हो नहीं सकता, क्योंकि प्रतिवादी के प्रमाण द्वारा जो सिद्ध है, उसे वादी नहीं जान सकता, क्योंकि वह (वादी) परचित्त का ज्ञाता नहीं है, साथ ही वह अपने द्वारा सिद्ध को भी नहीं जानता, क्योंकि जिस रूप में निश्चय किया गया है, उसमें विसंवाद (धोखा) हो सकता है। इस तरह कुछ लोग स्वतन्त्र हेतु के निषेध का अनौचित्य प्रतिपादित करते हैं अर्थात् उनके अनुसार स्वतन्त्र हेतु का अभिप्राय यह है।

यह वाद अत्यन्त अयुक्त है । जैसे कहा गया है, वैसा सही हो तो विपक्षी की प्रतिज्ञा को जानकर उसका खण्डन करना हमारे द्वारा असम्भव हो जाएगा, क्योंकि उस (विपक्ष) द्वारा उसी प्रकार स्वीकृत है कि नहीं है—ऐसा ज्ञान नहीं हो सकेगा, क्योंकि हम परचित्त के ज्ञाता नहीं है । अपि च, अपने द्वारा विपक्ष के पक्ष में जो दोष (आक्षेप) दिये गये हैं, वे दोष (प्रसङ्ग) 'सही दोष है, या दोषाभास हैं'—यह निश्चय भी न हो सकेगा, क्योंकि जिस प्रकार निश्चय किया जाता है, उसमें बाद में विसंवाद (धोखा) भी हो सकता है । इस तरह अपने (प्रासङ्गिकों) द्वारा प्रयुक्त प्रसङ्ग भी युक्त न हो सकेगा । अतः जिस प्रकार स्वतन्त्र हेतु का खण्डन किया जाता है, उसी प्रकार प्रसङ्ग भी स्वतः खण्डित हो जाएगा ।

अन्य दूसरे लोगों का कहना है कि व्याप्ति भी प्रमाणतः असिद्ध ही है, यथा—यद्यपि महानस में धूम और वह्नि की व्याप्ति प्रत्यक्ष द्वारा जानी जाती है, तथापि सभी देश एवं काल में धूम को वह्नि से व्याप्त के रूप में नहीं जाना जा सकता । अनुमान द्वारा भी सभी देश—कालों में उक्त व्याप्ति का निश्चय सम्भव नहीं है । अतः लोकप्रसिद्धि या लोक द्वारा स्वीकृति मात्र से व्याप्ति सिद्ध होती है, प्रमाणतः सिद्ध नहीं होती ।

कुछ दूसरे लोगों का यह उपर्युक्त कथन भी अयुक्त है । बौद्ध न्यायशास्त्रों में व्याप्तिग्रहण का जैसा प्रकार वर्णित है, उसे इन्होंने समझा ही नहीं है या गलत समझा है । महानस (दृष्टान्त) में जो धूम और वह्नि की व्याप्ति गृहीत होती है, उसका कतई यह अभिप्राय नहीं है कि महानसीय धूम के साथ महानसीय वह्नि की व्याप्ति का ग्रहण होता है । यदि ऐसा समझा जाएगा तो धूमवान् पर्वत में महानसीय धूम होने से महानसीय वह्नि सिद्ध होने लगेगी । क्योंकि 'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्' (अर्थात् धूम विद्यमान होने से पर्वत वह्निमान् है) इस अनुमान—प्रयोग में निश्चय ही धूम (हेतु) को साध्य (वह्नि) से व्याप्त होना चाहिए और उन्हें अर्थात् दोनों को ही पर्वत (पक्ष) में स्थित होना चाहिए । फलतः दोनों ही महानसीय सिद्ध हो जाएंगे । वस्तुतः महानस तो धूम और वह्नि के अविनाभाव नियम को निश्चित करने का आधारमात्र है और निश्चय ही 'व्याप्ति' है । इसी प्रकार कृतकत्व के साथ अनित्यत्व की व्याप्ति भी है, जिसके द्वारा शब्द को अनित्य सिद्ध किया जाता है और जिस व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा घट (दृष्टान्त) में किया जाता है । किन्तु वहाँ भी घटीय कृतकत्व के साथ घटीय

अनित्यत्व की व्याप्ति का ग्रहण नहीं किया जाता, अपि तु कृतकत्व के साथ अनित्यत्व मात्र की व्याप्ति का ग्रहण होता है । घट तो केवल व्याप्ति ग्रहण करने का आधारमात्र होता है । इसी प्रकार इस देश के धूम या इस काल के धूम अथवा इस देश के कृतकत्व या इस काल के कृतकत्व हेतु को अर्थात् देश और काल से विशिष्ट हेतु को साध्य वह्नि और अनित्यत्व से व्याप्त नहीं समझा जाता, अपितु निर्विशेष धूममात्र को वह्नि से व्याप्त एवं कृतकत्व मात्र को अनित्यत्व से व्याप्त सिद्ध किया जाता है । फलतः सभी देश और सभी कालों में अभ्रान्त रूप से व्याप्ति का निश्चय होता है ।

इस सम्बन्ध में कुछ अन्य लोगों का यह मानना है कि कोई भी अर्थ प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं हुआ करता, अतः केवल दूसरों (विपक्ष) के द्वारा स्वीकृत अर्थ (प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त आदि) के आधार पर प्रसङ्ग द्वारा उनकी मिथ्यादृष्टि का अपाकरण किया जाता है, न कि निःस्वभावता की सिद्धि की जाती है । और यही 'स्वतन्त्र हेतु नहीं है, स्वतन्त्र प्रतिज्ञा नहीं है'—इसका अर्थ है । अन्य लोग कहते हैं कि संवृति और परमार्थ की सभी व्यवस्थाएं दूसरों की दृष्टि से ही की जाती है, स्वमत में तो कुछ (संवृति, परमार्थ) भी नहीं है । 'कुछ नहीं है'—यह बात भी दूसरों की दृष्टि में आभासमात्र के आधार पर कही जाती है, यह भी कोई स्वमत की प्रतिज्ञा नहीं है । अर्थात् प्रासङ्गिक मत में संवृति सत्य, परमार्थसत्य भी नहीं है—ऐसा दूसरों को आभासितमात्र है, उसी के आधार पर कहा जाता है, माध्यमिकों का तो यह भी कहना नहीं है । यदि वे ऐसा कहते हैं तो दूसरों को समझाने मात्र के उद्देश्य से कहते हैं, न कि स्वमत की मान्यता के आधार पर ।

ऊपर जो स्वतन्त्र हेतु के निषेध करने वालों के कुछ विचार प्रस्तुत किये गये हैं, वे स्वतन्त्र हेतु के निषेधक प्राचीन लोगों का मत नहीं हैं, अपि तु बाद के लोगों के कथनमात्र हैं । उनमें से कुछ लोगों ने तो प्रासङ्गिक मत के असाधारण निषेध्य को ठीक—ठीक स्वीकार किया है, किन्तु अधिकांश लोगों ने तो प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रामाणिक सिद्धि का भी खण्डन कर दिया है । इसलिए वस्तुतः ये (अधिकांश) लोग ही प्रासङ्गिकों के प्रमुख पूर्वपक्षी हैं ।

(ii) (a) **स्वमत में साध्य को सिद्ध करनेवाले हेतु का होना एवं**
(b) **स्वतन्त्र हेतु का न होना**

(a) 'धर्मों की स्वलक्षणतः सत्ता स्वीकार करके हेतु, व्याप्ति आदि की व्यवस्था करना'—स्वतन्त्र हेतु को स्वीकार करने का अर्थ है, जैसे स्वनैकायिक वस्तुवादी एवं भावविवेक आदि आचार्य स्वीकार करते हैं तथा 'व्यवहार में भी किसी धर्म की स्वलक्षणतः सत्ता स्वीकार न करना'—स्वतन्त्र हेतु स्वीकार न करने का अर्थ है । अतः स्वतन्त्र हेतु को स्वीकार करने या न करने का मूल सूक्ष्म निषेध्य का खण्डन करने या न करने पर निर्भर है ।

व्यवहार में भी स्वलक्षणतः सत्ता न होने पर स्वपक्ष में साध्य और उसके साधन तथा प्रमाण और प्रमेय में विरोध देखकर स्वतन्त्र हेतु का निषेध नहीं किया गया है, अपि तु हेतु और व्याप्ति आदि के व्यवहृतार्थ की परीक्षा करने पर उसके उपलब्ध न होने के कारण स्वतन्त्र हेतु नहीं माना जाता है । जैसे कि मध्यमकावतार और उसके भाष्य में "कारण कार्य से संस्पृष्ट होकर कार्य को उत्पन्न करता है या असंस्पृष्ट होकर कार्य को उत्पन्न करता है" ?—इन दोनों पक्षों की परीक्षा करके दोनों ही पक्षों का खण्डन किया गया है ।

दोनों प्रकार की उक्त परीक्षाओं से उत्पन्न दोष परवादी के पक्ष में ही होंगे, स्वपक्ष में नहीं होंगे—इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए मध्यमकावतार में उल्लिखित है कि जो स्वलक्षणतः कार्यकारणभाव मानते हैं, उन्हीं के मत में उक्त परीक्षा प्रवृत्त होगी, जिस मत में स्वलक्षणतः सत्ता व्यवहार में भी नहीं मानी जाती, उस निःस्वभावता पक्ष में नहीं ।

अपि च, दोष दूषणीय से संस्पृष्ट होकर दूषणीय को दूषित करता है या असंस्पृष्ट होकर दूषित करता है—इस प्रकार दो पक्ष उपस्थित करके परीक्षा की गई है और अन्त में मध्यमकावतारमूल में कहा गया है कि ये दोष उन्हीं के मत में निश्चित रूप से प्रवृत्त होंगे, जिनका कोई पक्ष है । हमारा कोई पक्ष नहीं है, अतः ये दोष हम पर लागू नहीं होंगे । उसी के भाष्य में उल्लिखित है कि दोष प्रवृत्त न होने का हेतु 'दोष और दूषणीय दोनों का स्वभावतः असत् होना है' । यहां 'पक्ष है' या 'नहीं है'—इसका तात्पर्य स्वलक्षणतः सत्ता स्वीकार करने या न करने से है । अर्थात् जिस मत में स्वलक्षणतः या स्वभावतः सत्ता स्वीकार की

जाती है, उसके मत में 'पक्ष है' तथा जिस मत में स्वभावतः सत्ता स्वीकार नहीं की जाती, उसके बारे में कहा जाता है कि 'पक्ष नहीं है' ।

मध्यमकावतारभाष्य में उद्धृत सूत्र के अनुसार शारिपुत्र ने सुभूति से पूछा कि सुभूति, जात धर्म से अजात प्राप्ति (प्राप्य) को प्राप्त किया जाता है या जात धर्म से जात प्राप्ति को प्राप्त किया जाता है ? ऐसी परीक्षा करके पूछने पर सुभूति ने कहा कि दोनों विकल्प नहीं हैं । शारिपुत्र ने पुनः पूछा कि क्या प्राप्ति और अभिसमय नहीं हैं ? सुभूति ने कहा कि दोनों होते हैं, किन्तु उपर्युक्त दोनों दृष्टि से नहीं । अर्थात् जात से अजात प्राप्ति की या जात प्राप्ति की प्राप्ति के रूप में नहीं ।

अपि च, प्राप्ति, अभिसमय, स्रोत—आपन्न आदि लौकिक व्यवहारतया होते हैं । परमार्थतया तो प्राप्ति, अभिसमय और स्रोत—आपन्न आदि नहीं हैं । उपर्युक्त सूत्र को उद्धृत करके भाष्य में आगे आचार्य चन्द्रकीर्ति ने कहा कि 'जैसे विना परीक्षा किये लौकिक व्यवहारतया अविचाररमणीय प्राप्य की प्राप्ति स्वीकार की जाती है, उसी प्रकार दोष और दूषणीय, कारण और कार्य आदि की 'संसृष्ट होकर या असंसृष्ट होकर' इस तरह विचार कर यद्यपि व्यवस्था नहीं की जा सकती, फिर भी विना इस तरह विचार किये व्यवहारतया दूषण द्वारा दूषणीय को भलीभाँति दूषित किया जाता है । स्वभावतः (स्वलक्षणतः) शून्य दूषण द्वारा दूषणीय को दूषित करना एवं स्वभावतः शून्य हेतु से साध्य को सिद्ध करना आदि इन दो महास्थविरों (सुभूति और शारिपुत्र) के उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों के अनुसार अर्थात् उन्हीं के समान करना चाहिए ।

दोनों महास्थविरों के उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों में प्रयुक्त 'प्राप्ति की प्राप्ति' में प्रथम 'प्राप्ति' का तात्पर्य 'प्राप्य' से है । उक्त प्रकार से दो तरह की परीक्षा करके 'किस प्राप्य की प्राप्ति होगी' ? ऐसा पूछने पर 'दोनों नहीं है' ऐसा उत्तर दिया गया है, किन्तु इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं है कि प्राप्य ही नहीं है, अपि तु इसका अर्थ 'परीक्षा करने पर अनुपलब्ध होना' है । 'नहीं है' का अर्थ अभाव समझकर शारिपुत्र ने 'क्या प्राप्य प्राप्त नहीं किया जा सकता'—ऐसा पूछा । तब सुभूति ने कहा 'प्राप्त होता है' । इसका तात्पर्य यह है कि परीक्षा करनेवाली बुद्धि के सामने प्राप्य के अनुपलब्ध होने पर भी प्राप्य का अभाव नहीं है । हाँ, खोज करने पर उपलब्ध नहीं होता, यही तात्पर्य है ।

निष्कर्ष—दोनों प्रकार से परीक्षा करने पर उपलब्ध न होने का अर्थ 'परमार्थतः असत्ता' है । बिना परीक्षा किये उपलब्ध होना 'व्यवहारतः सत्ता' का अर्थ है ।

व्यवहार के बल से स्थापित न होकर वस्तु का अपनी ओर से अर्थात् स्वबल से (स्वतः) होना स्वलक्षणतः सत्ता का अर्थ है । यदि स्वलक्षणसत् धर्म स्वीकार किया जाएगा तो उपर्युक्त दो प्रकार की परीक्षा प्रवृत्त होगी, किन्तु निःस्वभावता पक्ष में उस प्रकार की परीक्षा लागू नहीं होगी ।

अत एव प्रसन्नपदा (पृ० २५) में प्रमाण–प्रमेय की स्वतः सिद्धि का खण्डन करके परस्पर की अपेक्षा से व्यवस्था करने के लिए कहा गया है ।

विग्रहव्यावर्तनी (का० ६९) और उसकी स्ववृत्ति में भी निःस्वभाव होने पर भी साध्य को सिद्ध करने की विधि सोदाहरण प्रदर्शित की गई है । मूलमाध्यमिककारिका में भी कहा गया है कि जिस मत में शून्यता की स्थापना युक्तियुक्त ढंग से हो जाती है, उस पक्ष में प्रमाणप्रमेय आदि समस्त व्यवस्थाएं सुचारुतया स्थापित हो जाती हैं, यथा :

सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते ।

मूलमाध्यमिककारिका—२४ : १४)

अर्थात् जिसके मत में शून्यता युक्त होती है, उसके मत में सभी कुछ युक्त होता है ।

इस तरह स्वलक्षणसत्ता से शून्यता वाले पक्ष में संक्लेश और व्यवदान आदि सभी की स्थापना भलीभाँति हो सकती है—ऐसा शास्त्रों में बारबार कहा गया है । अतः जो लोग ऐसा समझते हैं कि इस (शून्यता) पक्ष में हेतु द्वारा साध्य की सिद्धि तथा प्रमाण द्वारा प्रमेय की उपलब्धि आदि की प्रक्रिया को अयुक्त समझा जाता है, वे अपनी बुद्धि की अक्षमता को ही प्रकट करते हैं ।

अपि च,

यदि काचन प्रतिज्ञा तत्र स्यादेष मे भवेद् दोषः ।
नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान्नैवास्ति मे दोषः ॥

(विग्रहव्यावर्तनी का० २९)

अर्थात् यदि मेरी कोई प्रतिज्ञा हो तो मेरे मत में दोष हो सकता है, (किन्तु) मेरी कोई प्रतिज्ञा नहीं है, इसलिए मेरे ऊपर कोई दोष नहीं है ।

विग्रहव्यावर्तनी की इस उपर्युक्त कारिका का अर्थ भी 'हमारा यह (स्वलक्षणतः सिद्ध) पक्ष तो है नहीं, अतः हमारे मत में प्रसङ्ग होना असम्भव है'—यह किया गया है । फलतः प्रतिज्ञा या पक्ष न होने का अर्थ जैसा मध्यमकावतारभाष्य में प्रतिपादित है, वैसा ही है ।

तथा :

सदसत्सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते ।
उपालम्भश्चिरेणापि तस्य वक्तुं न शक्यते ॥

(चतुःशतक, १६ : २५)

अर्थात् सत्, असत् या सदसत् जिसका कोई भी पक्ष नहीं है, उसे लाख प्रयत्न करे पर भी दोष नहीं दिया जा सकता ।

चतुःशतक की इस उपर्युक्त कारिका द्वारा 'पक्ष के न होने से दोषों का आक्षेप असम्भव है'—जो ऐसा कहा गया है, इसका अर्थ 'विना परीक्षा किये अविचारित और उपचरितमात्र धर्मों की व्यवस्था करनेवाले (प्रासङ्गिक) पक्ष में उक्त प्रकार की सत्, असत् आदि परीक्षाओं द्वारा किसी भी तरह का दोषारोपण नहीं किया जा सकता—ऐसी व्याख्या मध्यमकावतारभाष्य में की गई है । ऐसा नहीं है कि अविचारित व्यवहार मानने वाले पक्ष में साध्य–साधन, प्रमाण–प्रमेय आदि की व्यवस्था मान्य नहीं है । आशय यह है कि परीक्षा करने पर कोई भी पक्ष उपलब्ध नहीं होता, अतः पासङ्गिक माध्यमिक उपचरित व्यवहारमात्र से सारी व्यवस्थाएं निष्पन्न करते हैं । इस व्यवस्था में साध्य–साधन, प्रमाण–प्रमेय आदि सभी निष्पन्न होते हैं ।

ऊपर जिन आगमों को उद्धृत किया गया है, वे आगम इस बात को प्रमाणित करने के लिए नहीं हैं कि प्रासङ्गिक मत में व्यवहार में भी साध्य–साधन, प्रमाण–प्रमेय आदि नहीं हैं । अपि तु वे व्यवहार में साध्य–साधन आदि होने के प्रमाण हैं । इसीलिए प्रसन्नपदा में कहा गया है :

न च माध्यमिकस्य सतः स्वतन्त्रमनुमानं कर्तुं युक्तम्, पक्षान्तराभ्युपगमाभावात् ।

अर्थात् माध्यमिक के लिए स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग करना युक्त नहीं है, क्योंकि उन्हें कोई भी पक्ष स्वीकार्य नहीं है । ऐसा कहकर अपनी बात की पुष्टि के लिए पूर्वोक्त आगमों को उद्धृत करना परमार्थतः या स्वलक्षणतः सिद्ध प्रतिज्ञा के युक्तियुक्त न होने का प्रमाण है । यदि ऐसी प्रतिज्ञा युक्त नहीं है तो स्वतन्त्र हेतु का प्रयोग भी अयुक्त है—इस प्रकार स्वतन्त्र हेतु का खण्डन किया गया है, न कि साध्य के साधक हेतु का ही खण्डन किया गया है ।

आचार्य चन्द्रकीर्ति का आशय यह है कि उपर्युक्त आगमों का निहितार्थ सत्, असत् किसी भी पक्ष की अस्वीकृति है । माध्यमिक पक्ष में परमार्थतः सत्ता नहीं है । परमार्थ सत्ता के न होने से स्वलक्षणसत्ता भी स्वीकार नहीं करना चाहिए । स्वलक्षणसत्ता के स्वीकार न करने से स्वतन्त्र अनुमान नहीं करना चाहिए ।

इस प्रकार स्वतन्त्र हेतु का निषेध किया जाता है, किन्तु साध्य को सिद्ध करने के लिए हेतु के प्रयोग का खण्डन नहीं किया जाता । इस सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के तीन पक्ष थे—१. शून्यता का निषेध्य 'सत्य' है और उसका निषेध (शून्यता) सत्यतः सत्य है । २. निषेध्य और निषेध दोनों स्वलक्षणतः सत् हैं तथा ३. सभी शशविषाण के समान अलीक हैं । इनमें कोई भी मत युक्तियुक्त नहीं है ।

(b) यद्यपि पक्ष, हेतु, दृष्टान्त इनमें से किसी एक का भी स्वलक्षणतः सत् होना सम्भव नहीं है, अतः स्वलक्षणतः सत्ता के आधार पर तो न केवल स्वतन्त्र हेतु, अपि तु किसी भी प्रकार के कर्म–कर्तृभाव आदि युक्ति–युक्त नहीं हैं, फिर भी उस (स्वलक्षणसत्ता) का निषेध करके साध्य–साधन, कर्म–कर्ता आदि सभी युक्तियुक्त सिद्ध किये जाते हैं ।

इस प्रासङ्गिक मत में स्वतन्त्र हेतु एवं स्वतन्त्र साध्य–साधन, कर्म–कर्ता आदि के युक्तियुक्त न होने का कारण क्या है ?

समाधान—प्रसन्नपदा में स्वतन्त्र हेतु का खण्डन करनेवाली युक्ति, उस युक्ति के परवादी द्वारा भी अर्थतः स्वीकार करने का नय तथा पूर्वपक्ष को दिये गये दोषों का स्वपक्ष में लागू न होने का नय—इन बातों का प्रतिपादन किया गया है ।

आचार्य भावविवेक ने '**न स्वतो नापि परतः**' (न स्वहेतु से, न परहेतु से भाव उत्पन्न होते हैं) इत्यादि नागार्जुन की कारिका द्वारा निर्दिष्ट हेतु का स्वसिद्धान्त के अनुसार इस प्रकार प्रयोग किया है :

न परमार्थत आध्यत्मिकान्यायतनानि स्वत उत्पन्नानि, विद्यमानत्वात्, चैतन्यवदिति (अर्थात् परमार्थतः आध्यात्मिक आयतन (चक्षु, श्रोत्र आदि) स्वतः उत्पन्न नहीं हैं, विद्यमान होने से चैतन्य के समान) । इस अनुमान प्रयोग में भावविवेक ने 'परमार्थतः' इस विशेषण का प्रयोग किया है । यदि भावविवेक ने 'परमार्थतः' इस विशेषण को अपनी प्रतिज्ञा का विशेषण बनाया है तो उसका कोई प्रयोजन नहीं है । अर्थात् इसे अपनी प्रतिज्ञा का विशेषण बनाना निष्प्रयोजन है, क्योंकि स्वयं भावविवेक के लिए इसकी कोई उपयोगिता नहीं है, क्योंकि स्वयं भावविवेक संवृति में भी स्वतः उत्पाद स्वीकार नहीं करते । अतः अपने मत की अपेक्षा से तो उन्हें इस विशेषण के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है । यदि परमत के लिए इस (परमार्थतः) विशेषण का प्रयोग किया गया है तो भी इसकी कोई उपयोगिता नहीं है, क्योंकि दोनों सत्यों से परिभ्रष्ट तैर्थिक लोगों का तो दोनों सत्यों की दृष्टि से स्वतः उत्पाद का खण्डन करना युक्त है । उनके लिए तो विना कुछ विशेषण लगाए ही खण्डन करना उचित है । लोकव्यवहार की दृष्टि से भी स्वतः उत्पाद का खण्डन करने के लिए विशेषण लगाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सामान्य लौकिक जन तो 'हेतु से कार्य उत्पन्न होता है' इतना मात्र जानते और मानते हैं, वह (कार्य) स्वतः उत्पन्न होता है कि परतः उत्पन्न होता है—ऐसी परीक्षा वे नहीं करते ।

अपि च, परवादी सांख्य द्वारा स्वीकृत परमार्थसत् चक्षु आदि के संवृति में भी स्वतः उत्पाद का निषेध करने के लिए 'परमार्थतः' इस विशेषण का प्रयोग किया गया है तो उस स्थिति में धर्मी के असिद्ध होने से यह पक्षदोष या हेतुदोष होगा, क्योंकि भावविवेक स्वमत में भी चक्षु आदि को परमार्थसत् स्वीकार नहीं करते । आशय यह है कि सांख्य द्वारा स्वीकृत परमार्थसत् चक्षु आदि के

संवृतितः भी उत्पाद के निषेध के लिए यह विशेषण है तो यह 'परमार्थतः' विशेषण धर्मी का विशेषण हो जाएगा और परमार्थसत् धर्मी स्वयं आपको ही असिद्ध है। ऐसी स्थिति में यह पक्षदोष और हेतुदोष तो होगा ही, साथ ही, यदि आपको ही स्वयं धर्मी सन्दिग्ध रहेगा तो आप दूसरों को क्या समझा सकेंगे।

यदि भावविवेक कहें कि पारमार्थिक चक्षु आदि के असिद्ध होने पर भी सांवृतिक चक्षु आदि का अस्तित्व है, अतः दोष नहीं है, तो हमारा पूछना है कि तब 'परमार्थतः' यह विशेषण किसका है ? यदि वे कहें कि 'परमार्थतः' यह विशेषण 'उत्पाद' का है। अर्थात् सांवृतिक चक्षु का परमार्थतः उत्पाद नहीं है, क्योंकि हम परमार्थतः उत्पत्ति का निषेध करते हैं। इस पर हमारा कहना है कि प्रयोग करते समय पहले तो इस प्रकार आपने कहा नहीं है ? यदि वे कहें कि ठीक है, पहले हमने नहीं कहा, किन्तु अब कहते हैं, फिर भी आप (भावविवेक) दोषमुक्त नहीं हैं, क्योंकि उस स्थिति में परवादी सांख्य को धर्मी (सांवृतिक चक्षु) असिद्ध होगा। अर्थात् संवृतिसत् चक्षु आदि सांख्य को असिद्ध हैं, क्योंकि वे उन्हें परमार्थसत् मानते हैं। वस्तुतः प्रतिपक्ष को भी धर्मी का सिद्ध होना आवश्यक होता है। ऐसा न होने पर प्रयोग करेवाले का ही दोष समझा जाता है। अतः आपके मत में उपर्युक्त दोष तदवस्थ ही हैं।

उपर्युक्त दोषों के निराकरण के सन्दर्भ में भावविवेक का कथन है कि सामान्य धर्मी का ही ग्रहण करना उचित है, अन्यथा विचार–विमर्श ही सम्भव नहीं होगा। तथा हि—बौद्ध लोग वैशेषिक के प्रति शब्द की अनित्यता सिद्ध करते समय सामान्य धर्मी का ही ग्रहण करते हैं, न कि विशेष का। विशेष धर्मी का ग्रहण करने पर साध्य–साधनभाव के अभाव का प्रसङ्ग हो जाएगा। उदाहरणार्थ यदि बौद्धों द्वारा मान्य भौतिक शब्द का धर्मी के रूप में ग्रहण किया जाए तो वह वैशेषिक को सिद्ध नहीं है। यदि वैशेषिकों द्वारा मान्य आकाशगुणक शब्द का ग्रहण किया जाए तो वह बौद्ध को सिद्ध नहीं है। अतः विशेषणरहित सामान्य शब्दमात्र का धर्मी के रूप में ग्रहण किया जाता है, उसी तरह 'परमार्थ' या 'सांवृत' विशेषणों को छोड़कर चक्षुमात्र का धर्मी के रूप में ग्रहण किया जाएगा। फलतः धर्मी के असिद्ध होने का दोष नहीं है।

समाधान—चक्षु आदि धर्मी का स्वरूप विपर्यास (विपरीत बुद्धि) द्वारा लब्ध नहीं है—ऐसा स्वयं भावविवेक ने स्वीकार किया है तथा विपर्यास और अविपर्यास परस्पर भिन्न–भिन्न ही नहीं, अपितु साक्षात्–विरुद्ध हैं—इत्यादि युक्तियों द्वारा चन्द्रकीर्ति ने खण्डन किया है। इनका मर्म यह है कि चक्षुरादि को स्वतः अनुत्पन्न सिद्ध करते समय दो सत्यों को विशेषण के रूप में न लगाकर अर्थात् परमार्थतः या संवृतितः इन दो विशेषणों को छोड़कर मात्र चक्षु आदि को धर्मी नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि उस धर्मी को जाननेवाला प्रमाण अपने विषय अर्थात् चक्षु आदि की स्वभावतः सत्ता या स्वलक्षणतः सत्ता के प्रति अभ्रान्त ज्ञान है। जब अविपर्यास अर्थात् अविपरीत ज्ञान (प्रमाण) अभ्रान्त है तो ऐसी अवस्था में उसके द्वारा उपलब्ध (प्राप्त) विषय विपरीत ज्ञेय नहीं हो सकता। अर्थात् उसका विषय ऐसा नहीं हो सकता जो स्वलक्षणतः तो असत् हो, किन्तु वह स्वलक्षणतः सत् रूप में भासित हो रहा हो, जैसा कि विपर्यास (विपरीत) ज्ञानों में मिथ्याभास हुआ करता है। आशय यह है कि उस अविपर्यास ज्ञान द्वारा लब्ध विषय परमार्थतः सत् ही होगा। अतः विशेषणों को छोड़कर मात्र सामान्य धर्मी का ग्रहण सम्भव नहीं है। वह धर्मी निश्चय ही परमार्थतः सिद्ध होगा, सामान्य रूप से सिद्ध नहीं होगा।

उस चक्षु आदि धर्मी को जाननेवाले प्रमाण का उस चक्षु आदि की स्वभावतः सत्ता के प्रति अभ्रान्त होना, वस्तुतः भावविवेक ने स्वीकार किया है। अतः 'जो सत् है, वह स्वभावतः सत् है'—ऐसा जो मानते हैं, उनके मतानुसार जो ज्ञान स्वलक्षणाभास की दृष्टि से भ्रान्त होता है, उसके द्वारा अपने प्रमेय (स्वभावसत्) की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। अतः जो ज्ञान प्रमाण होता है, चाहे वह निर्विकल्प हो या सविकल्प हो, उसे अपने अवभासित विषय स्वलक्षण के प्रति या अध्यवसेय विषय स्वलक्षण के प्रति अभ्रान्त होना चाहिए। उसे व्यवहार में नाममात्र या उपचरितमात्र के प्रति नहीं, अपि तु अपने बल से (स्वतः) स्थित (स्वभावसत्) वस्तु के प्रति प्रमाण होना चाहिए। अर्थात् उसका विषय भी नाममात्र या उपचरितमात्र न होकर अपनी वस्तुस्थिति के वश से स्वभावतः सत् होना चाहिए। ऐसा भावविवेक स्वीकार भी करते हैं। उस प्रकार के प्रमाण द्वारा उपलब्ध अर्थ का विपरीत ज्ञेय होना असम्भव है। अर्थात् वह परमार्थतः सत् होगा।

उसी प्रकार भ्रान्त ज्ञान के द्वारा उपलब्ध अर्थ का अविपरीत ज्ञेय के रूप में होना असम्भव है। फलतः धर्मी की असिद्धि के दोष का परिहार आपके द्वारा अशक्य है। अर्थात् वह दोष हटाया नहीं जा सकेगा।

यदि ऐसा कहा जाए कि 'यद्यपि शब्दग्राहक प्रमाण नित्य या अनित्य इन दो कोटियों में से किसी एक में नियत है, क्योंकि कोई तीसरी कोटि नहीं है, फिर भी नित्य या अनित्य विशेषण लगाकर उसका शब्दधर्मि–ग्राहक प्रमाण के रूप में सिद्ध होना आवश्यक नहीं है। केवल उसे (श्रोत्रविज्ञान को) शब्दग्राहक प्रमाण के रूप में सिद्ध किया जाता है। उसी प्रकार ज्ञान भी भ्रान्त या अभ्रान्त इन दो कोटियों में से किसी एक में नियत है, तीसरी कोटि नहीं है, फिर भी धर्मिग्राहक प्रमाण सिद्ध करते समय उक्त दोनों (भ्रान्त या अभ्रान्त) विशेषणों में से किसी एक को जोड़कर उसे सविशेष सिद्ध करना आवश्यक नहीं है। उसी तरह शब्द भी नित्य या अनित्य इन दो कोटियों में से किसी एक कोटि में नियत है, तीसरी कोई कोटि नहीं है, फिर भी शब्दग्राहक प्रमाण द्वारा नित्य शब्द या अनित्य शब्द किसी एक रूप में उपलब्ध न होने पर भी शब्द उपलब्ध होने में या शब्दबोध होने में विरोध नहीं है। उसी प्रकार चक्षु आदि ज्ञेय विपरीत (विपर्यस्त) या अविपरीत (अविपर्यस्त) इन दो कोटियों में से किसी एक में नियत हैं, कोई तीसरी कोटि नहीं है, फिर भी चक्षुरादि–ग्राहक प्रमाण द्वारा चक्षुरादि ज्ञेयों के विपरीत या अविपरीत किसी एक रूप में उपलब्ध न होने पर भी चक्षु–आदि का बोध होने में विरोध नहीं है। अर्थात् चक्षु–आदि के उपलब्ध होने में विरोध नहीं है। इसलिए सामान्य चक्षु आदि मात्र को धर्मी के रूप में ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है। अर्थात् सामान्य चक्षुमात्र को धर्मी के रूप में होने की अयुक्तता को दिखलाने वाली आपकी युक्तियाँ युक्तिसङ्गत नहीं हैं।

उपर्युक्त प्रकार की आशङ्काएं भावविवेक को या अन्य वस्तुवादी विद्वानों को उत्पन्न नहीं हुई, इसलिए आचार्य चन्द्रकीर्ति ने भी उनके निराकरण का प्रयास नहीं किया। फिर भी वे शङ्काएं किसी को भी हो सकती हैं, अतः इसके बारे में भोटदेश के महापण्डित आचार्य चोंखापा ने जिस प्रकार विचार प्रस्तुत किया है, तदनुसार संक्षेप में निरूपण किया जा रहा है।

कोई भी अर्थ या तो प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है या असिद्ध होता है। 'प्रमाण द्वारा सिद्ध' का अर्थ है कि यदि वह प्रमाण निर्विकल्पक ज्ञान है, तो उसमें जिस प्रकार अर्थ का आभास होता है, अर्थ की स्थिति उसी प्रकार होना चाहिए। अर्थात् आभास के अनुरूप अर्थ (विषय) होना चाहिए। यदि वह प्रमाण सविकल्पक ज्ञान है तो उसके द्वारा जिस प्रकार अर्थ का अध्यवसाय

किया जाता है, उसी प्रकार (अध्यवसाय के अनुरूप) अर्थ की स्थिति होना चाहिए। साथ ही, जिसके प्रति यह प्रतिपादन किया जा रहा है, उसे (प्रतिपक्षी) को भी यह सब ज्ञात होना चाहिए और मान्य भी होना चाहिए। यही अभ्रान्ति का अर्थ है, क्योंकि वह विषय ज्ञानगत आभास के अनुरूप स्थित है। इस व्यवस्था के द्वारा प्रमाण अपने विषय के प्रति, नियत विषय के प्रति और अध्यवसेय विषय के प्रति अभ्रान्त निश्चित किया जाता है। अतः ऐसा कथमपि नहीं हो सकता कि वस्तु तो परमार्थतः सत् या संवृतितः सत् इन दो रूपों में नियत हों, किन्तु बुद्धि के स्थल में (अर्थात् बुद्धि द्वारा) इन दोनों रूपों में दोनों निश्चित न हों। अतः स्वलक्षणाभासी अभ्रान्त ज्ञान द्वारा उपलब्ध सम्यक् ज्ञेय या परमार्थसत् ज्ञेय कहलाता है और भ्रान्त ज्ञान द्वारा उपलब्ध अर्थ विपर्यस्त (मिथ्या) ज्ञेय कहलाता है। अतः वस्तु तो सम्यग् (परमार्थतः सत्) ज्ञेय और मिथ्या (संवृतितः सत्) ज्ञेय इन दो रूपों में नियत हों और बुद्धि के सम्मुख नियत न हों–यह कैसे सम्भव है। अतः जिस प्रकार विपर्यस्तत्व (मिथ्या) और अविपर्यस्तत्व वस्तु के स्थल में निश्चित हैं, अर्थात् इन दोनों में से एक रूप होना निश्चित है, उसी प्रकार ज्ञान के स्थल में भी निश्चित हैं। ये सब बातें 'जो सत् हैं, वे स्वभावतः सत् हैं'–ऐसा माननेवालों के अनुसार 'प्रमाण द्वारा सिद्ध' के अर्थ का प्रतिपादन करने की दृष्टि से कही गई हैं। अर्थात् भावविवेक आदि की दृष्टि से कही गई हैं, प्रासङ्गिक मत ऐसा नहीं है।

इसलिए स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के अनुसार चक्षु आदि धर्मी यद्यपि अभ्रान्त ज्ञान द्वारा उपलब्ध होते हैं, फिर भी उन्हें अर्थात् शब्द के विषय और कल्पना के विषय चक्षु आदि धर्मी को भी परमार्थतः सिद्ध या संवृतितः सिद्ध नामक विशेषणों से विशिष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। अतः सामान्य चक्षु आदि धर्मी को आधार (विशेष्य) के रूप में ग्रहण करके 'वह परमार्थतः सत् है कि नहीं'–इस प्रकार परीक्षा की जा सकती है। अतः सामान्य धर्मी का ग्रहण करने पर 'परमार्थसत् और संवृतिसत्' इन दो विशेषणों को लेकर की गई परीक्षा द्वारा प्रदत्त दोष हम पर कैसे लागू हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं होंगे। भावविवेक का यह अभिप्राय है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति का कहना है कि यदि अभ्रान्त ज्ञान (अर्थात् प्रमाण) द्वारा विषय की उपलब्धि हो जाती है तो वही (उपलब्ध अर्थ) स्वभावतः सत् अर्थ हो जाता है और वही परमार्थतः सत् भी है। अतः सामान्य धर्मी के रूप में

गृहीत चक्षु आदि का निर्विशिष्ट होना (विशेषणरहित होना) कहाँ सम्भव है। अर्थात् विशेषण के आधार के रूप में गृहीत सामान्य धर्मी होना कैसे सम्भव है ? अर्थात् नहीं है। इसी अभिप्राय से चन्द्रकीर्ति ने निर्विशेष सामान्य धर्मी के ग्रहण का खण्डन किया है।

चन्द्रकीर्ति की युक्तियों का मर्म यदि भली प्रकार ज्ञात कर लिया जाए तो यह आसानी से जाना जा सकता है कि प्रासङ्गिक मत में विषयी (ज्ञान) में तथ्यसंवृति और मिथ्या संवृति ये भेद करना क्यों सम्भव नहीं हैं। प्रासङ्गिक माध्यमिक केवल लोक की दृष्टि से विषय और विषयी दोनों में तथ्य संवृति और मिथ्या संवृति दोनों की व्यवस्था करते हैं। स्वमत की दृष्टि से वे ऐसी व्यवस्था नहीं करते। इन सब का कारण ज्ञात हो जाएगा।

सविकल्पक और निर्विकल्पक दोनों प्रमाण ज्ञानों में जैसा स्वलक्षण भासित हो रहा है, उसका अभाव है। अर्थात् स्वलक्षणाभास के अनुरूप वस्तु स्वलक्षणसत् नहीं है। फिर भी (ऐसा होने पर भी) उस भ्रान्त (सविकल्प एवं निर्विकल्पक) ज्ञान द्वारा धर्मी की सिद्धि की व्यवस्था की जाती है तो साध्य रूपी निःस्वभावता अपने–आप सिद्ध हो जाती है। अतः ऐसा कोई पूर्व पक्ष ही नहीं हो सकेगा, जिसके प्रति साध्य सिद्ध किया जा सके। इसलिए धर्मी की असिद्धि का दोष पूर्ववत् स्थित है।

जब बौद्ध वैशेषिक प्रति शब्द की अनित्यता सिद्ध करते हैं, उस समय बौद्धसम्मत भौतिक और वैशेषिकसम्मत आकाशगुणक (आकाश के गुण वाला) शब्द धर्मी मान्य प्रमाणतः सिद्ध नहीं है, फिर भी प्रमाणसम्मत शब्द (धर्मी) मात्र का स्वरूप दिखलाया जा सकता है। किन्तु चक्षु आदि का स्वतः उत्पाद न मानने वाले स्वभावशून्यवादी और उनको स्वभावसत् माननेवाले अशून्यतावादी दोनों को यद्यपि स्वभावसत् और स्वभावतः असत् इन दोनों रूपों में से किसी की भी प्रमाण द्वारा उपलब्धि नहीं होती, फिर भी 'सामान्य धर्मी का स्वरूप इस प्रकार है'–ऐसा दिखलाना दोनों के लिए असम्भव है। अतः दोनों दृष्टान्तों में साम्य नहीं है। भावविवेक आदि स्वातन्त्रिक माध्यमिकों का कहना है कि उस प्रकार का सामान्य धर्मी (अर्थात् स्वभावतः सत् या स्वभावतः असत् विशेषणों से रहित निर्विशेष धर्मी) दिखलाया नहीं जा सकता, फिर भी परमार्थतः या सत्यतः सत् और परमार्थतः असत् या सत्यतः असत् इन विशेषणों के विना एक सामान्य

धर्मी दिखलाया जा सकता है। आचार्य चन्द्रकीर्ति का कहना है कि आप (स्वातन्त्रिक माध्यमिक) ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वभावतः सत्ता ही परमार्थतः या सत्यतः सत्ता है। इस प्रकार शून्यता के निषेध्य की सीमा (स्वरूप) में क्योंकि चन्द्रकीर्ति और भावविवेक दोनों आचार्यों के विचारों में असमानता या मतभिन्नता है, अतः उक्त प्रकार का वाद–विवाद उत्पन्न हुआ है।

इसलिए शब्द को अनित्य के रूप में सिद्ध करते समय भी उन स्वातन्त्रिक और वैशेषिकों के मतों से यद्यपि दोनों विशेषणों (चातुर्महाभौतिक या आकाशगुणक) से रहित धर्मी सिद्ध नहीं किया जा सकता, फिर भी सामान्य धर्मी सिद्ध हो सकता है–ऐसा कहा गया है, तथापि शब्दग्राहक प्रमाण शब्द के जिस स्वरूप में प्रमाणभूत हुआ है, शब्द के उस स्वरूप में वैसा प्रमाण नहीं होता, जैसा वे दोनों कहते हैं। वैसा अर्थात् ज्ञान में प्रामाण्य का आना समान नहीं होगा।

यह बात स्वभावसद्वादी पक्ष की दृष्टि से कही गई है। यदि प्रासङ्गिक पक्ष हो तो भी वैशेषिक एवं स्वातन्त्रिक आदि पूर्वपक्ष को स्वभावसत् एवं स्वभावतः असत् विशेषणों के विना सामान्य धर्मी की तद्ग्राहक प्रमाण द्वारा सिद्धि नहीं दिखाई जा सकती। उपर्युक्त युक्तियों से वादी एवं प्रतिवादी दोनों को परमार्थसत् और संवृतिसत् विशेषणों से रहित हेतु भी सिद्ध नहीं होगा–इस प्रकार का आक्षेप यदि दिया जाए तो वह प्रासङ्गिक मत में लागू नहीं होगा, क्योंकि हम प्रासङ्गिक स्वतन्त्र हेतु स्वीकार नहीं करते। हमारे अपने मत में साध्य को सिद्ध करनेवाले जितने सम्यक् प्रयोग हैं, उनका परवादी द्वारा सिद्ध होना मात्र पर्याप्त माना जाता है, क्योंकि वे प्रयोग परवादी की विप्रतिपत्ति के निराकरण मात्र के लिए हैं।

स्वपक्ष तथा परपक्ष दोनों में से किसी एक की सिद्धि से क्या अपर्याप्तता दोष नहीं है ? इसका समाधान करते हुए आचार्य चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि किसी एक पक्ष द्वारा सिद्ध अनुमान द्वारा भी अनुमान में बाधा हो सकती है, वह बाधा भी स्वप्रसिद्ध अनुमान द्वारा होती है, न कि परप्रसिद्ध अनुमान द्वारा, लोक में भी ऐसा देखा जाता है। अतः अपर्याप्तता दोष नहीं है। लौकिक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा कि किसी वाद–विवाद में साक्षी के वचन से भी

जय–पराजय होती हैं और स्ववचन से भी होती है । जैसा लोक में होता है, वैसा ही न्यायशास्त्र में भी होना चाहिए ।

आचार्य चन्द्रकीर्ति का कहना है कि 'साधन और दूषण दोनों को वादी और प्रतिवादी दोनों द्वारा सिद्ध होना चाहिए'—ऐसा माननेवाले दिङ्नाग आदि आचार्यों को भी हमारा उपर्युक्त कथन स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि आगमबाधा देते समय और स्वार्थानुमान के स्थल में स्वसिद्ध होना ही पर्याप्त होता है । इसीलिए प्रज्ञाप्रदीप (भावविवेक कृत मूलमाध्यमिककारिका की टीका) में किसी अन्य की आलोचना करते समय 'यह दूषण स्वतन्त्रतया है या प्रसङ्गतया'—ऐसा पूछा गया है । यहां प्रयुक्त 'स्वतन्त्र' शब्द का तात्पर्य स्वतन्त्र हेतु से है ।

अतः स्वतन्त्र हेतु का अर्थ इस प्रकार होता है—परवादी की स्वीकृति की विना अपेक्षा किये वस्तुस्थिति के वश से स्वतः सिद्ध धर्मी और हेतु को प्रमाण द्वारा निश्चित करके साध्य के अवबोधक अनुमान का उत्पाद करने के लिए प्रयुक्त हेतु 'स्वतन्त्र हेतु' है । 'जो सत् है वह स्वभावतः सत् है'—ऐसा मानने वाला परवादी जब तक साध्य सिद्ध न हो तब तक स्वतः सत् या असत् दोनों में से किसी एक विशेषण को न लगाकर 'प्रमाण द्वारा प्रमेय की सिद्धि का नय इस प्रकार है'—ऐसा दिखलाने में समर्थ नहीं है । इसलिए प्रासङ्गिक माध्यमिक हेतु एवं साध्य स्वीकार करते हैं, किन्तु स्वतन्त्र हेतु एवं स्वतन्त्र साध्य नहीं मानते ।

प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व हेतु और प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त द्वारा अङ्कुर की निःस्वभावता सिद्ध करनेवाले परप्रसिद्ध हेतु का प्रयोग करते समय स्वयं (प्रासङ्गिक माध्यमिक अपने मत में) 'अङ्कुर को प्रतीत्यसमुत्पन्न' और 'प्रतीत्यसमुत्पाद के साथ निःस्वभावता की व्याप्ति' न मानने के कारण 'स्वतन्त्र हेतु का प्रयोग नहीं किया जाता'—ऐसा नहीं कहते, अपि तु परवादी भी प्रमाण द्वारा स्वतः सिद्ध हेतु और व्याप्ति आदि सिद्ध नहीं कर पाते, अतः स्वतन्त्र हेतु नहीं माना जाता । इसी को हम दूसरे शब्दों में 'प्रमाण द्वारा वादी और प्रतिवादी दोनों को हेतु एवं व्याप्ति आदि असिद्ध हैं और परप्रसिद्ध अनुमान है'—कहते हैं ।

अङ्कुर और अङ्कुर के प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व को जानने वाला व्यावहारिक सहज प्रमाण वादी और प्रतिवादी दोनों की चित्तसन्तति में विद्यमान होता है,

किन्तु प्रतिवादी की सन्तति में अङ्कुर को जाननेवाला प्रमाण और उसे (अङ्कुर को) स्वभावसत् जाननेवाली बुद्धि दोनों संसृष्ट (मिश्रित) होकर विद्यमान रहते हैं । उस परवादी की सन्तति में जब तक शून्यता दृष्टि उत्पन्न नहीं होती, तब तक उन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता । सिद्धान्तवादी की सन्तति में दोनों का असंसृष्ट (अमिश्रित) ज्ञान है, फिर भी प्रतिवादी को शून्यताज्ञान होने तक वैसा दिखाया नहीं जा सकता ।

प्रासङ्गिक माध्यमिक परस्पर स्वीकृति की अपेक्षा न करके प्रमाण द्वारा प्रमेय की सिद्धि का नय दिखला सकते हैं, फिर भी वह प्रमाण नाम और व्यवहार के वश से स्थापित प्रमाण ही होता है, न कि वस्तु के स्वभाव के वश से स्थापित होता है । अतः उनके मत में उपयुक्त नहीं होने से स्वतन्त्र हेतु नहीं माना जाता ।

अङ्कुर के ग्रहण में तीन प्रकार की दृष्टियाँ होती हैं,—अङ्कुर का स्वभावतः सत् रूप में ग्रहण, उसका स्वभावतः असत् रूप में ग्रहण तथा इन दोनों विशेषणों को छोड़कर अङ्कुर मात्र का ग्रहण । जिनकी सन्तति में शून्यतादृष्टि विद्यमान होती है, उन लोगों को यद्यपि तीनों प्रकार के ग्रहण होते हैं, किन्तु जिनकी सन्तति में शून्यतादृष्टि नहीं होती, उनकी सन्तति में प्रथम और तृतीय (अन्तिम साध्य) ग्रहण ही होता है, मध्यग्रहण नहीं होता । इस नय को ठीक प्रकार से जान लिया जाए तो व्यक्ति कल्पना द्वारा गृहीत सभी ग्राह्यों का निषेध नहीं करेगा तथा उसकी सन्तान में शून्यतादृष्टि के उत्पाद से पूर्व उत्पन्न बोधिचित्त एवं श्रद्धा आदि सभी सम्यक् विकल्पों को सत्यग्रहण एवं निमित्तोद्ग्रहण समझ कर चर्यापक्ष के प्रति उपेक्षा करनेवाली मिथ्या दृष्टियाँ भी उत्पन्न नहीं होंगी ।

अत एव परप्रसिद्ध हेतु द्वारा साध्य को सिद्ध करने में प्रतिवादी द्वारा स्वीकृति मात्र पर्याप्त नहीं है, अपि तु उनके मत में धर्मी एवं हेतु आदि प्रमाणतः सिद्ध होना चाहिए और स्वीकृत होना चाहिए । अन्यथा विपरीत ज्ञान होने पर यथार्थ तत्त्वदृष्टि (शून्यतादृष्टि) उत्पन्न न हो सकेगी । व्यवहार प्रमाण के विना परमार्थ को जानने वाले प्रमाण उत्पन्न नहीं हो सकते । आचार्य नागार्जुन ने कहा है :

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते ।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ॥

(मूलमाध्यमिककारिका, २४ : १०)

इस प्रासङ्गिक मत के अनुसार भावविवेक आदि स्वातन्त्रिक माध्यमिक आचार्य किसी भी धर्म को परमार्थतः सत् नहीं मानते, फिर भी उनकी स्वलक्षणसत्ता मानते हैं, अतः क्या वे माध्यमिक नहीं हैं ?

उन आचार्यों के द्वारा यद्यपि स्वलक्षणसत्ता स्वीकार की जाती है, फिर भी वे धर्मों की परमार्थतः सत्ता का अनेक युक्तियों से अच्छी प्रकार खण्डन करके समस्त जगत् को असत् सिद्ध करते हैं, अतः वे माध्यमिक हैं । हमारे इस कथन का 'माध्यमिक को स्वतन्त्र हेतु का प्रयोग नहीं करना चाहिए' इस पूर्ववचन से कोई विरोध नहीं है । इसे इस प्रकार समझना चाहिए, यथा— उपसम्पन्न भिक्षु को प्रज्ञप्त शील का उल्लंखन नहीं करना चाहिए, ऐसा भगवान् ने कहा है, फिर भी यदि कुछ पालनीय धर्मों का उल्लंघन हो जाता है तो इतने मात्र से वह अभिक्षु नहीं हो जाता ।

(ग) सूत्रविरोध का परिहार

इसे हम दो भागों में विभक्त करके प्रतिपादन करेंगे, यथा— (क) सन्धिनिर्मोचनसूत्र से विरोध का परिहार तथा (ख) सन्धिनिर्मोचनसूत्र और मैत्रेयपरिपृच्छा में असमानता का प्रतिपादन ।

(क) सन्धिनिर्मोचनसूत्र से विरोध का परिहार

आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र में परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न— इन तीन लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है । इनमें परिकल्पित लक्षण असत् है, परतन्त्र द्रव्यसत् है तथा परिनिष्पन्न परमार्थसत् है । विज्ञानवादी दार्शनिक इसे (इस सूत्र को) शत—प्रतिशत शब्दशः स्वीकार करते हैं और इसी सूत्र के आधार पर अपने दर्शन को प्रतिष्ठित करते हैं । किन्तु प्रासङ्गिक इसे स्वीकार नहीं करते । उनके मतानुसार यह सन्धिनिर्मोचनसूत्र नेयार्थ है, न कि नीतार्थ ।

सन्धिनिर्मोचनसूत्र की नेय—नीतार्थता के बारे में नागार्जुन, आर्यदेव एवं बुद्धपालित के शास्त्रों में स्पष्ट व्याख्या उपलब्ध नहीं होती, फिर भी चन्द्रकीर्ति ने अपने मध्यमकावतार में उसकी नेयार्थता का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया है । उनका कहना है कि अन्य आगमों द्वारा भी यह (सन्धिनिर्मोचन) सूत्र नेयार्थ सिद्ध होता है, यथा :

आतुरे आतुरे यद्वद् भिषग् द्रव्यं प्रयच्छति ।
बुद्धा हि तद्वत् सत्त्वानां चित्तमात्रं वदन्ति वै[1] ॥

अर्थात् प्रत्येक रोगी को एक कुशल वैद्य अलग—अलग औषधि—द्रव्य देता है, उसी तरह भगवान् भी सत्त्वों को चित्तमात्र की देशना करते हैं ।

इस आगम के द्वारा चित्तमात्रता की देशना करनेवाले (सन्धिनिर्मोचन आदि) सूत्रों को नेयार्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है ।

इस प्रकार इन सूत्रों के आधार पर विज्ञानवादियों द्वारा प्रतिपादित निम्नलिखित सिद्धान्तों को अन्य आगमों और युक्तियों के आधार पर प्रासङ्गिक माध्यमिक नेयार्थ में ही प्रकाशित करते हैं । फलतः ऐसे सूत्र नेयार्थ सिद्ध होते हैं, यथा— (१) परिकल्पित स्वलक्षणः असत् और परतन्त्र स्वलक्षणः सत् (२) आलयविज्ञान का प्रतिपादन (३) बाह्यार्थ का अभाव एवं (४) पर्यन्त तीन गोत्रों का प्रतिपादन ।

सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र एवं अभिधर्मसमुच्चय आदि में एक ही यान सिद्ध किया गया है, अतः अन्तिम चतुर्थ सिद्धान्त नेयार्थ सिद्ध होता है ।

विज्ञानवादी बाह्यार्थ का निषेध करने के लिए प्रमुखतः निम्न सूत्र उद्धृत करते हैं :

दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्त चित्रं हि दृश्यते[2]

---

१. द्र०— लङ्कावतारसूत्र २:१२३ पृ० ४९ (जापानी संस्करण १९५६) ।
२. द्र०— लङ्कावतारसूत्र, ३:३३ पृ० १५४ (जापानी संस्करण १९५६) ।

अर्थात् चित्त ही विभिन्न आकार में दिखाई देता है, बाह्य दृश्य सर्वथा नहीं है ।

माध्यमिक कहते हैं कि यह सूत्र बाह्यार्थ का निषेध करनेवाला नहीं है, अपितु चित्त से अतिरिक्त ईश्वर आदि जगत् के कर्ता का निषेध करता है । इसके विपरीत अन्य सूत्र हैं, जो बाह्यार्थ का निषेध नहीं करते ।

जिस प्रकार भिन्न–भिन्न रोगियों को भिन्न–भिन्न औषधि देना वैद्य की इच्छा के वश से नहीं है, अपितु रोगी के रोग की स्थिति के वश से है[१] , इसी प्रकार भगवान् द्वारा प्रदत्त चित्तमात्रता की देशना भी शास्ता तथागत के अपने नय के वश से नहीं, अपितु चित्तमात्रता में अभिनिविष्ट विनेयजनों के आशय के वश से है । इस प्रकार बाह्यार्थ के अभाव या चित्तमात्रता की देशना नेयार्थ के रूप में ज्ञापित की गई है ।

आलयविज्ञान और तथागतगर्भ पर्यायवाची है, जैसे– लङ्कावतारसूत्र में उक्त है–"**तथागतगर्भ आलयविज्ञानसंशब्दितः सप्तभिर्विज्ञानैः सह**[२]" अर्थात् तथागतगर्भ आलयविज्ञान शब्द द्वारा कहा गया है और वह सात (प्रवृत्ति) विज्ञानों के साथ होता है । तथागतगर्भ और आलयविज्ञान दोनों में से एक (तथागतगर्भ) नित्य और दूसरा (आलयविज्ञान) अनित्य के रूप में प्रतिपादित है । अतएव शब्दशः दोनों का एक में प्रतिपादन नहीं किया गया है, फिर भी जिस आशय से तथागतगर्भ की देशना की गई है, उसी अभिप्राय से आलयविज्ञान का प्रतिपादन किया गया है, इसलिए आभिप्रायिकार्थ की अपेक्षा से दोनों एकार्थक हैं । क्योंकि तथागतगर्भ का लङ्कावतारसूत्र में नेयार्थ के रूप में प्रतिपादन किया गया है, अतः आलयविज्ञान का प्रतिपादन करने वाला सूत्र भी नेयार्थ सिद्ध होता है ।

तथागतगर्भ का प्रतिपादन करनेवाला सूत्र विज्ञप्तिमात्रतावादियों के मत में नीतार्थ माना जाता है– ऐसा हम नहीं कह रहे हैं । तथागतगर्भ की नेयनीतार्थता के विषय में विज्ञप्तिमात्रतावादी और माध्यमिक दोनों एकमत हैं । किन्तु तथागतगर्भ को नेयार्थ के रूप में प्रतिपादन करनेवाले सूत्र का उद्धरण देकर हम सन्धिनिर्मोचन में जो आलयविज्ञान को शब्दशः नीतार्थ सिद्ध किया गया है,

१. द्र० – लङ्कावतारसूत्र २:१२३ पृ० ४९ (जापानी संस्करण १९५६) ।
२. लङ्कावतारसूत्र, क्षणिकपरिवर्त, पृ० २२० ।

उसको नेयार्थ के रूप में सिद्ध कर रहे हैं । तथागतगर्भ की देशना नीतार्थ नहीं है, ऐसा लङ्कावतार में स्पष्टतया वर्णित है । तथा हि :

एतस्मात् कारणान्महामते, तीर्थकरात्मवादोपदेशतुल्यस्तथागत–गर्भोपदेशो न भवति । एवं हि महामते, तथागतगर्भोपदेशमात्मवादाभिनिविष्टानां तीर्थकराणामाकर्षणार्थं तथागतगर्भोपदेशेन निर्दिशन्ति । कथं वताभूतात्मविकल्पदृष्टिपतिताशया विमोक्षत्रयगोचरपतिताशयोपेताः क्षिप्रमनुत्तरां सम्यक्संबोधिमभिसंबुध्येरन्निति । एतदर्थं महामते, तथागता अर्हन्तः सम्यक्संबुद्धास्तथागतगर्भोपदेशं कुर्वन्ति । अत एतन्न भवति तीर्थकरात्मवादतुल्यम् । तस्मात्तर्हि महामते, तीर्थकरदृष्टिविनिवृत्त्यर्थं तथागतनैरात्म्यगर्भानुसारिणा च ते भवितव्यम्[१] ।

अर्थात् इस कारण महामति, तथागतगर्भ का उपदेश तैर्थिकों के आत्मवाद के तुल्य नहीं है । महामति, आत्मवाद में अभिनिविष्ट तैर्थिकों के आकर्षण के लिए तथागत 'तथागतगर्भ' के नाम से तथागतगर्भ का उपदेश इसलिए करते हैं कि किस तरह मिथ्या आत्मविकल्प और आत्मदृष्टि में पतित आशय वाले (तैर्थिक) लोग तीन विमोक्षों के गोचर (शून्यता) में स्थित होकर शीघ्र से शीघ्र अनुत्तर सम्यक् संबोधि प्राप्त कर लें । इसलिए महामति, तथागत अर्हत्, सम्यक् संबुद्ध तथागतगर्भ का उपदेश करते हैं । इसलिए यह तैर्थिकों के आत्मवाद के तुल्य नहीं है । इसलिए महामति, तैर्थिकों की आत्मदृष्टि के निवारण के लिए नैरात्म्य तथागतगर्भ का अनुसरण करनेवाला तुम्हें होना चाहिए ।

इस तरह तथागतगर्भ की देशना आभिप्रायिक सिद्ध होती है । आभिप्रायिक या नेयार्थ देशना होने के लिए उसका अभिप्राय, प्रयोजन एवं शब्दशः अर्थ ग्रहण में आगमबाधा बतलानी चाहिए । तदनुसार अभिप्राय तो धर्मनैरात्म्य या शून्यता है तथा प्रयोजन है नैरात्म्य से भयभीत लोगों को भय से मुक्त करना तथा जो लोग आत्मवाद के प्रति अभिनिविष्ट हैं, उन्हें क्रमशः अनात्म की ओर ले जाना । इसी के लिए यह देशना की गई है । इसी दृष्टि से तथागतगर्भ और आत्मवाद दोनों असदृश सिद्ध किये गये हैं ।

१. द्र० – लङ्कावतारसूत्र, पृ० ७८–७९ (जापानी संस्करण १९५६) ।

शास्ता ने जिस आशय से देशना की है, उसका अभिप्राय और शाब्दिक प्रतिपादन दोनों में बड़ा फर्क है । आत्मवादियों के द्वारा शाश्वत आत्मा आदि का प्रतिपादन तो उस के प्रति दृढ़ निश्चय उत्पन्न करने के लिए है, जबकि शास्ता द्वारा जो तथागतगर्भ की देशना की गई है, वह तो पहले कुछ समय के लिए शब्दानुसारी अर्थ की सत्ता का ग्रहण करने के बाद जिस आशय (धर्मनैरात्म्य या शून्यता) से देशना की गई है, उस आशय की ओर ले जाने के लिए है । इसलिए वे दोनों समान नहीं हैं ।

तथागतगर्भदेशना का शब्दशः अर्थग्रहण का अनुचित होना तो लङ्कावतार के "**तस्मात्तर्हि महामते, अर्थानुसारिणा भवितव्यम्, न देशनाभिलापाभिनिविष्टेन**[1]" (अर्थात् महामति, तुम्हें अर्थ का अनुसरण करनेवाला होना चाहिए, न कि शब्द का अनुसरण करनेवाला)– इस वचन से ही सिद्ध हो जाता है । इस देशना का प्रयोजन तो आत्मवादियों को विनेय बनाना है । अर्थात् यह देशना विनेयजनों के आशय के अधिकार से प्रदत्त है, तथा हिः – "**बालानां स्वविकल्पसन्तोषणं न तु सा तत्त्वार्यज्ञानव्यवस्थानकथा**[2]" अर्थात् बाल–पृथग्जनों के विकल्पों के सन्तोष के लिए है, न कि वह आर्य (बोधिसत्त्व) ज्ञान की दृष्टि से तत्त्व की व्यवस्था करनेवाली कथा है । तथागतगर्भ को नेयार्थ के रूप में दिखाना दोनों प्रकार के विनेयजनों के लिए हैं । एक तो स्वनैकायिक हैं और दूसरे परनैकायिक ।

सामान्य स्वनैकायिक जो साधारण पुद्गलनैरात्म्य जानते हैं और स्थूल धर्मनैरात्म्य भी जानते हैं, उन्हें तत्त्व (सर्वधर्मनिःस्वभावता) की ओर आकृष्ट करने के लिए नेयार्थ देशना की गई है ।

दूसरे बौद्धेतर परनैकायिक हैं, जो लाक्षणिक आत्मवादी हैं अथवा जिन्होंने पूर्वजन्मों में अत्यधिक आत्मदृष्टि का अभ्यास कर लिया है, जिसकी वज़ह से वे फिलहाल साधारण पुद्गलनैरात्म्य के भी पात्र नहीं हैं, इनके लिए तथागतगर्भ को आत्मा समझ लेने पर दोष दर्शाना अत्यन्त सरल है ।

१. द्र०– लङ्कावतारसूत्र, पृ० ७७ (जापानी संस्करण १९५६) ।
२. द्र०– लङ्कावतारसूत्र, पृ० ७७ (जापानी संस्करण १९५६) ।

पहले कहा गया है कि तथागतगर्भ और आलयविज्ञान एकार्थक हैं । घनव्यूह सूत्र में उक्त है :

विविध स्थान आलय है । कुशल तथागतगर्भ भी वही है । उस तथागतगर्भ का 'आलय' शब्द के द्वारा तथागत ने निर्देश किया है ।

आचार्य चन्द्रकीर्ति का कहना है कि निःस्वभावता सभी वस्तुओं का निजी स्वभाव है । अतः आलयविज्ञान द्वारा शून्यता ही प्रतिपादित की गई है । लङ्कावतारसूत्र में भी उक्त है–"**एतद्धि महामते, शून्यतानुत्पादाद्वय–निःस्वभावतालक्षणं सर्वबुद्धानां सर्वसूत्रान्तगतम्**'[1]" अर्थात् महामति, शून्यता, अनुत्पाद, अद्वय, निःस्वभावता तो सभी बुद्धों के सभी सूत्रों में अन्तर्निविष्ट है । अतः आलयविज्ञान की देशना जिनके लिए की गई है, वे विनेयजन साधारण पुद्गलनैरात्म्य और ग्राह्य–ग्राहकद्वय से या बाह्यार्थ से शून्यता के पात्र तो होते हैं, किन्तु सर्वधर्मनिःस्वभावता का अधिगम करने में असमर्थ होते हैं, उनके लिए उक्त सूत्रों के द्वारा तथागतगर्भ की देशना नेयार्थ सिद्ध की गई है ।

विज्ञानवादियों का मानना है कि आलयविज्ञान की देशना की जाने पर बाह्यार्थतः शून्यता या ग्राह्य–ग्राहकद्वय शून्यता का ही प्रतिपादन करना चाहिए, न कि सर्वधर्मशून्यता का । ऐसे विनेयजनों के भ्रम का निवारण करने के लिए उक्त सूत्र उद्धृत किया गया है, जिसमें कहा गया है कि शून्यता आदि सभी बुद्धों के सभी सूत्रों का वास्तविक अर्थ है । अतः उक्त सूत्र के द्वारा विज्ञानवादियों के 'परिकल्पित असत् है और परतन्त्र सत् है'– इस मत से भेद दिखलाया गया है । लङ्कावतारसूत्र में तो आगे यहाँ तक लिखा है– "**यत्र क्वचित् सूत्रान्तेऽयमेवार्थो विभावयितव्यः**[2]" अर्थात् जहाँ कहीं सूत्र में (ऐसा उल्लिखित हो, वहाँ) यही अर्थ जानना चाहिए ।

(ख) सन्धिनिर्मोचन और मैत्रेयपरिपृच्छा में असमानता का प्रतिपादन

१. द्र०– लङ्कावतारसूत्र, पृ० ७७ (जापानी संस्करण १९५६) ।
२. द्र०– वहीं ।

पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता के 'मैत्रेयपरिपृच्छा' नामक परिच्छेद में जो त्रिविध लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है, वह प्रासङ्गिक माध्यमिक मत के अनुकूल है । सन्धिनिर्मोचन एवं मैत्रयपरिपृच्छा में जो त्रिविध लक्षणों की व्यवस्था की गई है, वह परस्पर अत्यन्त भिन्न है, तथापि दोनों में इतना सूक्ष्म अन्तर है कि उसका सुस्पष्ट भेदकर पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है । भोट देश के महान् पण्डित आचार्य चोङ्खापा ने इस विषय का सूक्ष्म विश्लेषण किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि मैत्रेयनाथ परिपृच्छा में प्रतिपादित त्रिविध लक्षणों की व्याख्या प्रासङ्गिक मत के सर्वथा अनुकूल है तथा आर्यसन्धि-निर्मोचनसूत्र की व्याख्या से नितान्त असदृश है ।

मैत्रेयनाथ परिपृच्छा के अनुसार संक्षेप में रूप से लेकर बुद्धत्व पर्यन्त समस्त धर्म परतन्त्र लक्षण हैं, प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, व्यवहारसत् हैं, किन्तु उनकी स्वलक्षणतः सत्ता या स्वभावतः सत्ता नहीं है । रूप आदि धर्मों की स्वभावतः या स्वलक्षणतः सत्ता परिकल्पित लक्षण है तथा उनकी निःस्वभावता परिनिष्पन्न लक्षण है । इसलिए त्रिविध लक्षणों की स्थापना केवल विज्ञानवादियों की ही विशेषता नहीं है । अर्थात् केवल विज्ञानवाद में ही त्रिविध लक्षणों की स्थापना नहीं की गई है, अपितु प्रासगिक माध्यमिक भी इसकी व्यवस्था करते हैं ।

मैत्रेयनाथ परिपृच्छा में त्रिविध लक्षणों का नाम कुछ भिन्न प्रकार से है, यथा– परिकल्पित रूप (लक्षण या स्वभाव), विकल्पित रूप एवं धर्मता रूप । इनमें परिकल्पित रूप अद्रव्यसत् है । विकल्पित (परतन्त्र) रूप द्रव्यसत् है, किन्तु उसका द्रव्यसत् होना स्वतन्त्रतः या स्वभावतः उत्पन्न होने की वज़ह से नहीं है तथा जो धर्मता रूप (परिनिष्पन्न) है, वह न द्रव्यसत् और न अद्रव्यसत् है । अतः उसे परमार्थ होने के कारण संवृति से पृथक् करके देखना चाहिए । रूप से लेकर बुद्धत्व पर्यन्त सभी धर्मों को इस सूत्र में विभिन्न युक्तियों से नाममात्रतः सिद्ध किया गया है ।

बोधिसत्त्वचर्या की शिक्षा–ग्रहण करने के इच्छुक व्यक्ति को 'रूप से लेकर बुद्धत्वपर्यन्त सभी धर्मों की शिक्षा किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए– इस प्रश्न के उत्तर में मैत्रेय ने कहा कि 'वे सभी धर्म नाममात्रतः सत् हैं' ऐसी शिक्षा लेनी चाहिए । इसका अर्थ है कि 'नाम या प्रज्ञप्ति' आगन्तुक है, उसके विषय की

सत्ता नहीं है । आगन्तुक का तात्पर्य कृत्रिम होने से है । इस प्रकार इस कथन के द्वारा उनके स्वभावतः होने का खण्डन किया गया है ।

अतः नामतः प्रज्ञप्त सभी धर्म जो व्यवहार के वश से सत् के रूप में स्थापित हैं, वे कृत्रिम होते हैं । फलतः व्यवहार के वश से स्थापित हुए बिना उस नामप्रवृत्ति के आधार (विषय या आलम्बन) का अभाव है । पर सामान्यतया आधार वस्तु का अभाव नहीं है । फलतः उनकी व्यावहारिक सत्ता के होने और नामतः प्रज्ञप्तिमात्र होने में कोई विरोध नहीं है, यह इसका तात्पर्य है ।

रूप आदि की यदि स्वलक्षणतः सत्ता होती तो जिसमें 'यह रूप है– ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे नाम की अपेक्षा के बिना भी उत्पन्न होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता । जैसे अङ्कुर यदि स्वलक्षणतः सिद्ध हो तो उसे बीज की अपेक्षा के बिना भी उत्पन्न होना चाहिए । एक वस्तु के अनेक नाम तथा अनेक वस्तुओं का एक नाम स्वलक्षणतः सत् हो तो एक वस्तु अनेक हो जाएगी और अनेक वस्तुएं एक हो जाएंगी । यह दोष होगा । अतः नामप्रज्ञप्ति को आगन्तुक कहा गया है । इस प्रकार स्वलक्षणतः सिद्ध स्वभाव का अभाव होने पर भी संज्ञा की आधार वस्तु के होने और उसे नाम–प्रज्ञप्ति मात्र कहने में कोई विरोध नहीं है ।

क्या रूप आदि का सर्वथा अभाव है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि स्वभाव, उत्पाद एवं निरोध तथा संक्लेश एवं व्यवदान का जो निषेध किया गया है, वह परमार्थ के वश से है तथा व्यवहार में रूप आदि सभी का अस्तित्व सिद्ध किया गया है । इसलिए जो नामतः प्रज्ञप्तिमात्र है, वह भी व्यवहारतया ही है । अतः सन्धिनिर्मोचन के व्याख्यान से मैत्रेयनाथ परिपृच्छा का व्याख्यान नय कैसे अनुकूल होगा या समान होगा ?

उक्त सूत्र में 'मैत्रेय, जो उस संस्कृत लक्षण वस्तु में नाम, संज्ञा, आरोप और व्यवहार के आधार के वश से रूप–स्वभाव की कल्पना करता है, यह परिकल्पित रूप है । बुद्धत्वपर्यन्त यह परिकल्पित रूप ऐसा ही है– ऐसा कहा गया है ।

उसी सूत्र में 'संस्कृतलक्षण वस्तु, जो विकल्पमात्र की तथता में स्थित है, को विकल्प के आधार के रूप में अभिलपित किया जाता है, जिसमें 'यह

रूप है, यह वेदना है, से लेकर बुद्धत्वपर्यन्त नाम, संज्ञा, आरोप और व्यवहार होते हैं– ये सभी विकल्पित रूप हैं । ये विकल्पित रूप बुद्धत्व पर्यन्त ऐसे ही हैं– ऐसा कहा गया है ।

यहाँ संस्कृत लक्षण वस्तु से तात्पर्य अभिधेय से हैं । विकल्पना पर आश्रित उस अभिलाप के अभिधेय वे रूप आदि ही हैं । इस प्रकार व्याख्या की जाने के कारण अभिधेय और विकल्पना भी विकल्पित के रूप में प्रतिपादित हैं।

धर्मता रूप भी उसी सूत्र में 'विकल्पित रूप में परिकल्पित रूप का जो अभाव है, और जो निःस्वभावतामात्र है, धर्मनैरात्म्य है, तथता है, सम्यगन्त है, धर्मतारूप है । ये धर्मतारूप बुद्धत्व पर्यन्त ऐसे ही हैं'– ऐसा कहा गया है । इस प्रकार प्रज्ञप्त रूप की स्वभावता का अभाव और धर्मनैरात्म्य आदि 'धर्मतारूप' है । वह भी परिकल्पित स्वभाव का अभाव या आत्मा का अभाव है । आत्मा या स्वभाव परिकल्पित है, जिसका यहाँ अभाव है । उस प्रकार का स्वभाव या आत्मा तो परतन्त्र, जो कृतक और प्रतीत्यसमुत्पन्न है, में परिकल्पितमात्र है, क्योंकि तथागत ने स्वभाव को अकृत्रिम और परनिरपेक्ष कहा है । बुद्ध के विषय (गोचर) में तो केवल यथार्थ या तथता होती है, वहाँ परिकल्पित नहीं होता । बुद्ध तो कृतक वस्तु का स्पर्श किये बिना केवल वस्तुस्थिति अर्थात् शून्यता का ही साक्षात्कार करते हैं, इस लिए बुद्ध कहे जाते हैं ।

इस प्रकार मैत्रेयनाथपरिपृच्छा माध्यमिकों के अनुकूल है । इसी के आधार पर वे तीनों लक्षणों की व्यवस्था करते हैं । इस जननीसूत्र के आधार पर मध्यमकावतार में स्पष्टतया कहा गया है कि विकल्पित रूप का तात्पर्य 'रूप से लेकर बुद्धत्व पर्यन्त' जो प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म हैं, वे परतन्त्र धर्म ही विकल्पित रूप हैं । इस परतन्त्र में सस्वभावता की प्रज्ञप्ति परिकल्पित रूप है, जो रूप से लेकर बुद्धत्व पर्यन्त सभी धर्मों में होती है । परतन्त्र का स्वभावतः सत् होना यद्यपि परिकल्पित है, तथापि जो बुद्ध के ज्ञान का विषय होती है, वह वस्तुस्थिति या स्वभाव परिनिष्पन्न है । परतन्त्र का परिकल्पित से शून्य होना परतन्त्र की वस्तुस्थिति है । वही वस्तुस्थिति या शून्यता बुद्ध के परमार्थ ज्ञान की विषय होती है और यही धर्मतारूप है ।

फलतः एक ही वस्तुस्थिति का आधारभेद से परिकल्पित और परिनिष्पन्न– इन दोनों में व्यवस्था की जाती है । परमार्थ और सांवृतिक कोई भी धर्म स्वलक्षणतः सिद्ध नहीं है, फिर भी धर्मस्वभाव की जो व्यवस्था की गई है, उसमें परमार्थ सत्य सिद्ध होता है । परतन्त्र (कृतक) का स्पर्श किये बिना केवल धर्मता स्वभाव का ही साक्षात्कार करने की जो बात कही गई है, वह तो परमार्थ सत्य को प्रत्यक्षतया जानने वाले बुद्धज्ञान के समक्ष धर्मी की सत्ता का खण्डन करती है । इसमें कोई विरोध नहीं है ।

विकल्पित रूप के द्रव्यसत् होने की बात जो सूत्र में कही गई है, उसका कारण विकल्पना के द्रव्यसत् होने से उसकी द्रव्यसत् के रूप में व्यवस्था की गई है, न कि स्वतन्त्रतः या स्वलक्षणतः उत्पन्न होने की वजह से द्रव्यसत् होना कहा गया है । स्वतन्त्र का अर्थ वही है, जो आचार्य नागार्जुन और आर्यदेव के शास्त्रों में उल्लिखित है । अर्थात् स्वलक्षणतः सिद्ध ही स्वतन्त्र कहलाता है । अतः सन्धिनिर्मोचन आदि अन्य सूत्रों में जो परतन्त्र स्वलक्षणतः सिद्ध उपदिष्ट है, उससे इस जननी सूत्र का कोई साम्य नहीं है ।

विकल्प के वश से स्थापित की सत्ता होने के कारण विकल्पित रूप की द्रव्यसत् के रूप यहाँ व्यवस्था की गई है, न कि स्वलक्षणतः सिद्ध सत्ता होने की वजह से द्रव्यसत् कहा गया है ।

(२) परमार्थसत्ता का निषेध करनेवाली प्रधान युक्ति

'शास्त्रों में की गई तत्त्व मीमांसा विवाद–प्रियता के लिए नहीं, अपितु विमुक्ति (मोक्ष या निर्वाण) के लिए की गई है'– चन्द्रकीति के मध्यमकावतार में उक्त इस वचन के अनुसार माध्यमिक शास्त्रों में वस्तुस्थिति की जितनी भी युक्तिपूर्वक परीक्षाएं की गई हैं, वे सभी प्राणियों के मोक्षलाभ के लिए ही की गई हैं । पुद्गल एवं धर्मों के प्रति स्वभावाभिनिवेश के कारण ही सभी प्राणी संसार में बंधे हुए हैं । 'अहम् अस्मि' (मैं हूँ) इस प्रकार की बुद्धि के आलम्बन पुद्गल एवं उसके सन्ततिगत धर्म हैं, उन (पुद्गल एवं धर्म) दोनों में पुद्गलात्मा और धर्मात्मा नामक आत्मद्वय का जो अभिनिवेश होता है, वहीं संसार में बाँधनेवाला प्रमुख बन्धन है । अतः जिन पुद्गल एवं धर्मों में आत्मा (पुद्गलात्मा और धर्मात्मा) के रूप में ग्रहण होता है, युक्ति द्वारा निषेध करने के भी मुख्य

आधार वे दो ही होते हैं । अतः सभी युक्तियाँ इन दो आत्माओं की निषेधक के रूप में ही संगृहीत होती हैं ।

शास्त्रकारों ने एकानेकस्वभावरहितत्व[१], वज्रकणयुक्ति[२], सदसदनुपपत्तियुक्ति[३], चतुष्कोटिकोत्पादानुपपत्तियुक्ति[४] तथा प्रतीत्यसमुत्पादयुक्ति[५] आदि अनेक युक्तियों का शास्त्रों में वर्णन किया है । दशभूमकसूत्र में दस समताओं द्वारा षष्ठभूमि में अवतरित होने की देशना की गई है । सर्वधर्म-अनुत्पाद के रूप में समता का प्रतिपादन करने से अन्य समताओं का प्रतिपादन सुकर हो जाता है– ऐसा सोचकर आचार्य नागार्जुन ने मूलमाध्यमिककारिका में :

> **न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।**
> **उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥**

इस कारिका को प्रस्तुत किया है । फलतः धर्मनैरात्म्य (शून्यता) को सिद्ध करने की प्रमुख युक्ति उनके अनुसार यही चतुष्कोटिकोत्पादानुपपत्ति युक्ति ही है ।

यह चतुष्कोटिक उत्पाद की अनुपत्ति भी प्रतीत्यसमुत्पाद से ही सिद्ध होती है, क्योंकि वस्तुओं की अहेतुक, ईश्वर, प्रकृति, काल आदि विषमहेतुक तथा स्वतः, परतः एवं उभयतः उत्पत्ति उनके प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से सम्भव नहीं हो पाती । वस्तुओं के प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से ही अहेतुक, विषमहेतुक, स्वतः

---

१. यदि आत्मा और स्कन्ध एक हैं तो वे दोनों अत्यन्त अभिन्न हो जाएंगे । फलतः जैसे स्कन्ध अनेक हैं, वैसे आत्मा को भी अनेक मानना पड़ेगा । अथवा जैसे आत्मा एक है, वैसे स्कन्धों को भी एक मानना पड़ेगा । स्कन्धों की भाँति आत्मा भी अनित्य हो जाएगा । अथवा आत्मा की भाँति स्कन्ध भी नित्य हो जाएंगे । यदि आत्मा और स्कन्ध भिन्न हैं तो युक्तियों द्वारा उन्हें सर्वथा भिन्न ही रहना चाहिए । ऐसी स्थिति में शरीर के रुग्ण या जीर्ण होने पर मैं 'रुग्ण हूं जीर्ण हूं'– इस प्रतीति से विरोध होगा । अर्थात् ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिए । भेद के इस सिद्धान्त को वादी कल्पित नहीं मानता, अतः वह ऐसा नहीं कह सकता कि यह भिन्नता प्रातिभासिक दृष्टि से है । पुनश्च उसे आत्मा को पृथक दिखलाना होगा ।

२. रूप आदि वस्तुएं, स्वभावतः अनुत्पन्न हैं, स्वतः परतः उभयतः एवं अहेतुतः उत्पन्न न होने से ।

३. रूप आदि वस्तुएं, स्वभावतः अनुत्पन्न हैं, हेतु के काल में सत् अथवा असत् होते हुए उत्पन्न न होने से ।

४. रूप आदि वस्तुएं, स्वभावतः अनुत्पन्न हैं, एक हेतु से अनेक फल, अनेक हेतुओं से एक फल, अनेक हेतुओं से अनेक फल तथा एक ही हेतु से एक फल उत्पन्न न होने से ।

५. रूप आदि धर्म, निःस्वभाव हैं, प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से ।

परतः उत्पाद आदि की ये कल्पनाएं युक्ति द्वारा परीक्षाक्षम नहीं हो पातीं । इसलिए इस प्रतीत्यसमुत्पाद युक्ति के द्वारा कुदृष्टि के समस्त जालों का समुच्छेद किया जाता है ।

अङ्कुर आदि बाह्य वस्तुएं और संस्कार आदि आन्तरिक वस्तुएं क्रमशः बीज आदि तथा अविद्या आदि हेतुओं पर निर्भर होकर ही उत्पन्न होती हैं । यही कारण है कि उनके उत्पाद आदि सभी स्वलक्षणतः सिद्ध स्वभाव से शून्य हैं तथा वे स्वतः, परतः, उभयतः, अहेतुतः या विषमहेतुतः उत्पन्न नहीं होते । इस तरह उनके स्वभावतः होने का निषेध किया जाता है । अतः समस्त कुदृष्टि जालों का उच्छेद करनेवाली तथा परमार्थसत्ता का निषेध करनेवाली प्रधान युक्ति प्रतीत्यसमुत्पाद ही है । प्रासङ्गिक माध्यमिक तो इसे युक्तिराज कहते हैं ।

*

अजातस्य स्वभावेन शाश्वतोच्छेदता कुतः ।
स्वभावे हि विकल्प्यन्ते धर्मभेदविकल्पनाः ।।
पत्रलेखादिविन्यासः केनचिद् व्योम्नि शक्यते ।
कर्तुं नैव तथाजाते धर्मभेदे विकल्पना ।।

द्र०- अभिसमयालंकारटीका, आलोक, पृ० २९२
(दरभङ्गा-संस्करण १९६०)

महायान साहित्य, प्रमुख आचार्य एवं कृतियाँ

अजातस्य स्वभावेन शाश्वतोच्छेदता कुतः ।
स्वभावे हि विकल्प्यन्ते धर्मभेदविकल्पनाः ।।
पत्रलेखादिविन्यासः केनचिद् व्योम्नि शक्यते ।
कर्तुं नैव तथाजाते धर्मभेदे विकल्पना ।।

द्र०- अभिसमयालंकारटीका, आलोक, पृ० २९२
(दरभङ्गा-संस्करण १९६०)

महायान साहित्य, प्रमुख आचार्य एवं कृतियाँ

यदर्थवद् धर्मपदोपसंहितं
त्रिधातुसंक्लेशनिबर्हणं वचः ।
भवेच्च यच्छान्त्यनुशंसदर्शकं
तदुक्तमार्षं विपरीतमन्यथा ।।

मैत्रेयनाथ, महायानोत्तरतन्त्रशास्त्र, उद्धृत,
बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० २०५
(मिथिलासंस्करण १९६०)।

महायान साहित्य, प्रमुख आचार्य एवं कृतियाँ

महायानसूत्र— महायानसूत्र अनन्त हैं । उनमें कुछ उपलब्ध हैं, अन्य कुछ मूल रूप में अनुपलब्ध हैं । भोट–भाषा, चीनी भाषा में अनेक सूत्रों के अनुवाद उपलब्ध हैं । कुछ सूत्र अवश्य ऐसे हैं, जिन का महायान बौद्ध परम्परा में अत्यधिक आदर है । ऐसे सूत्रों की संख्या ९ है । इन ९ सूत्रों को 'नव धर्म' भी कहते हैं तथा 'वैपुल्यसूत्र' भी कहते हैं । वे इस प्रकार हैं—सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर, लङ्कावतार, सुवर्णप्रभास, गण्डव्यूह, तथागतगुह्यक, समाधिराज, दशभूमीश्वर एवं अष्टसाहस्रिका आदि प्रज्ञापारमितासूत्र ।

(१) **सद्धर्मपुण्डरीक**— महायान वैपुल्यसूत्रों में यह अन्यतम एवं एक आदृत सूत्र है । 'पुण्डरीक' का अर्थ 'कमल' होता है । 'कमल' पवित्रता और पूर्णता का प्रतीक होता है । जैसे पङ्क (कीचड़) में उत्पन्न होने पर भी कमल उससे लिप्त नहीं होता, वैसे लोक में उत्पन्न होने पर भी बुद्ध लोक के दोषों से लिप्त नहीं होते । इसी अर्थ में सद्धर्मपुण्डरीक यह ग्रन्थ का सार्थक नाम है ।

चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत आदि महायानी देशों में इसका बड़ा आदर है और यह सूत्र बहुत पवित्र माना जाता है । चीनी भाषा में इसके छह अनुवाद हुए, जिसमें पहला अनुवाद ई० सन् २२३ में हुआ । धर्मरक्ष, कुमारजीव, ज्ञानगुप्त और धर्मगुप्त इन आचार्यों के अनुवाद भी प्राप्त होते हैं । चीन और जापान में आचार्य कुमारजीव–कृत इसका अनुवाद अत्यन्त लोकप्रिय है । ईसवीय ६१५ वर्ष में जापान के एक राजपुत्र शी–तोकु–ताय–शि ने इस पर एक टीका लिखी, जो अत्यन्त आदर के साथ पढ़ी जाती है । इस ग्रन्थ पर आचार्य वसुबन्धु ने 'सद्धर्म–पुण्डरीकशास्त्र' नामक टीका लिखी, जिसका बोधिरुचि और रत्नमति ने लगभग ५०८ ईसवीय वर्ष में चीनी भाषा में अनुवाद किया था । इसका सम्पादन १९१२ में प्रो० एच. कर्न एवं बुनियिउ नंजियो ने किया ।

इस ग्रन्थ में कुल २७ अध्याय हैं, जिन्हें 'परिवर्त' कहा गया है । प्रथम निदान परिवर्त में इसमें उपदेश की पृष्ठभूमि और प्रयोजन की चर्चा करते-हुए

कहा गया है कि यह 'वैपुल्यसूत्रराज' है । इस परिच्छेद का मुख्य प्रतिपाद्य तो भगवान् का यह कहना है कि "तथागत नाना निरुक्ति और निदर्शनों (उदाहरणों) से, विविध उपायों से नाना अधिमुक्ति, रुचि और (बुद्धि की) क्षमता वाले सत्त्वों को सद्धर्म का प्रकाशन करते हैं । सद्धर्म कतई तर्कगोचर नहीं है । तथागत सत्त्वों को तत्त्वज्ञान का सम्यग् अवबोध कराने के लिए ही लोक में उत्पन्न हुआ करते हैं । तथागत यह महान् कृत्य एक ही यान पर आधिष्ठित होकर करते हैं, वह एक यान है 'बुद्धयान' उससे अन्य कोई दूसरा और तीसरा यान नहीं है । वह बुद्धयान ही सर्वज्ञता को प्राप्त करानेवाला है । अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न तीनों कालों के बुद्धों ने बुद्धयान को ही अपनाया है । वे बुद्धयान का ही तीन यानों (श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान और बोधिसत्त्वयान) के रूप में निर्देश करते हैं । अतः बुद्धयान ही एकमात्र यान है :

एकं हि यानं द्वितीयं न विद्यते
तृतियं हि नैवास्ति कदाचि लोके[१] ।"

द्वितीय उपायकौशल्य परिवर्त में भगवान् ने शारिपुत्र के लिए व्याकरण किया कि वह अनागत काल में पद्मनाम नाम के तथागत होंगे और सद्धर्म का प्रकाश करेंगे । शारिपुत्र के बारे में व्याकरण सुनकर जब वहाँ उपस्थित १२ हजार श्रावकों को विचिकित्सा उत्पन्न हुई तब उसे हटाते हुए भगवान् ने तृतीय औपम्यपरिवर्त में एक उदाहरण देते हुए कहा कि किसी महाधनी पुरुष के कई बच्चे हैं, वे खिलौनों के शौकीन हैं । उसके घर में आग लग जाए, उसमें बच्चे घिर जाएं और निकलने का एक ही द्वार हो, तब पिता बच्चों को पुकार कर कहता है– आओ बच्चों, खिलौने ले लो, मेरे पास बहुत खिलौने हैं, जैसे– गोरथ, अश्वरथ, मृगरथ आदि । तब वे बच्चे खिलौने के लोभ में बाहर आ जाते हैं । तब शारिपुत्र, वह पुरुष उन सभी बच्चों को सर्वोत्कृष्ट गोरथ देता है । जो अश्वरथ और मृगरथ आदि हीन हैं, उन्हें नहीं देता । ऐसा क्यों ? इसलिए कि वह महाधनी है और उसका कोष (खजाना) भरा हुआ है । भगवान् कहते हैं कि उसी प्रकार ये सभी मेरे बच्चे हैं, मुझे चाहिए कि इन सबकों समान मान कर उन्हें 'महायान' ही दूँ । क्या शारिपुत्र, उस पिता ने तीनों यानों को बताकर एक ही 'महायान' दिया, इसमें क्या उनका मृषावाद है ? शारिपुत्र ने कहा नहीं

---

१. द्र0–सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, २:५४, पृ0 ३१ (दरभङ्गा–संस्करण १९६० ।

भगवन्, तथागत महाकारुणिक हैं, वह सभी सत्त्वों के पिता हैं । वे दुःखरूपी जलते हुए घर से बाहर लाने के लिए तीनों यानों की देशना करते हैं, किन्तु अन्त में सबको बुद्धयान की ही देशना देते हैं ।

व्याकरणपरिवर्त नामक षष्ठ (छठवें) परिच्छेद) में श्रावकयान के अनेक स्थविरों के बारे में जो महायान में प्रविष्ट हो चुके थे, व्याकरण किया गया है । बुद्ध कहते हैं कि महास्थविर महाकाश्यप भविष्य में 'रश्मिप्रभास' तथागत होंगे । स्थविर सुभूति, 'शशिकेतु', महाकात्यायन 'जाम्बूनदप्रभास' तथा महामौद्गल्यायन 'तमालपत्र चन्दनगन्ध' नाम के तथागत होंगे । पञ्चभिक्षुशतव्याकरण परिवर्त में पूर्ण मैत्रायणीपुत्र आदि अनेक भिक्षुओं के बुद्धत्व–प्राप्ति का व्याकरण किया गया है । नवम परिवर्त में आयुष्मान् आनन्द और राहुल आदि दो सहस्र श्रावकों के बारे में बुद्धत्व–प्राप्ति का व्याकरण है ।

' उस समय वहाँ महाप्रजापति गौतमी और भिक्षुणी राहुलमाता यशोधरा आदि परिषद् में दुःखी होकर इसलिए बैठी थीं कि भगवान् ने हमारे बारे में बुद्धत्व का व्याकरण क्यों नहीं किया ? भगवान् ने उनके चित्त का विचार जानकर कृपापूर्वक उनका भी व्याकरण किया ।

सद्धर्मपुण्डरीक के इस संक्षिप्त पर्यालोचन से महायान बौद्ध–धर्म का हीनयान से सम्बन्ध स्पष्ट होता है । पालि–ग्रन्थों में दो प्रकार की धर्म देशना हैं । एक दानकथा, शीलकथा आदि उपाय धर्म देशना हैं तथा दूसरी 'सामुक्कंसिका धम्मदेशना है, जिसमें चार आर्यसत्यों की दशना दी जाती है । इस सद्धर्मपुण्डरीक में चार आयसत्यों की देशना तथा सर्वज्ञताज्ञान पर्यवसायी दो देशनाएं हैं । यह सर्वज्ञताज्ञान प्राप्त कराने वाली देशना भगवान् ने शारिपुत्र आदि को जो पहले नहीं दी; यह उनका उपायकौशल्य है । यह द्वितीय देशना ही परमार्थ देशना है । इसमें शारिपुत्र आदि महास्थविरों और महाप्रजापति गौतमी आदि स्थविराओं को बुद्धत्व प्राप्ति का आश्वासन दिया गया है । हीनयान में उपदिष्ट धर्म भी बुद्ध का ही है । उसे एकान्ततः मिथ्या नहीं कहा गया है, किन्तु वह केवल उपायसत्य है, परमार्थसत्य तो बुद्धयान ही है ।

सद्धर्मपुण्डरीक में बुद्धयान एवं तथागत की महिमा का वर्णन है, तथापि इस ग्रन्थ के कुछ अध्यायों में अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्त्वों की महिमा का भी पुष्कल वर्णन है । अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व करुणा की मूर्ति हैं ।

अवलोकितेश्वर ने यद्यपि बोधि की प्राप्ति की है, तथापि जब तक संसार में एक भी सत्त्व दुःखी और बद्ध रहेगा, तब तक निर्वाण प्राप्त नहीं करने का उनका संकल्प है। वे निर्वाण में प्रवेश नहीं करेंगे। वे सदा बोधिसत्त्व की साधना में निरत रहते हैं। इससे उनकी महिमा कम नहीं होती। बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के नाम मात्र के उच्चारण में अनेक दुःखों और आपदाओं से रक्षण की शक्ति है। हम बोधिसत्त्वों की श्रद्धा के साथ उपासना का प्रारम्भ इस ग्रन्थ में देखते हैं।

(२) ललितविस्तर— वैपुल्यसूत्रों में यह एक अन्यतम और पवित्रतम महायानसूत्र माना जाता है। इसमें सम्पूर्ण बुद्धचरित का वर्णन है। बुद्ध ने पृथ्वी पर जो–जो क्रीडा (ललित) कीं, उनका वर्णन होने के कारण इसे 'ललितविस्तर' कहते हैं। इसे 'महाव्यूह' भी कहा जाता है। इसमें कुल २७ अध्याय हैं, जिन्हें 'परिवर्त' कहा जाता है। तिब्बती भाषा में इसका अनुवाद उपलब्ध है। समग्र मूल ग्रन्थ का सम्पादन डॉ0 एस0 लेफमान ने किया था।

प्रथम अध्याय में रात्रि के व्यतीत होने पर ईश्वर, महेश्वर, देवपुत्र आदि जेतवन में पधारे और भगवान् की पादवन्दना कर कहने लगे–"भगवन्, ललितविस्तर नामक धर्मपर्याय का व्याकरण करें। भगवान् का तुषितलोक में निवास, गर्भावक्रान्ति, जन्म, कौमार्यचर्या, सर्व मारमण्डल का विध्वंसन इत्यादि का इस ग्रंथ में वर्णन है। पूर्व के तथागतों ने भी इस ग्रंथ का व्याकरण किया था।" भगवान् ने देवपुत्रों की प्रार्थना स्वीकार की। तदनन्तर अविदूर निदान (अर्थात् तुषितलोक से च्युति से लेकर सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति तक) की कथा से प्रारम्भ कर समग्र बुद्धचरित का वर्णन सुनाने लगे।

बोधिसत्त्व ने क्षत्रिय कुल में जन्म लेने का निर्णय लिया। भगवान् ने बताया कि बोधिसत्त्व शुद्धोदन की महिषी मायादेवी के गर्भ में उत्पन्न होंगे। वही बोधिसत्त्व के लिए उपयुक्त माता है। जम्बूद्वीप में कोई दूसरी स्त्री नहीं है, जो बोधिसत्त्व के तुल्य महापुरुष का गर्भ धारण कर सके। बोधिसत्त्व ने महानाग अर्थात् कुञ्जर के रूप में गर्भावक्रान्ति की।

मायादेवी पति की आज्ञा से लुम्बिनी वन गई, जहाँ बोधिसत्त्व का जन्म हुआ। उसी समय पृथ्वी को भेदकर महापद्म उत्पन्न हुआ। नन्द, उपनन्द आदि नागराजाओं ने शीत और उष्ण जल की धारा से बोधिसत्त्व को स्नान कराया।

बोधिसत्त्व ने महापद्म पर बैठकर चारों दिशाओं का अवलोकन किया। बोधिसत्त्व ने दिव्यचक्षु से समस्त लोकधातु को देखा और जाना कि शील, समाधि और प्रज्ञा में मेरे तुल्य कोई अन्य सत्त्व नहीं है। पूर्वाभिमुख हो वे सात पग चले। जहाँ–जहाँ बोधिसत्त्व पैर रखते थे, वहाँ–वहाँ कमल प्रादुर्भूत हो जाता था। इसी तरह दक्षिण और पश्चिम की दिशा में चले। सातवें कदम पर सिंह की भाँति निनाद किया और कहा कि मैं लोक में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हूँ। यह मेरा अन्तिम जन्म है। मैं जाति, जरा और मरण दुःख का अन्त करूँगा। उत्तराभिमुख हो बोधिसत्त्व ने कहा कि मैं सभी प्राणियों में अनुत्तर हूँ। नीचे की ओर सात पग रखकर कहा कि मार को उसकी सेना सहित नष्ट करूँगा और नारकीय सत्त्वों पर महाधर्ममेघ की वृष्टि कर निरयाग्नि को शान्त करूँगा। ऊपर की ओर भी सात पग रखे और अन्तरिक्ष की ओर देखा।

सातवें परिवर्त में बुद्ध और आनन्द का संवाद है, जिसका सारांश है कि कुछ अभिमानी भिक्षु बोधिसत्त्व की परिशुद्ध गर्भावक्रान्ति पर विश्वास नहीं करेंगे, जिससे उनका घोर अनिष्ट होगा तथा जो इस सूत्रान्त को सुनकर तथागत में श्रद्धा का उत्पाद करेंगे, अनागत बुद्ध भी उनकी अभिलाषा पूर्ण करेंगे। जो मेरी शरण में आते हैं, वे मेरे मित्र हैं। मैं उनका कल्याण साधित करूँगा। इसलिए हे आनन्द, श्रद्धा के उत्पाद के लिए यत्न करना चाहिए।

बुद्ध की गर्भावक्रान्ति एवं जन्म की जो कथा ललितविस्तर में मिलती है, वह पालिग्रंथों में वर्णित कथा से कहीं–कहीं भिन्न भी है। पालिग्रंथों में विशेषतः संयुक्तनिकाय, दीघनिकाय आदि में यद्यपि बुद्ध के अनेक अद्भुत धर्मों का वर्णन है, तथापि वे अद्भुत धर्मों से समन्वागत होते हुए भी अन्य मनुष्यों के समान जरा, मरण आदि दुःख एवं दौर्मनस्य के अधीन थे। पालिग्रन्थों के अनुसार बुद्ध लोकोत्तर केवल इसी अर्थ में हैं कि उन्होंने मोक्ष के मार्ग का अन्वेषण किया था तथा उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करने से दूसरे लोग भी निर्वाण और अर्हत्त्व पद प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु महासांघिक लोकोत्तरवादी निकाय के लोग इसी अर्थ में लोकोत्तर शब्द का प्रयोग नहीं करते। इसीलिए लोकोत्तरता को लेकर उनमें वाद–विवाद था।

आगे का ललितविस्तर का वर्णन महावग्ग की कथा से बहुत कुछ मिलता–जुलता है। जहाँ समानता है, वहाँ भी ललितविस्तर में कुछ बातें ऐसी

हैं, जो अन्यत्र नहीं पाई जाती। उदाहरणार्थ शाक्यों के कहने से जब शुद्धोदन कुमार को देवकुल में ले गये तो सब प्रतिमाएं अपने–अपने स्वरूप में आकर कुमार के पैरों पर गिर पड़ीं। इसी तरह कुमार जब शिक्षा के लिए लिपिशाला में ले जाये गये तो आचार्य कुमार के तेज को सहन नहीं कर पाये और मूर्च्छित होकर गिर पड़े। तब बोधिसत्त्व ने आचार्य से कहा–आप मुझे किस लिपि की शिक्षा देंगे। तब कुमार ने ब्राह्मी, खरोष्ठी, पुष्करसारि, अंग, बंग, मगध आदि ६४ लिपियाँ गिनाई। आचार्य ने कुमार का कौशल देखकर उनका अभिवादन किया।

बुद्ध के जीवन की प्रधान घटनाएं है– निमित्त दर्शन, जिनसे बुद्ध ने जरा, व्याधि, मृत्यु एवं प्रव्रज्या का ज्ञान प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त अभिनिष्क्रमण, बिम्बिसार के समीप गमन, दुष्करचर्या, मारधर्षण, अभिसंबोधि एवं धर्मचक्रप्रवर्तन आदि घटनाएं हैं। जहाँ तक इन घटनाओं का सम्बन्ध है, ललितविस्तर का वर्णन बहुत भिन्न नहीं है। किन्तु ललितविस्तर में कुछ अतिशयताएँ अवश्य हैं। २७ वें परिवर्त में ग्रन्थ के माहात्म्य का वर्णन है।

यह निश्चित है कि जिन शिल्पियों ने जावा में स्थित बोरोबुदूर के मन्दिर को प्रतिमाओं से अलंकृत किया था, वे ललितविस्तर के किसी न किसी पाठ से अवश्य परिचित थे। शिल्प में बुद्ध का चरित इस प्रकार उत्कीर्ण है, मानों शिल्पी ललितविस्तर को हाथ में लेकर इस कार्य में प्रवृत्त हुए थे। जिन शिल्पियों ने उत्तरभारत में स्तूप आदि कलात्मक वस्तुओं को बुद्धचरित के दृश्यों से अलंकृत किया था, वे भी ललितविस्तर में वर्णित बुद्ध कथा से परिचित थे।

(३) लङ्कावतार– वैपुल्यसूत्रों में यह एक महत्त्वपूर्ण महायानसूत्र है। ज्ञातव्य है कि महायान के अनुयायी दार्शनिक द्विविध हैं– योगाचार एवं माध्यमिक। दोनों ही महायानसूत्रों को प्रामाणिक बुद्धवचन मानते हैं। फिर भी अपने–अपने दर्शनों की पृष्ठभूमि के अनुसार उन सूत्रों का नीतार्थ एवं नेयार्थ में विभाजन करते हैं। उदाहरणार्थ :

दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्रमात्रं वदाम्यहम्॥
(लङ्कावतारसूत्र–३:३३)

लङ्कावतारसूत्र के इस वचन के आधार पर योगाचार दार्शनिक बाह्यार्थ का निषेध मानते हैं तथा इसे नीतार्थ सूत्र मानते हैं। जबकि सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक भावविवेक और उनके अनुयायियों का कहना है कि इसके द्वारा बाह्यार्थ का निषेध नहीं, अपि तु सृष्टिकर्ता ईश्वर, महेश्वर एवं स्वतन्त्र कर्ता एवं भोक्ता आत्मा का निषेध होता है। प्रासङ्गिक माध्यमिक इस सूत्र को नेयार्थ मानते हैं। योगाचार दार्शनिक इसी सूत्र के आधार पर विज्ञप्तिमात्रता या चित्तमात्रता की स्थापना करते हैं। उनकी दृष्टि में लङ्कावतारसूत्र उनके दर्शन का पोषक एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसी के आधार पर वे बाह्यार्थ की सत्ता का निषेध कर विज्ञान की द्रव्यसत्ता एवं आलयविज्ञान आदि की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं।

इस सूत्र में कुल १० परिवर्त हैं। प्रथम परिवर्त में लङ्केश्वर रावण को भगवान् ने धर्मोपदेश किया है। इसमें बुद्ध के साथ राक्षसाधिपति रावण का संवाद प्रतिपादित है। बोधिसत्त्व महामति के कहने पर रावण भगवान् से धर्म और अधर्म के बारे में प्रश्न करता है। द्वितीय परिवर्त में महामति बोधिसत्त्व भगवान् से एक सौ आठ प्रश्न पूछता है। ये सभी प्रश्न मूल विज्ञानवादी सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं। इनमें निर्वाण, बन्ध–मोक्ष, आलयविज्ञान, मनोविज्ञान, शून्यता आदि गम्भीर विषयों के बारे में प्रश्न हैं। तृतीय परिवर्त में कहा गया है कि तथागत ने जिस रात्रि में सम्यक् संबोधि प्राप्त की और जिस रात्रि में महापरिनिर्वाण प्राप्त किया, इसके बीच उन्होंने एक भी अक्षर का उच्चारण नहीं किया। सभी सत्त्वों ने अपनी पात्रता और पुण्य के अनुसार उनके मुख से निकलती हुई देशना का श्रवण किया[१]। सप्तम परिवर्त पर्यन्त प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा है। अष्टम परिवर्त में मांस भक्षण का निषेध है। नवम परिवर्त में अनेक धारणियों का निरूपण है। अन्तिम दसवाँ परिवर्त अत्यधिक लम्बा है। इसमें लगभग ८८४ श्लोक हैं, जिसमें विज्ञानवाद की चर्चा है, साथ ही, उसमें अनेक भविष्यवाणियों का वर्णन है।

---

१. यस्यां च रात्र्यां धिगमो यस्यां च परिनिर्वृतः।
एतस्मिन्नन्तरे नास्ति मया किञ्चित् प्रकाशितम्॥
द्र०– लङ्कावतारसूत्र, ३:७, पृ० १४४ (जापानी संस्करण)।

लङ्कावतारसूत्र के चीनी भाषा में तीन अनुवाद उपलब्ध हैं । ई० सन् ४४३ में गुणप्रभ ने, ई० सन् ५१३ में बोधिरुचि ने तथा ई० ७००–७०४ में शिक्षानन्द ने अनुवाद किये । इसके तिब्बती अनुवाद भी प्राप्त हैं ।

(४) **सुवर्णप्रभास**— महायानसूत्रसाहित्य में सुवर्णप्रभास की महत्त्वपूर्ण सूत्रों में गणना की जाती है । चीन और जापान में इसके प्रति अतिशय श्रद्धा है । फलस्वरूप धर्मरक्ष ने ४१२–४२६ ईसवी में, परमार्थ ने ५४८ ईसवी में, यशोगुप्त ने ५६१–५७७ ईसवी में, पाओक्वी ने ५९७ ईसवी में तथा इत्सिंग ने ७०३ ईसवी में इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया । इसी तरह जापानी भाषा में भी तीन या चार अनुवाद हुए । तिब्बती भाषा में भी इसका अनुवाद उपलब्ध है । साथ ही, उइगर (Uigur) और खोतन में भी इसका अनुवाद हुआ । इन अनुवादों से यह सिद्ध होता है कि इस सूत्र का आदर एवं लोकप्रियता व्यापक क्षेत्र में थी । इस सूत्र में दर्शन, नीति, तन्त्र एवं आचार का उपाख्यानों द्वारा सुस्पष्ट निरूपण किया गया है । इस तरह बौद्धों के महायान सिद्धान्तों का विस्तृत प्रतिपादन है । इसमें कुल २१ परिवर्त है ।

प्रथम परिवर्त में सुवर्णप्रभास के श्रवण का माहात्म्य वर्णित है । द्वितीय परिवर्त में जिस विषय की आलोचना की गई है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । बुद्ध ने दीर्घायु होने के दो कारण बताए हैं । प्रथम प्राणिवध से विरत होना तथा द्वितीय प्राणियों को अनुकूल भोजन प्रदान करना । बोधिसत्त्व रुचिरकेतु को सन्देह हुआ कि भगवान् ने दीर्घायुष्कता के दोनों साधनों का आचरण किया, फिर भी अस्सी वर्ष में ही उनकी आयु समाप्त हो गई । अतः उनके वचन का कोई प्रामाण्य नहीं है ।

इस शंका का समाधान करने के लिए चार बुद्ध अक्षोभ्य, रत्नकेतु, अमितायु और दुन्दुभिस्वर की कथा की तथा लिच्छिविकुमार ब्राह्मण कोण्डिन्य की कथा की अवतारणा की गई । आशय यह है कि बुद्ध का शरीर पार्थिव नहीं है, अतः उसमें सर्षप (सरसों) के बराबर भी धातु नहीं है तथा उनका शरीर धर्ममय एवं नित्य है । अतः पूर्वोक्त शंका का कोई अवसर नहीं है । तथा हि :

यदा शशविषाणेन निःश्रेणी सुकृता भवेत् ।
स्वर्गस्यारोहणार्थाय तदा धातुर्भविष्यति ॥

अनस्थिरुधिरे काये कुतो धातुर्भविष्यति[१] **।**

अपि च,

न बुद्धः परिनिर्वाति न धर्मः परिहीयते ।
सत्त्वानां परिपाकाय परिनिर्वाणं निदर्श्यते ॥
अचिन्त्यो भगवान् बुद्धो नित्यकायस्तथागतः ।
देशेति विविधान् व्यूहान् सत्त्वानां हितकारणात्[२] **॥**

तृतीय परिवर्त में रुचिरकेतु बोधिसत्त्व स्वप्न में एक ब्राह्मण को दुन्दुभि बजाते देखता है और दुन्दुभि से धर्मगाथाएं निकल रही हैं । जागने पर भी बोधिसत्त्व को गाथाएं याद रहती हैं और वह उन्हें भगवान् के सामने निवेदित करता है । चतुर्थ परिवर्त में महायान के मौलिक सिद्धान्तों का गाथाओं द्वारा उपपादन किया गया है । पञ्चम परिवर्त में बुद्ध के स्तव हैं, जिनका सामूहिक नाम कमलाकर है । इनमें बुद्ध की महिमा का वर्णन है । षष्ठ परिवर्त में वस्तुमात्र की शून्यता के परिशीलन का निर्देश है । सप्तम में सुवर्णप्रभास के माहात्म्य का वर्णन है । अष्टम परिवर्त में सरस्वती देवी बुद्ध के सम्मुख आविर्भूत हुई और सुवर्णप्रभास में प्रतिपादित धर्म का व्याख्यान करनेवाले धर्मभाणक को बुद्ध की प्रतिभा से सम्पन्न करने की प्रतिज्ञा की । नवम परिवर्त में महादेवी बुद्ध के सम्मुख प्रकट हुई और घोषणा की कि मैं व्यावहारिक और आध्यात्मिक सम्पत्ति से धर्मभाणक को सम्पन्न करूँगी ।

दशम परिवर्त में विभिन्न तथागतों एवं बोधिसत्त्वों के नामों का संकीर्तन किया गया है । एकादश परिवर्त में दृढा नामक पृथ्वी देवी भगवान् के सम्मुख उपस्थित हुई और कहा कि धर्मभाणक के लिए जो उपवेशन–पीठ है, वह यथासम्भव सुखप्रदायक होगा । साथ ही आग्रह किया कि धर्मभाणक के धर्मामृत से अपने को तृप्त करूँगी । द्वादश परिवर्त में यक्ष सेनापति अपने अट्ठाइस सेनापतियों के साथ भगवान् के पास आये और सुवर्णप्रभास के प्रचार के लिए अपने सहयोग का वचन दिया । साथ ही, धर्मभाणकों की रक्षा का आश्वासन भी

१. द्र०–सुवर्णप्रभाससूत्र, तथागतायुःप्रमाणनिर्देशपरिवर्त, पृ० ८ (दरभङ्गा–संस्करण १९६७) ।
२. द्र०–सुवर्णप्रभाससूत्र, तथागतायुःप्रमाणनिर्देशपरिवर्त, पृ० ९ (दरभङ्गा–संस्करण १९६७) ।

दिया । त्रयोदश परिवर्त में राजशास्त्र सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन है । चतुर्दश परिवर्त में सुसम्भव नामक राजा का वृत्तान्त है । पञ्चदश परिवर्त में यक्षों और अन्य देवताओं ने सुवर्णप्रभास के श्रोताओं की रक्षा की प्रतिज्ञा की । षोडश परिवर्त में भगवान् ने दश सहस्र देवपुत्रों के बुद्धत्व लाभ की भविष्यवाणी की । सप्तदश परिवर्त में व्याधियों के उपशमन करने का विवरण दिया गया है । अष्टादश परिवर्त में जलवाहन द्वारा मत्स्यों को बौद्धधर्म में प्रवेश कराने की चर्चा है । उन्नीसवें परिवर्त में भगवान् ने बोधिसत्त्व अवस्था में एक व्याघ्री की भूख मिटाने के लिए जो अपने शरीर का परित्याग किया था, उसकी चर्चा है । बीसवें परिवर्त में सुवर्णरत्नाकरछत्रकूट नामक तथागत की बोधिसत्त्वों द्वारा की गई गाथामय स्तुति प्रतिपादित है । इक्कीसवें परिवर्त में बोधिसत्त्वसमुच्चया नामक कुल– देवता द्वारा व्यक्त सर्वशून्यताविषयक गाथाएं उल्लिखित हैं ।

(५) **गण्डव्यूह**– बोधिसत्त्वसाधना के अध्ययन में गण्डव्यूह एक महत्त्वपूर्ण महायानसूत्र है । ग्रन्थ का प्रारम्भ इस प्रकार होता है । एक समय भगवान् श्रावस्ती के जेतवन में महाव्यूह कूटागार में विहार कर रहे थे । उनके साथ समन्तभद्र, मञ्जुश्री प्रमुख पाँच हजार बोधिसत्त्व थे, जो समन्तभद्र बोधिसत्त्वचर्या में प्रतिष्ठित थे और सर्वज्ञताज्ञान के अभिलाषी थे । उन्होंने निवेदन किया कि भगवान् पूर्व सर्वज्ञताप्रस्थान एवं तथागत सर्वसत्त्व देशनानुशासनी प्रातिहार्य आदि अनेक प्रातिहार्य बताएं । तब भगवान् सिंहविजृम्भित समाधि में समाहित हुए और उसी समय अवर्णनीय प्रातिहार्य दिखलाई पड़े । वहाँ शारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप आदि महाश्रावक भी उपस्थित थे, किन्तु वे जेतवन में स्थित होने पर भी इस अद्भुत प्रातिहार्य को न देख सके, क्योंकि वे श्रावक सर्वज्ञता की विपक्ष क्लिष्ट अविद्या से युक्त थे तथा सर्वज्ञताभौमिक कुशलमूल से अपरिगृहीत थे । तब मञ्जश्री बोधिसत्त्व अनेक देव, देवता और बोधिसत्त्वों के साथ अपने विहार से निकले और भगवान् की पूजा कर सत्त्वपरिपाक के लिए दक्षिणापथ की ओर चल पड़े ।

तब आयुष्मान् शारिपुत्र ने बुद्ध के आनुभाव और मञ्जुश्री की कृपा से इस विहार को देखा और भगवान् को प्रणाम कर ६० भिक्षुओं के साथ उन्होंने मञ्जुश्री का अनुगमन किया । प्रवास में शारिपुत्र ने मञ्जुश्री की महान् विभूति की प्रशंसा की । जैसे–जैसे शारिपुत्र उनके गुणों का कीर्तन करते रहे, वैसे–वेसे, उन साठ भिक्षुओं के चित्त प्रसाद (निर्मलता) को प्राप्त होते गये । उनका चित्त

बुद्ध धर्मों में परिणत हुआ । उन्होंने मञ्जुश्री से प्रार्थना की कि उनको भी बोधिसत्त्व–विभूति प्राप्त हो ।

तब मञ्जुश्री ने उन भिक्षुओं से कहा– भिक्षुओं, दस प्रकार के चित्तोत्पाद के समन्वागम से महायान में सम्प्रस्थित कुलपुत्र तथागतभूमि को प्राप्त होता है । जो कुलपुत्र श्रद्धायुक्त होकर चित्तोत्पाद करता है, वह तथागतभूमि को प्राप्त होता है ।

मञ्जुश्री से इस धर्मनय को सुनकर वे भिक्षु 'सर्वबुद्धविदर्शनासङ्गविषय' नामक समाधि को प्राप्त हुए । उस समाधि के आनुभाव से उन्होंने दशदिशाओं के तथागतों का और सत्त्वों का दर्शन किया । उन दिशाओं में स्थित लोकधातुओं के प्रत्येक परमाणु का दर्शन किया । इस प्रकार सर्व बुद्धधर्मों की परिनिष्पत्ति में वे भिक्षु प्रतिष्ठित हुए ।

मञ्जुश्री बोधिसत्त्व ने उन भिक्षुओं को सम्यक् संबोधि में प्रतिष्ठित करके दक्षिणापथ के धन्याकर नामक महानगर की ओर प्रस्थान किया । वहाँ पहुँचने पर उन्होंने 'धर्मधातुनयप्रभास' नामक सूत्रान्त का प्रकाशन किया । वहाँ उनकी परिषद् में सुधन नामक एक श्रेष्ठी–पुत्र बैठा था । उसने यह सूत्रान्त सुना । अनुत्तर सम्यक् संबोधि की अभिलाषा से उसका चित्त व्याकुल हुआ और उसने मञ्जुश्री से बोधिसत्त्वचर्या के उपदेश की प्रार्थना की ।

मञ्जुश्री ने श्रेष्ठीपुत्र सुधन का साधुकार किया और कहा– हे कुलपुत्र, सर्वज्ञता की परिनिष्पत्ति का आदि और अन्त कल्याणमित्रों का सेवन एवं पर्युपासन है । इसी से कुलपुत्र, समन्तभद्रचर्यामण्डल की परिपूर्णता होती है । हे कुलपुत्र, इसी दक्षिणापथ में सुग्रीव नाम का एक पर्वत है । वहाँ मेघश्री नामक भिक्षु हैं । तुम उनके पास जाकर बोधिसत्त्वचर्या पूछो । वह कल्याणमित्र तुम्हें समन्तभद्रचर्यामण्डल का उपदेश करेंगे ।

तब आर्य सुधन ने मञ्जुश्री से विदा ली और मेघश्री के पास पहुँचे । मेघश्री ने उन्हें सागरमेघ नामक भिक्षु के पास भेजा । इस प्रकार लगभग पचास भिन्न–भिन्न जगहों पर सुधन ने भिन्न–भिन्न कल्याणमित्रों की पर्युपासना की । प्रत्येक कल्याणमित्र ने उनका अभिनन्दन किया और उन्हें बोधिसत्त्वचर्या में एक–एक कदम आगे बढ़ाया । इस प्रकार भारतवर्ष के कोने–कोने में आर्य

सुधन ने चंक्रमण (भ्रमण) किया । उन्होंने बुद्धमाता महामाया और बुद्धपत्नी गोपा (यशोधरा) से भी भेंट की । कल्याणमित्र की खोज में घूमते–घूमते वह अन्त में समुद्रकच्छ नामक जनपद में स्थित वैरोचनव्यूहालङ्कार नामक विहार के कूटागार में मैत्रेय बोधिसत्त्व के दर्शनार्थ पहुँचे और उनसे कहा– आर्य, मैं अनुत्तर सम्यक् संबोधि में प्रस्थित हूँ, किन्तु बोधिसत्त्वचर्या नहीं जानता । आर्य, आप मुझे बोधिसत्त्वचर्या बताएं ।

आर्य मैत्रेय ने आर्य सुधन की प्रशंसा की और बोधिचित्तोत्पाद का माहात्म्य बतलाया । कुलपुत्र, यदि तुम बोधिसत्त्वचर्या जानने के लिए उत्सुक हो तो इस वैरोचनव्यूहालङ्कारगर्भ के महाकूट में प्रवेश करके देखो । वहां तुम बोधिसत्त्वचर्या की परिपूर्ति और परिनिष्पत्ति को जानोगे । मैत्रेय के आनुभाव से सुधन ने कूटागार में समस्त लोकों के बुद्धों का और बोधिसत्त्वों का दर्शन किया । समाधि से उठकर मैत्रेय ने कहा– कुलपत्र, यही धर्मों की धर्मता है । यह सारा विश्व माया, स्वप्न एवं प्रतिभासोपम है । कुलपुत्र, जो तुमने अभी देखा है, वह न कहीं से आया है, न कहीं गया है । कुलपुत्र, यही बोधिसत्त्वों की गति है ।

हे कुलपुत्र, मैंने तुम्हें संक्षेप से बताया है । अब तुम बोधिसत्त्वचर्या के बारे में विशेष जानकारी के लिए कल्याणमित्र मञ्जुश्री के पास जाओ और उनसे प्रश्न करो । वह मञ्जुश्री बोधिसत्त्व परमपारमिता प्राप्त हैं ।

तब सुधन ने परम श्रद्धा से मञ्जुश्री की प्रार्थना की । दश हजार योजन दूर स्थित होते हुए भी मञ्जुश्री बोधिसत्त्व ने महाकरुणा से प्रेरित हो सुधन के मस्तक पर अपना हाथ रख कर उनका अभिनन्दन किया । उसे असंख्य बुद्ध धर्मों में प्रतिष्ठित किया, अनन्त ज्ञानमहावभास को प्राप्त कराया तथा अपर्यन्त धारणी, समाधि एवं अभिज्ञाओं से विभूषित किया और समन्तभद्रचर्यामण्डल में प्रतिष्ठित किया ।

इस प्रकार गण्डव्यूह में बोधिसत्त्वचर्या का अद्भुत वर्णन है । यह सूत्र 'अवतंसक सूत्र' के नाम से परिचित है ।

(६) **तथागतगुह्यक**– प्रारम्भिक तन्त्र महायानसूत्रों से बहुत मिलते–जुलते हैं । उदाहरणार्थ मञ्जुश्रीमूलकल्प अवतंसक के अन्तर्गत

'महावैपुल्यमहायानसूत्र', के रूप में प्रसिद्ध है । विद्वानों की राय है कि तथागतगुह्य, गुह्यसमाजतन्त्र अथवा अष्टादशपटल तीनों एक ही हैं । अर्थात तीनों नाम पर्यायवाची हैं, किन्तु डॉ0 विन्टरनित्ज का कहना है कि शिक्षासमुच्चय नामक ग्रन्थ में जो तथागतगुह्यसूत्र के उद्धरण मिलते हैं, वे गुह्यसमाज से भिन्न हैं । अतः तथागतगुह्यसूत्र एवं गुह्यसमाजतन्त्र का अभेद नहीं है । अर्थात भिन्न–भिन्न हैं । 'अष्टादश' इस नाम से यह प्रकट होता है कि इस ग्रन्थ में अठारह अध्याय या परिच्छेद हैं ।

तथागतगुह्यसूत्र के अनुसार बोधिसत्त्व प्रणिधान करता है कि श्मशान में स्थित उसके मृत शरीर का तिर्यग् योनि में उत्पन्न प्राणी यथेच्छ उपभोग करें और इस परिभोग की वज़ह से वे स्वर्ग में उत्पन्न हो । इतना ही नहीं, वह उनके परिनिर्वाण का भी हेतु हो[१] ।

पुनश्च, तदनुसार बोधिसत्त्व धर्मकाय से प्रभावित होता है, इसलिए वह अपने दर्शन, श्रवण और स्पर्श से भी सत्त्वों का हित करता है[२] । उसी सूत्र में अन्यत्र उल्लिखित है कि जैसे शान्तमति, जो वृक्ष मूल से उखड़ गया हो, उसकी सभी शाखाएं, डालियाँ और पत्ते सूख जाते हैं, उसी प्रकार सत्कायदृष्टि का नाश हो जाने से बोधिसत्त्व के सभी क्लेश शान्त हो जाते हैं[३] । अपि च, महायान में प्रस्थित बोधिसत्त्व के ये चार धर्म विशेष गमन के और अपरिहाणि के हेतु होते हैं । कौन चार ? श्रद्धा, गौरव, निर्मानता (अनहंकार) एवं वीर्य[४] । पुनश्च, बोधिसत्तत्त्व सर्वदा अप्रमादी होता है और अप्रमाद का अर्थ है 'इन्द्रियसंवर' । वह

---

१. ये मे मृतस्य कालगतस्य मांसं परिभुञ्जीरन्, स एव तेषां हेतुर्भवेत् स्वर्गोपपत्तये यावत् परिनिर्वाणाय तस्य शीलवतः । द्र0– तथागतगुह्यसूत्र, शिक्षासमुच्चय में उद्धृत, पृ0 ८९ (दरभङ्गा संस्करण, १९६) ।

२. स धर्मकायप्रभावितो दर्शनेनापि सत्त्वानामर्थं करोति, श्रवणेनापि स्पर्शनेनापि सत्त्वानामर्थं करोति । द्र0– तथागतगुह्यसूत्र, शिक्षासमुच्चय में उद्धृत, पृ0 ८९ (दरभङ्गा संस्करण १९६0) ।

३. तद्यथापि नाम शान्तमते, वृक्षस्य मूलच्छिन्नस्य सर्वशाखापत्रपलाशाः शुष्यन्ति, एवमेव शान्तमते, सत्कायदृष्ट्युपशमात् सर्वक्लेशा उपशाम्यन्तीति– द्र0– तथागतगुह्य–सूत्र, शिक्षासमुच्चय में उद्धृत, पृ0 १३0 (दरभङ्गा संस्करण १९६0) ।

४. चत्वार इमे महाराज, धर्मा महायानसंम्प्रस्थितानां विशेषगामितायै संवर्तन्तेऽपरिहाणाय च । कतमे चत्वारः ? श्रद्धा महाराज, विशेषगामितायै संवर्ततेऽपरिहाणाय........ गौरवं....... निर्मानता.......वीर्यं महाराज विशेषगामितायै संवर्ततेऽपरिहाणाय च । द्र0– तथागतगुह्यसूत्र, शिक्षासमुच्चय में उद्धृत, पृ0 १६८ (दरभङ्गा संस्करण, १९६0) ।

न निमित्त का ग्रहण करता है और न अनुव्यञ्जन का । वह सभी धर्मों के आस्वाद, आदीनव और निःसरण को ठीक–ठीक जानता है[१] । और भी, अप्रमाद अपने चित्त का दमन है, दूसरों के चित्तों की रक्षा, क्लेश में अरति एवं धर्म में रति है[२] । योनिशः प्रयुक्त बोधिसत्त्व 'जो है' उसे अस्ति के रूप में और 'जो नहीं है' उसे नास्ति के रूप में जानता है[३] ।

तथागतगुह्यसूत्र के अनुसार जिस रात्रि में तथागत ने अभिसम्बोधि प्राप्त की तथा जिस रात्रि में परिनिर्वाण प्राप्त करेंगे, इस बीच में तथागत ने एक भी अक्षर न कहा और न कहेंगे । प्रश्न है कि तब समस्त सुर, असुर, मनुष्य, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर, नाग आदि विनेयजनों को उन्होंने कैसे विविध प्रकार की देशना की ? मात्र एक क्षण की ध्वनि के उच्चारण से वह विविधजनों के मानसिक अन्धकार का नाश करनेवाली, उनके बुद्धिरूपी कमल को विकसित करनेवाली, जरा, मरण आदि रूपी नदी और समुद्र का शोषण करने वाली तथा प्रयकालानल को लज्जित करनेवाली शरत्कालिक अरुण–प्रभा के समान थी । वस्तुतः जैसे तूरी नामक वाद्ययन्त्र वायु के झोकों से बजती है, वहाँ कोई बजानेवाला नहीं होता, फिर भी शब्द निकलते हैं, वैसे ही सत्त्वों की वासना से प्रेरित होकर बुद्ध की वाणी भी निःसृत होती है, जबकि उनमें किसी भी प्रकार की कल्पना नहीं होती[४] । नाना आशय वाले सत्त्व समझते हैं कि तथागत के मुख

१. तत्र कतमोऽप्रमादः ? यदिन्द्रियसंवरः । स चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा न निमित्तग्राही भवति नानुव्यञ्जन–ग्राही । .... सर्वधर्मेष्वास्वादं चादीनवं च निःसरणं च यथाभूतं प्रजानाति । द्र० – तथागतगुह्यसूत्र, शिक्षासमुच्चय में उद्धृत, पृ० १९१ ।

२. अप्रमादो यत् स्वचित्तस्य दमनम्, परचित्तस्यारक्षा, क्लेशरतेरपरिकर्मणा, धर्मरतेरनुवर्तनम्, यावदयमुच्यतेऽप्रमादः । द्र० – तथागतगुह्यसूत्र, शिक्षासमुच्चय में उद्धृत, पृ० १९१ (दरभङ्गा संस्करण १९६०) ।

३. योनिशः प्रयुक्तो हि गुह्यकाधिपते, बोधिसत्त्वो यदस्ति तदस्तीति प्रजानाति, यन्नास्ति तन्नास्तीति प्रजानाति । द्र० – तथागतगुह्यसूत्र, शिक्षासमुच्चय में उद्धृत, पृ० १९१ (दरभङ्गा संस्करण १९६०) ।

४. यां च शान्तमते, रात्रिं तथागतोऽनुत्तरां सम्यक्संबोधिमभिसंबुद्धः, यां च रात्रिमुपादाय परिनिर्वास्यति, अस्मिन्नन्तरे तथागतेन एकाक्षरमपि नोदाहृतं न प्रव्याहृतं न प्रव्याहरिष्यति । कथं तर्हि भगवता ....विनेयजनेभ्यो विविधप्रकारेभ्यो धर्मदेशना देशिता ? एकक्षणवागुदाहारेणैव तत्तज्जनमनस्तमोहरणी ....शरदरुणमहाप्रभेति ।
तदेवं सूत्रे :
यथा यन्त्रकृतं तूर्यं वाद्यते पवनेरितम् ।

से वाणी निकल रही है । उन्हें ऐसा लगता है, मानों भगवान् हमें धर्म की देशना कर रहे हैं और हम देशना सुन रहे हैं, किन्तु तथागत में कोई विकल्प नहीं होता, क्योंकि उन्होंने समस्त विकल्प जालों का प्रहाण कर दिया है[१] ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शान्तिदेव के शिक्षासमुच्चय और चन्द्रकीर्ति की प्रसन्नपदा मूलमाध्यमिककारिकाटीका में अनेक स्थलों पर तथागतगुह्यसूत्र के उद्धरण उपलब्ध हैं, जिनका हमने भी यथासम्भव पादटिप्पणी में उल्लेख किया है । यदि ये उद्धरण प्रकाशित वर्तमान गुह्यसमाज में उपलब्ध नहीं होते हैं तो समझा जाना चाहिए कि तथागतगुह्यसूत्र और गुह्यसमाज अभिन्न नहीं है, जैसे कि कुछ विद्वानों की धारणा है । आचार्य शान्तिदेव और चन्द्रकीर्ति के काल में ये दोनों अवश्य भिन्न–भिन्न थे ।

(७) **समाधिराज**– वैपुल्यसूत्रों में समाधिराजसूत्र भी एक पवित्रतम एवं समादृत महायानसूत्र है । इसमें उच्चतम एवं दार्शनिक उपदेशों का समावेश है । इसे 'चन्द्रप्रदीपसूत्र' भी कहते हैं । चीनी परम्परा और आचार्य शान्तिदेव इसे चन्द्रप्रदीपसूत्र कहना पसन्द करते हैं, जब कि प्रज्ञाकर दोनों नामों का प्रयोग पृथक् ग्रन्थ के रूप में करते हैं । तथा संस्कृत नामों को सुरक्षित रखनेवाली तिब्बती परम्परा के अनुसार वे इसे 'सर्वधर्मस्वभावसमताविपञ्चित समाधिराज' कहते हैं । एक अनुमान यह है कि चन्द्रप्रदीपसूत्र बहुत विशाल ग्रन्थ रहा होगा, इसका लघु संस्करण ही वर्तमान समाधिराज है ।

समस्तसुगतोद्गीर्णसर्वसूत्राधिराजतः ।
आर्यचन्द्रप्रदीपाद्धि यथालब्धं ब्रवीम्यहम् [२] ॥

न चात्र वादकः कश्चिन्निश्चरन्त्यथ च स्वराः ॥
एवं पूर्वसुशुद्धत्वात् सर्वसत्त्वाशयेरिता ।
वाग्निश्चरति बुद्धस्य न चास्यास्तीह कल्पना ॥
द्र० –तथागतगुह्यसूत्र, प्रसन्नपदा में उद्धृत, पृ० १५५ (दरभङ्गा संस्करण १९६०) ।

१. अथ च यथाधिमुक्ताः सर्वसत्त्वा नानाधात्वाशयास्तां तां विविधां तथागतवाचं निश्चरन्तीं संजानन्ति । तेषामिदं पृथक् पृथग् भवति– अयं भगवान् अस्मभ्यमिमं धर्म देशयति, वयं च तथागतस्य धर्मदेशनां शृणुमः । तथागतो न कल्पयति न विकल्पयति सर्वविकल्पजालवासनाप्रपञ्चविगतो हि शान्तमते, तथागतः । द्र० – तथागतगुह्यसूत्र, प्रसन्नपदा में उद्धृत, पृ० २३६ (दरभङ्गा संस्करण १९६०) ।

२. द्र० – पी० एल० वैद्य, समाधिराजसूत्र की प्रस्तावना, पृ० १४ (दरभङ्गा संस्करण १९६०) ।

उपर्युक्त अनुमान के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं है, क्योंकि शान्तिदेव और प्रज्ञाकर द्वारा चन्द्रप्रदीप से लिए गये सम्पूर्ण उद्धरण समाधिराज के वर्तमान संस्करण में उपलब्ध होते हैं । दूसरी ओर मूल ग्रन्थ की गिलगित में प्राप्त मातृका का आकार बहुत छोटा है । इस ग्रन्थ में कुल ४० अध्याय या परिच्छेद हैं, जिन्हें 'परिवर्त' कहा गया है ।

मिथिलाविद्यापीठ, दरभङ्गा से प्रकाशित इस ग्रन्थ का आधार डॉ० नलिनाक्षदत्त द्वारा विभिन्न मातृकाओं की सहायता से १९४१–५४ में सम्पादित ग्रन्थ है । तिब्बती अनुवाद में संस्कृत ग्रन्थ का पूरा नाम 'सर्वधर्मस्वभावसमता–विपञ्चित समाधिराज' उपलब्ध है । यह अनुवाद ९ वीं शताब्दी में शैलेन्द्रबोधि और धर्मशील द्वारा किया गया है, जो 'क–ग्युर' नामक संग्रह में प्राप्य है । चीनी भाषा में इसके तीन अनुवाद पाए जाते हैं । पहला पूर्ण अनुवाद नरेन्द्रयशस् द्वारा ई० ५५० में, दूसरा अधूरा अनुवाद शिक्–सिया–कुङ् द्वारा ई० सन् ४२०–७९ में तथा तीसरा अधूरा अनुवाद नगान–शे–कांस द्वारा ई० सन् १४८ में किया गया । अन्तिम अनुवाद इस समय अप्राप्य है । चीनी अनुवादों में सर्वत्र इसका नाम 'चन्द्रप्रदीपसूत्र' ही है ।

ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय शून्यता है, जो सर्वधर्मसमता का आश्रय है । इसमें विभिन्न चित्तसमाधियों का विस्तृत वर्णन है । विषय का प्रतिपादन प्रश्नोत्तर के रूप में किया गया है । प्रश्नकर्ता बोधिसत्त्व चन्द्रप्रभ हैं और बुद्ध उन प्रश्नों का उत्तर देते हैं । सम्भवतः इस ग्रन्थ के ' चन्द्रपदीप' इस नाम का कारण भी यही है । ग्रन्थ के प्रारम्भ में चन्द्रप्रदीप ने अनेक प्रश्न किये, जिसका उत्तर बुद्ध ने यह कह कर दिया कि एक गुण पर अधिकार कर लेने से सम्पूर्ण गुणों की प्राप्ति हो जाती है और बोधिसत्त्व अनुत्तर सम्यक् संबोधि को भी शीघ्र प्राप्त कर लेता है । वह एक गुण यह है कि बोधिसत्त्व सभी सत्त्वों में समचित्त, हितचित्त, अप्रतिहतचित्त और अविषमचित्त होता है[1] ।

१. एकधर्मेण कुमार, समन्वागतो बोधिसत्त्वो महासत्त्व एतान् गुणान् प्रतिलभते, क्षिप्रं चानुत्तरां सम्यक् सम्बोधिमभिसंबुध्यते । कतमेनैकधर्मेण ? इह कुमार, बोधिसत्त्वो महासत्त्वः सर्वसत्त्वेषु समचित्तो भवति हितचित्तोऽप्रतिहतचित्तोऽविषमचित्तः । द्रष्टव्य– समाधिराजसूत्र, निदानपरिवर्त, पृ० ३ (दरभङ्गा–संस्करण १९६१) ।

सभी सत्त्वों में समचित्त, हितचित्त, अप्रतिहत चित्त एवं अविषमचित्त रहनेवाला बोधिसत्त्व सर्वधर्मस्वभावसमता विपञ्चित नामक समाधि को प्राप्त करता है । वह सर्वधर्मस्वभावसमता समाधि क्या है ? वह कायसंवर, वाक्संवर और मनःसंवर ही है[1] । इसके बाद 'सर्वधर्मस्वभावानुबोध प्रतिवेधज्ञान' तक की, जो समस्त बुद्धधर्मों का आधार है, व्याख्या की गई है । ग्रन्थ में इस विषय का विस्तृत वर्णन है, क्योंकि यह वैपुल्यसूत्र है । शैली पुनरावृत्तिप्रधान है ।

सर्वधर्मसमता का अर्थ शून्यता है, जो एक प्रकार से प्रतीत्यसमुत्पाद ही है । माध्यमिक परम्परा में इसीलिए इस ग्रन्थ का अत्यधिक आदर है । इसीलिए आचार्य चन्द्रकीर्ति ने इसका उल्लेख 'आर्यसमाधिराजभट्टारक' के रूप में अपने ग्रन्थों में अनेक बार किया है । माध्यमिक सिद्धान्तों की पुष्टि इस ग्रन्थ के द्वारा अधिक होती है । लङ्कावतारसूत्र भी माध्यमिक सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए उद्धृत किया जाता है, किन्तु वह योगाचार एवं माध्यमिक दोनों की मिश्रित रूप से संपुष्टि करता है । अतः माध्यमिक परम्परा में समाधिराज का अधिक महत्त्व है । तुलनात्मक दृष्टि से समाधिराज में लङ्कावतार की अपेक्षा माध्यमिक बौद्धमत का प्राचीनतर रूप निहित है ।

(८) **दशभूमीश्वर**– गण्डव्यूह की भाँति यह सूत्र भी अवतंसक का एक भाग माना जाता है । इसमें बोधिसत्त्व की दस आर्यभूमियों का विस्तृत वर्णन है, जिन भूमियों पर क्रमशः अधिरोहण करते हुए बुद्धत्व अवस्था तक साधक पहुँचता है । 'महावस्तु' में इस सिद्धान्त का पूर्वरूप उपलब्ध होता है । इस ग्रन्थ में उक्त सिद्धान्त का परिपाक हुआ है ।

महायान में इस सूत्र का अत्युच्च स्थान है । इसे दशभूमिक, दशभूमीश्वर एवं दशभूमक नाम से भी जाना जाता है । आर्य असङ्ग ने 'दशभूमक' शब्द का ही प्रयोग किया है । इसकी लोकप्रियता एवं प्रामाणिकता में यह प्रमाण है कि अत्यन्त प्रचीनकाल में ही इसके तिब्बती, चीनी, जापानी एवं मंगोलियन अनुवाद हो गये थे । श्री धर्मरक्ष ने इसका चीनी अनुवाद ई० सन् २९७ में कर दिया

१. तत्र कुमार, सर्वसत्त्वेषु समचित्तो बोधिसत्त्वो महासत्त्वो हितचित्तोऽप्रतिहतचित्तोऽविषमचित्त इमं सर्वधर्मस्वभावसमताविपञ्चितं नाम समाधिं प्रतिलभते । कतमश्च स कुमार, सर्वधर्मस्वभावसमता–विपञ्चितो नाम समाधिः ? यदुत कायसंवरः, वाक्संवरः, मनःसंवरः ।
द्र०–समाधिराजसूत्र, पृ० ४ (दरभङ्गा–संस्करण १९६१) ।

था । इसके प्रतिपादन की शैली में लम्बे–लम्बे समस्त पद एवं रूपकों की भरमार है । मिथिलाविद्यापीठ ने डॉ0 जोनेस राडर के संस्करण के आधार पर इसका पुनः संस्करण किया है ।

ज्ञात है कि महायान में दस आर्यभूमियाँ मानी जाती हैं, यथा– प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती एवं धर्ममेघा । आर्यावस्था से पूर्व जो पृथग्जन भूमि होती है, उसे 'अधिमुक्तिचर्याभूमि' कहते हैं । महायान में पाँच मार्ग होते हैं,– सम्भारमार्ग, प्रयोगमार्ग, दर्शनमार्ग, भावनामार्ग एवं अशैक्षमार्ग । दर्शनमार्ग प्राप्त होने पर बोधिसत्त्व 'आर्य' कहलाने लगता है । उपर्युक्त दस भूमियाँ आर्य की भूमियाँ हैं । दर्शनमार्ग की प्राप्ति से पूर्व बोधिसत्त्व पृथग्जन होता है । सम्भारमार्ग एवं प्रयोगमार्ग पृथग्जनमार्ग हैं और उनकी भूमि अधिमुक्तिचर्याभूमि कहलाती है ।

महायानगोत्रीय व्यक्ति बोधिचित्त का उत्पाद कर महायान में प्रवेश करता है । पृथग्जन अवस्था में सम्भारमार्ग एवं प्रयोगमार्ग का अभ्यास कर दर्शनमार्ग प्राप्त करते ही आर्य होकर प्रथम प्रमुदिता भूमि को प्राप्त करता है ।

पारमिताएं भी दस होती हैं, यथा– दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपायकौशल, प्रणिधान, बल एंव ज्ञान पारमिता । बोधिसत्त्व प्रत्येक भूमि में सामान्यतः इन सभी पारमिताओं का अभ्यास करता है, किन्तु प्रत्येक भूमि में किसी एक पारमिता का प्राधान्य हुआ करता है । ग्रन्थ में इन भूमियों के वैशिष्टय का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है, किन्तु हम संक्षेप में यहाँ परिचयात्मक निरूपण कर रहे हैं ।

(१) **प्रमुदिता**– संबोधि को तथा सत्त्वहित की सिद्धि को आसन्न देखकर इस भूमि में प्रकृष्ट (तीव्र) मोद (हर्ष) उत्पन्न होता है, अतः इसे 'प्रमुदिता' भूमि कहते हैं । इस अवस्था में बोधिसत्त्व पाँच भयों से मुक्त हो जाता है, यथा– जीविकाभय, निन्दाभय, मृत्युभय, दुर्गतिभय एवं परिषद् शारद्य (लज्जा का) भय । जो बोधिसत्त्व प्रमुदिता भूमि में अधिष्ठित हो जाता है, वह जम्बूद्वीप पर आधिपत्य करने में समर्थ हो जाता है । इस भूमि में बोधिसत्त्व सामान्यतः दान, प्रियवचन, परहितसम्पादन (अर्थचर्या) एवं समानार्थता

(सर्वधर्मसमता) – इन कृत्यों का सम्पादन करता है । विशेषतः इस भूमि में उसकी दानपारमिता की पूर्ति होती है ।

(२) **विमला**– दौःशील्य एवं आभोग आदि सभी मलों से व्यपगत (रहित) होने के कारण यह भूमि 'विमला' कही जाती है । इस भूमि में बोधिसत्त्व शील में प्रतिष्ठित होकर दस प्रकार के कुशलकर्मों का सम्पादन करता है । इस भूमि में चार संग्रह वस्तुओं[१] में प्रियवादिता एवं शीलपारमिता का प्राधान्य होता है ।

(३) **प्रभाकरी**– विशिष्ट (महान्) धर्मों का अवभास कराने के कारण यह भूमि 'प्रभाकरी' कहलाती है । इस अवस्था में बोधिसत्त्व सभी संस्कार धर्मों को अनित्य, दुःख, अनात्म एवं शून्य देखता है । सभी वस्तुएं उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाती हैं । वे अतीत अवस्था में संक्रान्त नहीं होती, भविष्य में कहीं जाकर स्थित नहीं होतीं तथा वर्तमान में भी कहीं उनका अवस्थान नहीं होता । शरीर दुःखस्कन्धात्मक है– ऐसा बोधिसत्त्व अवधारण करता है । उसमें क्षान्ति, शम, औदार्य एवं प्रियवादिता आदि गुणों का उत्कर्ष होता है । इस भूमि में अवस्थित बोधिसत्त्व इन्द्र के समान बन जाते हैं । इस भूमि में सत्त्वहितचर्या बलवती होती है और क्षान्तिपारमिता का आधिक्य होता है तथा बोधिसत्त्व दूसरों में धर्म का अवभास करता है ।

(४) **अर्चिष्मती**– बोधिपाक्षिक प्रज्ञा इस भूमि में क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण का दहन करती है । बोधिपाक्षिक धर्म अर्चिष् (ज्वाला) के समान होते हैं । फलतः बोधिपाक्षिक धर्म और प्रज्ञा से युक्त होने के कारण यह भूमि 'अर्चिष्मती' कहलाती है । बोधिसत्त्व इस भूमि में दस प्रकार के धर्मालोक के साथ अधिरूढ होता है । बोधिपाक्षिक धर्म सैंतीस होते हैं, यथा– चार स्मृत्युपस्थान, चार प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यङ्ग और आठ आर्यमार्ग (आर्यअष्टाङ्गिक मार्ग) । बोधिसत्त्व इन बोधिपाक्षिक धर्मों का इस भूमि में विशेष लाभ करता है । अन्य पारमिताओं की अपेक्षा इस भूमि में वीर्यपारमिता की प्रधानता होती है तथा संग्रह वस्तुओं में समानार्थता अधिक उत्कर्ष को प्राप्त होती है ।

१. चार संग्रह वस्तुएं ये हैं– दान, प्रियवादित्व, अर्थचर्या एवं समानार्थता ।

(५) **सुदुर्जया**— बोधिसत्त्व इस भूमि में सत्त्वों का परिपाक और अपनी चित्त की विशेष रूप से रक्षा करता है । ये दोनों कार्य अत्यन्त दुष्कर हैं । इन पर जय प्राप्त करने के कारण यह भूमि 'सुदुर्जया' कहलाती है । बोधिसत्त्व इस भूमि में दस प्रकार की चित्तविशुद्धियों को प्राप्त करता है तथा चतुर्विध आर्यसत्य के यथार्थज्ञान का लाभ करता है । इस स्थिति में बोधिसत्त्व को यह उपलब्धि होती है कि सम्पूर्ण विश्व शून्य है । सभी प्राणियों के प्रति उसमें महाकरुणा का प्रादुर्भाव होता है तथा महामैत्री का आलोक उत्पन्न होता है । वह दान, प्रियवादिता एवं धर्मोपदेश आदि के द्वारा संसार में कल्याण के मार्ग का निर्देश करता है । इस भूमि में अन्य पारमिताओं की अपेक्षा ध्यानपारमिता की प्रधानता होती है ।

(६) **अभिमुखी**— इस भूमि में प्रज्ञा का प्राधान्य होता है । प्रज्ञापारमिता की वज़ह से संसार और निर्वाण दोनों में प्रतिष्ठित नहीं होने के कारण यह भूमि संसार और निर्वाण दोनों के अभिमुख होती है । इसलिए 'अभिमुखी' कहलाती है । इस भूमि में बोधिसत्त्व बोध्यङ्गों की निष्पत्ति का विशेष प्रयास करते हैं । इस भूमि में प्रज्ञापारमिता अन्य पारमिताओं की अपेक्षा अधिक प्रधान होती है ।

(७) **दूरङ्गमा**— संबोधि को प्राप्त करानेवाले एकायन मार्ग से अन्वित होने के कारण यह भूमि उपाय और प्रज्ञा के क्षेत्र में दूर तक प्रविष्ट है, क्योंकि बोधिसत्त्व अभ्यास की सीमा को पार कर गया है, इसलिए यह भूमि 'दूरङ्गमा' कहलाती है । इस अवस्था में बोधिसत्त्व शून्यता, अनिमित्त और अप्रणिहित इन त्रिविध विमोक्ष या समाधियों का लाभ करता है । इस भूमि में अन्य पारमितओं की अपेक्षा 'उपायकौशल पारमिता' अधिक बलवती होती है ।

(८) **अचला**— नाम से ही स्पष्ट है कि इस भूमि पर अधिरूढ होने पर बोधिसत्त्व की परावृत्ति (पीछे लौटने) की सम्भावना नहीं रहती । इस भूमि में वह अनुत्पत्तिक धर्मक्षान्ति से समन्वित होता है । निमित्ताभोगसंज्ञा और अनिभित्ताभोगसंज्ञा इन दोनों संज्ञाओं से विचलित नहीं होने के कारण यह भूमि 'अचला' कहलाती है । इस भूमि का लाभ करने पर बोधिसत्त्व निर्वाण की भी इच्छा नहीं करते. क्योंकि ऐसा करने पर सभी दुःखी प्राणियों का कल्याण करने की उनकी जो प्रतिज्ञा है, उसके भङ्ग होने की आशंका होती है । वे लोक में ही अवस्थान करते हैं । इनका पूर्व प्रणिधान इस अवस्था में बलवान् होता है । जो बोधिसत्त्व इस भूमि में अवस्थान करते हैं, उनमें आयुर्वशिता, चेतोवशिता, कर्मवशिता आदि दश वशिताएं तथा आशयबल, अध्याशय बल, महाकरुणा आदि दश बल सम्पन्न होते हैं । इस भूमि में अन्य पारमिताओं की अपेक्षा 'प्रणिधान पारमिता' का आधिक्य रहता है ।

(९) **साधुमती**— चार प्रतिसंविद् (विशेष ज्ञान) होती हैं, यथा— धर्मप्रतिसंविद्, अर्थप्रतिसंविद्, निरुक्तिप्रतिसंविद् एवं प्रतिभानप्रतिसंविद् । इस भूमि में बोधिसत्त्व इन चारों प्रतिसंविद् में प्रवीण (=साधु अर्थात् कर्मण्य) हो जाता है, इसलिए यह भूमि 'साधुमती' कहलाती है । धर्मप्रतिसंविद् के द्वारा वह धर्मों के स्वलक्षण को जानता है । अर्थप्रतिसंविद् के द्वारा धर्मों के विभाग को जानता है । निरुक्तिप्रतिसंविद् के द्वारा धर्मों की अविभक्त देशना को जानता है तथा प्रतिभानप्रतिसंविद् के द्वारा धर्मों के अनुप्रबन्ध अर्थात् निरवच्छिन्नता को जानता है । इस अवस्था में बोधिसत्त्व कुशल और अकुशलों की निष्पत्ति के प्रकार को ठीक—ठीक जान लेता है । इस भूमि में पारमिताओं में 'बल पारमिता' का प्राधान्य होता है ।

(१०) **धर्ममेघा**— धर्मरूपी आकाश विविध समाधिमुख और विविध धारणीमुख रूपी मेघों से इस भूमि में व्याप्त हो जाता है, अतः यह भूमि 'धर्ममेघा' कहलाती है । यह भूमि अभिषेक भूमि आदि नामों से भी परिचित है । इस भूमि में बोधिसत्त्व की 'सर्वज्ञानाभिषेक समाधि' निष्पन्न होती है । बोधिसत्त्व जब इस समाधि का लाभ करते हैं तब वे 'महारत्नराजपद्म' नामक आसन पर उपविष्ट दिखलाई पड़ते हैं । वे अज्ञान से उत्पन्न क्लेश रूपी अग्नि का धर्ममेघ के वर्षण से उपशमन करते हैं । अर्थात् क्लेशरूपी अग्नि को बुझा देते हैं, इसलिए इस भूमि का नाम 'धर्ममेघा' है । इस भूमि में उनकी 'ज्ञानपारमिता' अन्य पारमिताओं की अपेक्षा प्राधान्य का लाभ करती है ।

(९) **प्रज्ञापारमितासूत्र**— प्रज्ञापारमितासूत्र प्रमुखतः भगवान् बुद्ध द्वारा गृध्रकूट पर्वत पर द्वितीय धर्मचक्र के काल में उपदिष्ट देशनाएं हैं । कालान्तर में ये सूत्र जम्बूद्वीप में विलुप्त हो गये । आचार्य नागार्जुन ने नागलोक जाकर उन्हें प्राप्त किया और वे वहाँ से पुनः जम्बूद्वीप लाए । प्रज्ञापारमितासूत्रों के दो पक्ष

हैं। एक दर्शनपक्ष है, जिसे प्रज्ञापक्ष या शून्यतापक्ष भी कहा जाता है। दूसरा है साधनापक्ष, जिसे उपायपक्ष या करुणापक्ष भी कहा जाता है। नागार्जुन ने पज्ञापारमितासूत्रों के दर्शनपक्ष को अपनी कृतियों द्वारा प्रकाशित किया। प्रज्ञापारमितासूत्रों के आधार पर उन्होंने प्रमुखतः मूलमाध्यमिककारिका आदि ग्रन्थों में शून्यता–दर्शन को युक्तियों द्वारा प्रतिष्ठापित किया, जिसे आगे चलकर उनके अनुयायियों ने और अधिक विकसित किया। प्रज्ञापारमितासूत्रों के साधनापक्ष को आर्य असंग ने अपनी कृतियों द्वारा प्रकाशित किया। तदनन्तर उनके अनुयायियों ने उसे और अधिक पल्लवित एवं पुष्पित किया।

शून्यता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि पर्यायवाची शब्द हैं। सभी धर्मों की निःस्वभावता प्रज्ञापारमितासूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य है। प्रज्ञापारमितासूत्रों की संख्या अत्यधिक है। शतसाहस्रिका (एक लाख श्लोकात्मक) प्रज्ञापारमिता से लेकर एकाक्षरी प्रज्ञापारमिता तक ये सूत्र पाये जाते हैं। महायानी वैपुल्यसूत्रों के दो प्रकार हैं। एक प्रकार के वे सूत्र हैं, जिनमें बुद्ध, बोधिसत्त्व, बुद्धयान आदि की महत्ता प्रदर्शित की गई है। ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक आदि सूत्र इसी प्रकार के हैं। दूसरे प्रकार में वे सूत्र आते हैं, जिनमें शून्यता और प्रज्ञा की महत्ता प्रदर्शित है, ये सूत्र प्रज्ञापारमितासूत्र ही हैं। शून्यता और महाकरुणा– इन दोनों का समन्वय प्रज्ञापारमितासूत्रों मे दृष्टिगोचर होता है।

महायान साहित्य में प्रज्ञापारमितासूत्रों का अत्यधिक महत्त्व है। अन्य सूत्रों में अधिकतर बुद्ध और बोधिसत्त्वों का संवाद दिखलाई देता है, जबकि प्रज्ञापारमितासूत्रों में बुद्ध सुभूति नामक स्थविर से प्रश्न करते हैं। सुभूति और शारिपुत्र इन दो स्थविरों का शून्यता के बारे में संवाद बहुत ही तात्त्विक एवं गम्भीर है। इन सूत्रों की प्राचीनता इसीसे प्रमाणित है कि ई० सन् १७९ में प्रज्ञापारमितासूत्र का चीनी भाषा में रूपान्तर हो गया था। प्रायः सभी बौद्ध धर्मानुयायी देशों में इन सूत्रों का अत्यधिक समादर है।

नेपाली परम्परा के अनुसार मूल प्रज्ञापारमिता महायान सूत्र सवा लाख श्लोकात्मक है। पुनः एक लक्षात्मक, पच्चीस हजार, दस हजार और आठ हजार श्लोकात्मक प्रज्ञापारमितासूत्र भी प्रकाशित हैं। चीनी और तिब्बती परम्परा में इसके और भी अनेक प्रकार हैं। संस्कृत में निम्नलिखित सूत्र अंशतः या पूर्णरूपेण उपलब्ध होते हैं– १. शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता,

२. पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, ३. अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, ४. सार्धद्विसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, ५. सप्तशतिका प्रज्ञापारमिता, ६. वज्रच्छेदिका (त्रिशतिका) प्रज्ञापारमिता, ७. अल्पाक्षरा प्रज्ञापारमिता, ८. भगवती प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र आदि।

प्रज्ञापारमितासूत्रों को जननीसूत्र भी कहते हैं। प्रज्ञापारमिता के बिना बुद्धत्व का लाभ सम्भव नहीं है, अतः यह बुद्धत्व को उत्पन्न करनेवाली है। इसी अर्थ में इसे जननी, बुद्धमाता आदि शब्दों से भी अभिहित करते हैं। इन्हें 'भगवती' भी कहते हैं, जो इनके प्रति अत्यधिक आदर का सूचक है। जननीसूत्रों का तीन में विभाजन भी किया जाता है, यथा– विस्तृत, मध्यम एवं संक्षिप्त जिनजननीसूत्र। शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता विस्तृत जिनजननीसूत्र है, जिसका उपदेश भगवान् ने मृदु–इन्द्रिय और विस्तृतरुचि विनेयजनों के लिए किया है। मध्येन्द्रिय और मध्यरुचि विनेयजनों के लिए मध्यम जिनजननी अर्थात् पञ्चविंशति साहस्रिका प्रज्ञापारमिता का तथा तीक्ष्णेन्द्रिय और संक्षिप्तरुचि विनेयजनों के लिए संक्षिप्त जिनजननी अर्थात् अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता का भगवान् ने उपदेश किया है। इन सभी में अष्टसाहस्रिका पूर्णतः उपलब्ध है, अतः उसका यहाँ संक्षेपतः निरूपण किया जा रहा है।

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता– इसमें कुल बत्तीस परिवर्त हैं। ग्रन्थ का प्रारम्भ इस प्रकार होता है– एक समय भगवान्, राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर साढ़े बारह हजार (१२,५००) भिक्षुओं के साथ विहार कर रहे थे, उनमें आनन्द को छोड़कर सभी अर्हत्, क्षीणास्रव एवं कृतकृत्य थे। उस समय भगवान् ने अधिष्ठान किया–'सुभूति, तुम्हें बोधिसत्त्व महासत्त्वों की प्रज्ञापारमिता का प्रतिभान हो'। भगवान् के बचन को सुनकर शारिपुत्र को सन्देह हुआ कि क्या सुभूति स्थविर अपने सामर्थ्य से व्याख्यान करेंगे या बुद्धानुभाव से। स्थविर सुभूति ने बुद्धानुभाव से उनके मन की बात जानकर कहा– आयुष्मन् शारिपुत्र, श्रावक जो कुछ भी भाषण करते हैं, उपदेश करते हैं, प्रकाशन करते हैं, वह सब तथागत का ही पुरुषकार है, क्योंकि हे शारिपुत्र, धर्मता के अनुकूल (अविपरीत) जो कुछ भी श्रावक कहेंगे, वह बुद्धानुभाव ही है।

तब आयुष्मान् सुभूति ने भगवान् को अञ्जलिबद्ध होकर कहा– भगवन्, बोधिसत्त्व–बोधिसत्त्व, प्रज्ञापारमिता–प्रज्ञापारमिता यद्यपि ऐसा कहा जाता है,

किन्तु किस धर्म का यह अधिवचन (नाम) है ? मैं तो ऐसे किसी भी धर्म को नहीं देखता हूँ, जिसे मैं 'बोधिसत्त्व' कहूँ या प्रज्ञापारमिता कह सकूँ । ऐसा होने पर भी चित्त में विषाद न लाकर प्रज्ञापारमिता की भावना करते हुए बोधिसत्त्व को चाहिए कि वह बोधिचित्त को भी परमार्थतः न माने, क्योंकि वह चित्त अचित्त है, चित्त की प्रकृति प्रभास्वर है ।

तब शारिपुत्र ने कहा— क्या आयुष्मन् सुभूति, ऐसा भी कोई चित्त है, जो अचित्त है ? सुभूति ने कहा— क्या आयुष्मन् शारिपुत्र, जो अचित्तता है, उस अचित्तता में अस्तिता या नास्तिता की उपलब्धि होती है ?

शारिपुत्र ने कहा— नहीं । आयुष्मन् सुभूति, वह अचित्तता क्या है ?

सुभूति ने कहा— आयुष्मन् शारिपुत्र, वह अचित्तता अविकार और विकल्प है (**अविकारा आयुष्मन्, अविकल्पाऽचित्तता**) ।

सुभूति का वचन सुनकर शारिपुत्र ने साधुवाद किया और कहा जो श्रावकभूमि में, प्रत्येकबुद्धभूमि में और बोधिसत्त्वभूमि में भी शिक्षा ग्रहण करना चाहता है, उसे इसी प्रज्ञापारमिता का ग्रहण करना चाहिए । इसी प्रज्ञापारमिता में सभी बोधिसत्त्व धर्म उपदिष्ट हैं । उपायकौशल के साथ इसी में योग करना चाहिए ।

तब सुभूति ने भगवान् से फिर कहा— भगवन्, मैं 'बोधिसत्त्व' इस नामधेय को भी नहीं जानता हूँ, क्योंकि नामधेय भी अविद्यमान है । वह न स्थित है, न अस्थित है । साथ ही, यह भी है भगवन्, कि प्रज्ञापारमिता में आचरण करते हुए बोधिसत्त्व को न रूप में, न संज्ञा में, न वेदना में, न संस्कार में और न विज्ञान में स्थित होना चाहिए, क्योंकि यदि वह रूप में स्थित होता है तो रूपाभिसंस्कार में ही स्थित होता है, प्रज्ञापारमिता में स्थित नहीं होता ।

अतः प्रज्ञापारमिता की पूर्ति में संलग्न बोधिसत्त्व को 'सर्व धर्म अपरिगृहीत' नामक अप्रमाणनियत और असाधारण समाधि की प्राप्ति करनी चाहिए । वह रूप से लेकर विज्ञान तक का परिग्रह नहीं करता । यही उसकी प्रज्ञापारमिता है । वह प्रज्ञा को बिना पूर्ण किए बीच में तब तक परिनिर्वाण को भी प्राप्त नहीं करता, जब तक दस तथागतबलों से परिपूर्ण नहीं हो जाता । यह भी उसकी प्रज्ञापारमिता है । यह भी धर्मता है कि रूप रूपस्वभाव से विरहित है,

वेदना वेदनास्वभाव से..........विज्ञान विज्ञानस्वभाव से विरहित है । प्रज्ञापारमिता भी प्रज्ञापारमितास्वभाव से विरहित है । सर्वज्ञता भी सर्वज्ञतास्वभाव से विरहित है । लक्षण भी लक्षणस्वभाव से विरहित है । स्वभाव भी स्वभाव से विरहित है ।

तब आयुष्मान् शारिपुत्र ने सुभूति से प्रश्न किया— क्या आयुष्मन्, जो बोधिसत्त्व यहाँ (प्रज्ञापारमिता में) शिक्षित होगा, वह सर्वज्ञता को प्राप्त होगा ?

सुभूति ने कहा— जो बोधिसत्त्व प्रज्ञापारमिता मे शिक्षित होगा, वह सर्वज्ञता को प्राप्त होगा, क्योंकि हे आयुष्मन्, सभी धर्म अजात एवं अनिर्यात हैं । ऐसा जानने पर बोधिसत्त्व सर्वज्ञता के नजदीक होता है । जैसे–जैसे वह सर्वज्ञता के समीप होता है, वैसे–वैसे वह सत्त्वपरिपाचन, कायचित्तपरिशुद्धि, लक्षणपरिशुद्धि, बुद्धक्षेत्रपरिशुद्धि और बुद्धों से संमवधान करता है । इस प्रकार हे आयुष्मन्, प्रज्ञापारमिता में विहार करने से सर्वज्ञता आसन्न होती है ।

तब शारिपुत्र ने भगवान् से प्रश्न किया— इस प्रकार शिक्षा प्राप्त करनेवाला बोधिसत्त्व किस धर्म में शिक्षा प्राप्त करता है ?

भगवान् ने कहा— शारिपुत्र, इस प्रकार शिक्षा प्राप्त करनेवाला बोधिसत्त्व किंसी भी धर्म में शिक्षा प्राप्त नहीं करता, क्योंकि शारिपुत्र, धर्म वैसे विद्यमान नहीं हैं, जैसे बाल और पृथग्जन उसमें अभिनिविष्ट हैं[१] ।

शारिपुत्र ने पूछा— भगवन्, धर्म कैसे विद्यमान हैं ? भगवान् ने कहा— जिस प्रकार वे संविद्यमान नहीं है, उस प्रकार वे संविद्यमान हैं । इस प्रकार वे अविद्यमान हैं । इसीलिए कहा जाता है कि यह अविद्या है । उसमें बाल एवं पृथग्जन अभिनिविष्ट हैं । उन्होंने अविद्यमान सर्व धर्मों की कल्पना की है । वे उनकी कल्पना करके दो अन्तों में आसक्त हैं[२] । अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न धर्मों की कल्पना करते हैं और नाना रूपों में अभिनिविष्ट होते हैं । इसलिए वे मार्ग को नहीं जानते । यथाभूत मार्ग को बिना जाने वे त्रैधातुक संसार से मुक्त

१. न हि ते शारीपुत्र, धर्मास्तथा संविद्यन्ते, यथा बाल–पृथग्जना अश्रुतवन्तोऽभिनिविष्टाः । द्र०– अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ० ८ (दरभङ्गा संस्करण, १९६०) ।

२. यथा शारीपुत्र, न संविद्यन्ते, एवमविद्यमानाः, तेनोच्यन्ते अविद्येति........ तैरसंविद्यमानाः सर्वधर्मा : कल्पिताः । ते तान् कल्पयित्वा द्वयोरन्तयोः सक्ताः । तान् धर्मान् न जानन्ति, न पश्यन्ति । द्र०– अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ० ८ (दरभङ्गा संस्करण, १९६०) ।

नहीं होंगे और न वे भूतकोटि को जान सकेंगे। इसीलिए वे बाल–पृथग्जन हैं। जो बोधिसत्त्व हैं, वे किसी भी धर्म में अभिनिवेश नहीं करते। शारिपुत्र, वह बोधिसत्त्व सर्वज्ञता में भी शिक्षित नहीं होता, इसी कारण सभी धर्मों में शिक्षित होता है, सर्वज्ञता को प्राप्त होता है।

तब आयुष्मान् सुभूति ने भगवान् से प्रश्न किया– भगवन्, जो ऐसा पूछे कि क्या मायापुरुष सर्वज्ञता में शिक्षित होगा ? सर्वज्ञता को प्राप्त करेगा ? ऐसा पूछने पर क्या उत्तर दिया जाए ?

भगवान् ने कहा– सुभूति, मैं तुमसे ही प्रश्न करता हूँ कि क्या वह माया अलग है और रूप अलग है ? इसी तरह संज्ञा...... विज्ञान अलग है और माया अलग है ? सुभूति ने कहा – नहीं भगवन्, रूप ही माया है माया ही रूप है (**रूपमेव भगवन्, माया, मायैव रूपम्**) विज्ञान ही माया है; माया ही विज्ञान है। भगवान् ने कहा– तो क्या सुभूति, इन पाँच उपादान स्कन्धों में ही क्या यह संज्ञा, प्रज्ञप्ति, व्यवहार नहीं है कि यह 'बोधिसत्त्व' है ? सुभूति ने कहा– भगवन्, ठीक ऐसा ही है। भगवान् ने रूप आदि को मायोपम कहा है। ये पाँच उपादान स्कन्ध ही मायापुरुष हैं। किन्तु भगवन्, फिर बोधिसत्त्व क्या पदार्थ है, उसे क्यों महासत्त्व कहा जाता है ?

भगवान् ने कहा– सुभूति, बोधिसत्त्व पदार्थ अपदार्थ है (**अपदार्थः सुभूते, बोधिसत्त्वपदार्थः**) सर्व धर्मों की असक्तता में ही वह शिक्षित होता है। उसी से वह सम्यक् संबोधि को अभिसंबुद्ध करता है। बोधि के ही अर्थ में वह बोधिसत्त्व महासत्त्व है। महान् सत्त्वराशि में, महान् सत्त्वनिकाय में वह अग्रता (श्रेष्ठता) को प्राप्त करता है, इसलिए वह 'महासत्त्व' है।

इस विषय में अपना विचार प्रकट करते हुए शारिपुत्र ने कहा– मैं मानता हूँ कि आत्मदृष्टि, सत्त्वदृष्टि, भव–विभव और शाश्वत–उच्छेद दृष्टि आदि महती दृष्टियों के प्रहाण के लिए धर्म का उपदेश करता है, इसलिए बोधिसत्त्व महासत्त्व है।

सुभूति ने कहा– भगवन्, बोधिचित्त, जो कि सर्वज्ञता–चित्त है, अनास्रव है और जो असाधारण है, ऐसे महान् चित्त में भी अनासक्त और अपर्यापन्न होने से बोधिसत्त्व महासत्त्व है।

शारिपुत्र ने पूछा– आयुष्मन् सुभूति, क्यों ऐसे महान् चित्त में वह अनासक्त एवं अपर्यापन्न है ?

सुभूति ने कहा– इसलिए कि वह चित्त अचित्त है।

इसी विषय पर पूर्ण मैत्रायणीपुत्र ने कहा– भगवन्, महासन्नाहसन्नद्ध, महायान में सम्प्रस्थित होने के कारण वह बोधिसत्त्व 'महासत्त्व' कहलाा है।

भगवान् ने कहा– सुभूति, वह महासन्नाहसन्नद्ध इसलिए है कि उसका ऐसा प्रणिधान है–"अप्रमेय सत्त्वों का मुझे परिनिर्वापण करना (निर्वाण प्राप्त कराना) है।" वह असंख्येय सत्त्वों का परिनिर्वापण करता है। वास्तव में सुभूति, ऐसा कोई सत्त्व नहीं है, जो परिनिर्वृत्त (निर्वाणप्राप्त) हो या कोई परिनिर्वृत्त कराता हो। सुभूति, धर्मों की यह धर्मता है कि सभी धर्म मायाधर्म हैं। जैसे कोई मायाकार महाजनसमूह का निर्माण करके उसका अन्तर्धान कर दे, लेकिन वहाँ न कोई जन्म पाता है, न मरता है, न अन्तर्हित होता है, उसी प्रकार सुभूति, वह बोधिसत्त्व अप्रमेय, असंख्येय सत्त्वों को परिनिर्वृत्त करता है, तथापि न कोई निर्वाण को प्राप्त होता है और न कोई निर्वाण को प्राप्त कराता है।

तब सुभूति ने कहा– तब तो भगवान् के कहने का अर्थ यह है कि बोधिसत्त्व असन्नाहसन्नद्ध ही है ?

भगवान् ने कहा– ठीक ऐसा ही है सुभूति, सर्वज्ञता अकृत है, अनभिसंस्कृत है। वे सत्त्व भी अकृत हैं, अनभिसंस्कृत हैं, जिनके लिए वह बोधिसत्त्व सन्नाहसन्नद्ध है, क्योंकि निर्वाण को प्राप्त होनेवाला और प्राप्त करानेवाला दोनों अविद्यमान हैं।

सुभूति ने भगवान् से कहा– जो महायान– महायान कहा जाता है, वह महायान क्या पदार्थ है ? भगवन् मैं मानता हूँ कि आकाशसम होने से, अतिमहान् होने से वह 'महायान' कहलाता है। इसका न कहीं से आगम है और न कहीं निर्गम है। इसका कोई स्थान संविद्यमान नहीं है...... यह यान सम है, इसलिए यह 'महायान' है। भगवन्, महायान नाम का कोई पदार्थ नहीं है। 'बुद्ध' यह भी नामधेय मात्र है। बोधिसत्त्व, प्रज्ञापारमिता, यह भी नामधेयमात्र

है[१] । ऐसा क्यों है ? जब बोधिसत्त्व रूप आदि धर्मों की प्रज्ञापारमिता के द्वारा परीक्षा करता है, तब रूप न प्राप्त होता है, न नष्ट होता है, वह रूप का न उत्पाद देखता है, न विनाश देखता है (इसी प्रकार अन्य स्कन्ध भी हैं), क्योंकि जो रूप का अनुत्पाद है, वह रूप नहीं है, जो रूप का अव्यय (अविनाश) है, वह भी रूप नहीं है । इस प्रकार अनुत्पाद और रूप तथा अव्यय और रूप– ये दोनों अद्वय हैं, अद्वैधीकार हैं ।

तब आयुष्मान् शारिपुत्र ने कहा– आयुष्मन् सुभूति, आपकी देशना के अनुसार तो बोधिसत्त्व भी अनुत्पाद है । ऐसा होने पर बोधिसत्त्व दुष्करचर्या करने के लिए क्यों उत्साहित होगा ?

आयुष्मान् सुभूति ने कहा– शारिपुत्र, मैं नहीं चाहता कि बोधिसत्त्व दुष्कर चर्या करें या दुष्करसंज्ञा को प्राप्त करें । दुष्करचर्या या दुष्करसंज्ञा से अप्रमेय असंख्येय सत्त्वों का हित नहीं किया जा सकता । इसलिए बोधिसत्त्व को सभी सत्त्वों के प्रति सुखसंज्ञा, मातृसंज्ञा, पितृसंज्ञा का उत्पाद करना चाहिए और उनके लिए आत्मविसर्जन (आत्मसमर्पण) करना चाहिए । ऐसा है, फिर भी आप (शारीपुत्र) ने जो पूछा कि क्या 'बोधिसत्त्व अनुत्पाद है' ? तो मैं फिर से कहता हूँ कि ठीक ऐसा ही है । बोधिसत्त्व अनुत्पाद है । केवल बोधिसत्त्व ही नहीं, अपितु बोधिसत्त्व धर्म भी, सर्वज्ञता और सर्वज्ञताधर्म भी, पृथग्जन और पृथग्जनधर्म भी अनुत्पाद ही हैं ।

आयुष्मन् शारीपुत्र, यही सभी धर्मों में अनिश्रित पारमिता है । यही सार्वयानिकी पारमिता है, जो कि प्रज्ञापारमिता है । यही गम्भीर पारमिता है, जो कि प्रज्ञापारमिता है । ऐसी गम्भीर प्रज्ञापारमिता की देशना करने पर जिसके चित्त में द्विविधा उत्पन्न नहीं होती, वही इस गम्भीर प्रज्ञापारमिता को, इस अद्वयज्ञान को प्राप्त करता है । तब बुद्ध और शारीपुत्र ने सुभूति के उक्त वचनों का साधुवाद देते हुए अभिनन्दन किया ।

---

१. बुद्ध इति भगवन्, नामधेयमात्रमेतत् । बोधिसत्त्व इति भगवन् ......प्रज्ञापारमितेति भगवन्, नामधेयमात्रमेतत् । तच्च नामधेयमनभिनिर्वृत्तम् । द्र0– अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ0 १३ (दरभङ्गासंस्करण १९६0) ।

हमने यहाँ प्रथम परिवर्त का संक्षेप प्रस्तुत किया है । विराट् प्रज्ञापारमिता में प्रायः इन्हीं विषयों की बार–बार चर्चा आती है । व्यवहार और परमार्थ सत्य का एकत्र निरूपण करने पर जो कठिनाई आती है, उसकी झलक शारीपुत्र और सुभूति के संवाद में मिलती है । स्थविर सुभूति और शारीपुत्र द्वारा इस चर्चा का किया जाना और भी मार्मिक है । हीनयानी अर्हतों द्वारा शून्यवाद की स्थापना कराने का यह प्रयत्न है । बोधिसत्त्व, महासत्त्व, महायान आदि शब्दों के भिन्न–भिन्न अर्थ इस परिवर्त में बताए गये हैं । अद्वयज्ञान में प्रतिष्ठित होना ही बोधिसत्त्वचर्या है । यह अद्वयज्ञान ही प्रज्ञा है, प्रज्ञापारमिता है । इस सिद्धान्त का यहाँ प्रतिपादन है । इसी सिद्धान्त को नागार्जुन आदि आचार्यों ने दार्शनिक रूप में प्रतिष्ठित किया है ।

अवतंसक– चीनी त्रिपिटक एवं तिब्बती कग्युर में 'अवतंसक' नामक एक महायानसूत्रों का विभाग पाया जाता है । अवतंसक नामक एक बौद्ध निकाय भी उत्पन्न हुआ था । बोधिसत्त्व–उपासना का प्रकर्ष हम 'आर्यबुद्धावतंसक' नामक महायानसूत्र में पाते हैं । महाव्युत्पत्ति में भी इस ग्रन्थ का उल्लेख है । जापान का केगोन निकाय भी इसे मान्यता देता है । चीनी परम्परा के अनुसार छह भिन्न–भिन्न अवतंसकसूत्र थे, जिनमें छत्तीस हजार से लेकर एक लाख गाथाओं का संग्रह है । इनमें छत्तीस हजार गाथाओं का चीनी भाषान्तर बुद्धभद्र ने अन्य भिक्षुओं के सहयोग से ई0 सन् ४१८ में किया था । शिक्षानन्द ने ४५00 गाथाओं का भाषान्तर सातवीं शताब्दी में किया था । अवतसंकसूत्र मूल संस्कृत में प्रायः उपलब्ध नहीं है, किन्तु गण्डव्यूहसूत्र एवं दशभूमकसूत्र संस्कृत में उपलब्ध है, जो अवतंसक साहित्य में संगृहीत माने जाते हैं ।

रत्नकूट– यह भी महायानसूत्रों के विभाजन का एक प्रकार है । चीनी भाषा में रत्नकूट अनूदित है तथा तिब्बती कग्युर में भी यह संगृहीत है । यह ४९ सूत्रों का एक संग्रह है, जिसमें अक्षोभ्यव्यूह, मञ्जुश्रीबुद्धक्षेत्रगुणव्यूह, बोधिसत्त्वपिटक, पितापुत्रसमागम, काश्यपपरिवर्त, राष्ट्रपालपरिपृच्छा आदि अनेक छोटे–बड़े ग्रन्थ सम्मिलित हैं । तारानाथ के अनुसार 'रत्नकूट धर्मपर्याय' नामक ग्रन्थ (जिसमें एक सहस्र अध्याय थे) कनिष्क के पुत्र के समय उपनिबद्ध हुआ था । इसके कुछ मौलिक संस्कृत अंश खोतान के समीप मिले

थे । कुछ विद्वानों का मत है कि रत्नकूट और काश्यपपरिवर्त एक ही ग्रन्थ है । रत्नकूट में बाद में अन्य ग्रन्थों का भी संग्रह हुआ ।

काश्यपपरिवर्त में भगवान् का महाकाश्यप भिक्षु से संवाद है । बोधिसत्त्वयान और शून्यता का उसमें मुख्यतः प्रतिपादन है । एक जगह लिखा है कि 'हे काश्यप, जिस प्रकार प्रतिपदा के चन्द्र की विशेष पूजा होती है, पूर्णिमा के चन्द्र की विशेष पूजा नहीं होती, उसी प्रकार मेरे अनुयायियों को चाहिए कि वे बोधिसत्त्वों की तथागत से भी विशेष पूजा करें, क्योंकि तथागत बोधिसत्त्वों से ही उत्पन्न होते हैं । काश्यप परिवर्त का चीनी अनुवाद ई० सन् १७८–१८४ के बीच हो गया था । रत्नकूट में अनेक परिपृच्छा ग्रन्थ संगृहीत हैं ।

राष्ट्रपालपरिपृच्छा– इसमें दो परिवर्त हैं । प्रथम निदानपरिवर्त है । एक समय भगवान् गृध्रकूट में अनेक बोधिसत्त्वों के साथ धर्म देशना कर रहे थे । उस समय प्रामोद्यराज नामक बोधिसत्त्व ने भगवान् की स्तुति की और अनिमेष नयनों से तथागतकाय को देखते हुए उसके मन में गम्भीर, दुरवगाह, दुर्दर्श , दुरनुबोध, अतर्क्य, तर्कापगत, शान्त एवं सूक्ष्म धर्मधातु का विचार आया । उसने देखा कि भगवान् बुद्ध अनालय गगनगोचर हैं । उसने अनावरण बुद्धविमोक्ष की अभिलाषा की । भगवान् बुदध का काय ध्रुव, शिव एवं शाश्वत है । वह सर्वसत्त्वानुगत और सभी बुद्धक्षेत्रों में प्रसृत हैं । इस गम्भीर धर्म का अवलोकन करके वह तूष्णींभूत हो गया । धर्मधातु का ही विचार करने लगा ।

तब आयुष्मान् राष्ट्रपाल तीन मास व्यतीत होने पर भगवान् के दर्शन के लिए श्रावस्ती आया । अभिवादन कर उसने भगवान् से बोधिसत्त्वचर्या के बारे में प्रश्न किया । भगवान् ने उसे बोधिसत्त्वचर्या का उपदेश किया । इस उपदेश का पालि के अङ्गुत्तर निकाय से साम्य है । हे राष्ट्रपाल, चार धर्मों से समन्वागत बोधिसत्त्व परिशुद्धि को प्राप्त करता है । कौन चार ? अध्याशयप्रतिपत्ति, सर्वसत्त्व समचित्तता, शून्यताभावना और यथावादी तथाकारिता । इन चार धर्मों से समन्वागत बोधिसत्त्व परिशुद्धि का लाभ करता है । इसी प्रकार अन्य कई धर्मों की चर्चा यहाँ की गई है । प्रथम परिवर्त के अन्त में भगवान् द्वारा भविष्य का व्याकरण किया गया है, जैसे कि बुद्धशासन विकृत होगा और भिक्षु असंयमी होंगे । पालि की थेरगाथा में भी ऐसे व्याकरण हैं । अनात्मवाद की कठिनाई निम्न श्लोकों में अभिव्यक्त है ।

यत्रात्म नास्ति न च जीवो देशित पुद्गलोऽपि न कथञ्चित् ।
व्यर्थः श्रमोऽत्र घटते यः शीलप्रयोग संवरक्रिया च ॥

यद्यस्ति चैव महायानं नात्र हि आत्म सत्त्व मनुजो वा ।
व्यर्थः श्रमोऽत्र हि कृतो मे यत्र न चात्म सत्त्व उपलब्धिः[१] ॥

द्वितीय परिवर्त में पुण्यरश्मि नामक राजकुमार की जातक कथा है । राष्ट्रपालपरिपृच्छा का चीनी अनुवाद ई० सन् ५८५–५९२ के बीच हुआ । इसका तिब्बती अनुवाद भी उपलब्ध है । उरगपरिपृच्छा, उदयनवत्सराजपरिपृच्छा, उपालिपरिपृच्छा, चन्द्रोत्तरादारिकापरिपृच्छा, नैरात्म्यपरिपृच्छा आदि अनेक परिपृच्छाग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं, जिनका उल्लेख शिक्षासमुच्चय में मिलता है ।

कारण्डव्यूह– इसमें बोधिसत्त्व की महिमा का वर्णन है । इसे गुणकारण्डव्यूह भी कहते हैं । यह गद्य और पद्य दोनों में मिलता है । गद्य कारण्डव्यूह को सत्यव्रत सामश्रमी ने सन् १९७३ में प्रकाशित किया था । पद्य कारण्डव्यूह में एक विशेष सिद्धान्त का उल्लेख है । इसमें 'आदिबुद्ध' की चर्चा है । आदिबुद्ध जगत् का कर्ता है । समस्त विश्व के प्रारम्भ में स्वयम्भू, आदिनाथ प्रकट हुए और उन्होंने समाधि से विश्व को निर्मित किया । उनके सत्त्व में से अवलोकितेश्वर प्रादुर्भूत हुए, जिनके शरीर से देवों की सृष्टि हुई । इसमें अवलोकितेश्वर की महाकरुणा विशेषतः प्रदर्शित है । गद्य कारण्डव्यूह का तिब्बती अनुवाद है, किन्तु पद्य कारण्डव्यूह का तिब्बती अनुवाद उपलब्ध नहीं होता ।

कारण्डव्यूह में अवलोकितेश्वर की महाकरुणा के अनेक वर्णन हैं । वह (महाकरुणा) अवीचि नामक नरक में जाकर नारकियों को दुःख से बचाती है । वह भूत, प्रेत एवं राक्षसों को भी सुख पहुँचाती है । अवलोकितेश्वर का रूप विराट् है । वह स्रष्टा भी हैं । उनकी आँखों से चन्द्र और सूर्य, भ्रू से महेश्वर, भुजाओं से ब्रह्मा, हृदय से नारायण, दन्तों से सरस्वती, मुख से मरुत्, पैरों से पृथ्वी और पेट से वरुण उत्पन्न हुए । उनकी उपासना स्वर्ग और अपवर्ग की प्रापक है । कारण्डव्यूह में तन्त्र और मन्त्रों का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है ।

---

१. द्र० – राष्ट्रपालपरिपृच्छा, महायानसूत्रसंग्रह १ भाग, पृ० १३७ (दरभङ्गा–संस्करण १९६१) ।

'ओं मणिपद्मे हूँ' यह षडक्षर मन्त्र, जो तिब्बत में अत्यधिक प्रतिष्ठित है, वह कारण्डव्यूह में मिलता है ।

अक्षोभ्यव्यूह एवं करुणा पुण्डरीक– अक्षोभ्यव्यूह और करुणापुण्डरीक नाम के दो महायानसूत्रों में क्रमशः अक्षोभ्य बुद्ध और पद्मोत्तर बुद्ध के लोकों का वर्णन है । इन दोनों का चीनी भाषा में अनुवाद ईसवीय चौथी शताब्दी से पूर्व ही हो गया था ।

सुखावतीव्यूह– इस महायानसूत्र में अमिताभ बुद्ध के सुखावती लोक का वर्णन है । विस्तृत और संक्षिप्त दो सुखावतीव्यूह उपलब्ध होते हैं । मैक्समूलर ने पहले का अंग्रेजी भाषान्तर करके प्रकाशन किया है तथा दूसरे का फ्रेंच भाषान्तर जापानी विद्वानों ने किया है ।

पुण्यसम्भार की चर्चा सुखावतीव्यूह में अधिक है । सुखावती में अमिताभ बुद्ध, जिन्हें अमितायु भी कहते हैं, का राज्य है । पुण्यसम्भार का अर्जन करके जो व्यक्ति मृत्यु के समय अमिताभ का चिन्तन करता है, वह बुद्धलोक को प्राप्त होता है । इस बुद्धलोक में नरक, प्रेत, असुर और तिर्यक् का अभाव है । वहाँ सर्वदा दिन ही दिन है, रात्रि नहीं । सुखावती में गर्भ से जन्म नहीं होता । वहाँ सभी सत्त्व औपपादुक ही हैं और कमलदल से उत्पन्न होते हैं । वहाँ के सत्त्व पाप से विरत और प्रज्ञा से युक्त होते हैं ।

विस्तृत सुखावतीव्यूह के बारह भाषान्तर चीनी भाषा में हुए, जिनमें पाँच ही उपलब्ध हैं । इनमें सबसे पुराना अनुवाद ई0 सन् १४७–१८६ के मध्य हुआ । संक्षिप्त सुखावतीव्यूह का चीनी भाषान्तर कुमारजीव, गुणभद्र और ह्वेनसाङ्ग ने किया । अमितायुर्ध्यानसूत्र नाम का एक और ग्रन्थ चीनी भाषा में उपलब्ध है, जिसमें सुखावती को प्राप्त करने के लिए ध्यानों का वर्णन है । ये तीनों ग्रन्थ चीन और जापान में बड़े पवित्र माने जाते हैं । जापान के जोडो–शु और शिन्–शु ये दो बौद्ध सम्प्रदाय अमितायु के ही उपासक हैं ।

अवदान साहित्य– इस शब्द की व्युत्पत्ति अज्ञात है । पालि में इसके समकक्ष 'अपदान' शब्द है । सम्भवतः इसका प्रारम्भिक अर्थ असाधारण या अद्भुत कार्य है । अवदान कथाएं कर्म–प्राबल्य को सिद्ध करती हैं । आजकल

अवदान का अर्थ कथामात्र रह गया है । महावस्तु को भी 'अवदान' कहते हैं । अवदान कथाओं का प्राचीनतम संग्रह 'अवदानशतक' है । तीसरी शताब्दी में इसका चीनी अनुवाद हो गया था । प्रत्येक कथा का अन्त में यह निष्कर्ष दिया जाता है कि शुक्ल कर्म का शुक्ल फल, कृष्ण कर्म का कृष्ण फल तथा व्यामिश्र का व्यामिश्र फल होता है । इनमें से अनेक में अतीत जन्म की कथा दी है, जिसका फल प्रत्युत्पन्न काल में मिला । किसी अवदान में बोधिसत्त्व की कथा है । इसे हम जातक भी कह सकते हैं । क्योंकि जातक में बोधिसत्त्व के जन्म की कथा दी गयी है । किन्तु ऐसे भी अवदान हैं, जिनमें अतीत की कथा नहीं पाई जाती । कुछ अवदान 'व्याकरण' के रूप में हैं । अर्थात् इनमें प्रत्युत्पन्न कथा का वर्णन करके अनागत काल का व्याकरण किया गया है । तिब्बती भाषा में भी अवदान साहित्य अनूदित हुआ है ।

अवदानशतक– यह हीनयान का ग्रन्थ है– ऐसी मान्यता है । इसके चीनी अनुवादकों का ही नहीं, अपितु इसके अन्तरङ्ग प्रमाण भी हैं । सर्वास्तिवादी आगम के परिनिर्वाणसूत्र तथा अन्य सूत्रों के उद्धरण अवदानशतक में पाये जाते हैं । यद्यपि इसकी कथाओं में बुद्धपूजा की प्रधानता है, तथापि बोधिसत्त्व का उल्लेख नहीं मिलता । अवदानशतक की कई कथाएं अवदान के अन्य संग्रहों में और कुछ पालि–अपदानों में भी आती हैं ।

दिव्यावदान– इसमें महायान एवं हीनयान दोनों के अंश पाए जाते हैं । विश्वास है कि इसकी सामग्री बहुत कुछ मूल सर्वास्तिवादी विनय से प्राप्त हुई है । दिव्यावदान में दीर्घागम, उदान, स्थविरगाथा आदि के उद्धरण प्रायः मिलते हैं । कहीं–कहीं बौद्ध भिक्षुओं की चर्याओं के नियम भी दिये गये हैं, जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि दिव्यावदान मूलतः विनयप्रधान ग्रन्थ है । यह ग्रन्थ गद्य–पद्यात्मक है । इसमें 'दीनार' शब्द का प्रयोग कई बार किया गया है । इसमें शुङ्गकाल के राजाओं का भी वर्णन है । शार्दूलकर्णावदान का अनुवाद चीनी भाषा में २६५ ई0 में हुआ था । दिब्यावदान में अशोकावदान एवं कुमारलात की कल्पनामण्डितिका के अनेक उद्धरण हैं । इसकी कई कथाएं अत्यन्त रोचक हैं । उपगुप्त और मार की कथा तथा कुणालावदान इसके अच्छे उदाहरण हैं ।

अवदानशतक की सहायत से अनेक अवदानों की रचना हुई है, यथा– कल्पद्रुमावदानमाला, अशोकावदानमाला, द्वाविंशत्यवदानमाला भी अवदानशतक की ऋणी हैं। अवदानों के अन्य संग्रह भद्रकल्यावदान और विचित्रकर्णिकावदान हैं। इनमें से प्रायः सभी अप्रकाशित हैं। कुछ के तिब्बती और चीनी अनुवाद मिलते हैं।

क्षेमेन्द्र की अवदानकल्पलता का उल्लेख करना भी प्रसङ्ग प्राप्त है। इस ग्रन्थ की समाप्ति १०५२ ई० में हुई। तिब्बत में इस ग्रन्थ का अत्यधिक आदर हैं। इस संग्रह में १०७ कथाएं हैं। क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र ने न केवल इस ग्रन्थ की भूमिका ही लिखी, अपि तु अपनी ओर से एक कथा भी जोड़ी है। यह जीमूतवाहन अवदान है।

बौद्धसंकर साहित्य– महावस्तु, ललितविस्तर आदि ग्रन्थों में शुद्ध संस्कृत भाषा नहीं है। अधिकांशतया महायानसूत्रों में मिश्रसंस्कृत का प्रयोग हुआ है। यदि गद्य शुद्ध संस्कृत में है तो पद्य शुद्ध संस्कृत में नहीं है। कोई इसे गाथासंस्कृत, कोई मिश्रसंस्कृत और कोई बोद्ध संस्कृत कहते हैं। प्रोफेसर एजर्टन इसे बौद्ध संकर–संस्कृत नाम देते हैं।

प्रो० एजर्टन के अनुसार यह भाषा मूलतः मध्यदेश की कोई प्राचीन बोलचान की भाषा थी या उस पर आश्रित थी। यह ईसा–पूर्व की भाषा है। किन्तु प्रारम्भ से ही इसका संस्कृत के प्रति झुकाव है। इन ग्रन्थों में बहुत से शब्द शुद्ध संस्कृत के हैं, कुछ आंशिक रूप से संस्कृत हैं और कुछ ऐसे हैं, जिन्होंने अपने रूप को अपरिवर्तित रखा है। इन ग्रन्थों का शब्द भण्डार बहुत कुछ मध्यदेशीय है। अर्थात् ये शब्द संस्कृत के नहीं है अथवा संस्कृत में उनका भिन्न अर्थ है।

कुछ लोगों का मानना है कि संकर संस्कृत कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं, अपि तु भ्रष्ट संस्कृत है। किन्तु ऐसा समझना भारी भूल है। यह मध्यदेशीय भाषा है, अशुद्ध संस्कृत नहीं। इसलिए विद्वानों का कर्त्तव्य है कि उसके प्रत्येक शब्द और रूप को सुरक्षित रखे, उन्हें शुद्ध संस्कृत में परिवर्तित न करें। यह बताना मुश्किल है कि मध्यदेश कौन है और उसकी सीमा क्या है ? किन्तु इस भाषा की अपनी कुछ विशेषताएं हैं, जो अन्य भाषाओं में नहीं पाई जातीं। प्रो० एजर्टन ने इस भाषा का व्याकरण, कोश एवं रीडर लिख कर बड़ा उपकार किया है।

महावस्तु– लोकोत्तरवादी महासांघिकों का विनय ग्रन्थ है। यह एक अत्यन्त प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका प्रथम सम्पादन इ० सेना ने तीन भागों में किया है। महावस्तु का अर्थ है 'महाविषय' अर्थात् उपसम्पदा इत्यादि बौद्ध विनय सम्बन्धी कथा। पालि के महावग में जिस प्रकार प्रारम्भ में बुद्ध के बोधि प्राप्ति का, धर्मचक्र प्रवर्तन तथा संघस्थापना का वर्णन है, उसी प्रकार महावस्तु में भगवान् बुद्ध का जीवनचरित और संघस्थापना का वर्णन मिलता है। महावस्तु के प्रारम्भ में ही चार बोधिसत्त्वचर्याओं का वर्णन किया गया है– प्रकृतिचर्या, प्रणिधानचर्या, अनुलोमचर्या एवं अनिवृत्तिचर्या। इन चार चर्याओं की पूर्ति से बोधिसत्त्व बुद्धत्व की प्राप्ति करते हैं। इन चर्याओं का उल्लेख करके ग्रन्थ का नाम दिया है– **आर्यमहासांघिकानां लोकोत्तरवादिनां मध्यदेशिकानां पाठेन विनयपिटकस्य महावस्तुनो......** इत्यादि। इस परिचय के बाद चतुर्विध उपसम्पदाओं का वर्णन है–स्वाभ उपसम्पदा, एहि भिक्षुक उपसम्पदा, दशवर्गेण गणेन उपसम्पदा एवं पञ्चवर्गेण गणेन उपसम्पदा।

बुद्ध के जीवनचरित का प्रतिपादन ही महावस्तु का मुख्य उद्देश्य है। इसलिए इसे महावस्तु–अवदान भी कहा गया है। किन्तु ललितविस्तर में जैसे जीवनचरित का व्यवस्थित रूप पाया जाता है, वैसा महावस्तु में नहीं है। जातक, सूत्र, कथा और विनय जैसे कई अंगों का मिश्रण यहाँ मिलता है। बुद्ध के जन्म की कथा पालि निदानकथा और ललितविस्तर से काफी मिलती है। महावस्तु में कई भाग ऐसे हैं, जो पालि निकायों से मिलते हैं। सुत्तनिपात के पब्बजासुत्त, पधानसुत्त, खग्गविषाणसुत्त, धम्मपद का सहस्सवग्ग, दीघनिकाय का महागोविन्दसुत्त, मज्झिमनिकाय का दीघनखसुत्त आदि अनेक ऐसे सुत्तन्त हैं, जो महावस्तु में पाए जाते हैं। महावस्तु का आधे से अधिक भाग जातक और अन्य कथाओं से भरा है, जो सामान्यतः पालि जातकों का अनुसरण करता है।

इसमें सन्देह नहीं कि महावस्तु का मूलरूप अत्यन्त प्राचीन है। इसकी भाषा भी प्राचीनता की सूचक है। समग्र ग्रन्थ मिश्रसंस्कृत या बौद्ध संकर संस्कृत में है, जबकि महायानसूत्र ग्रन्थों में मिश्र संस्कृत और शुद्ध संस्कृत दोनों प्रयोग पाए जाते हैं। इस ग्रन्थ का लोकोत्तरवादी होना भी इसकी प्राचीनता का सूचक है।

अश्वघोष साहित्य— १८९२ ई0 में सिलवां लेवी द्वारा बुद्धचरित के प्रथम सर्ग के प्रकाशन से पूर्व योरप में कोई नहीं जानता था कि अश्वघोष एक महान् कवि हुए हैं। तिब्बती और चीनी आम्नाय के अनुसार अश्वघोष महाराज कनिष्क के समकालीन थे। जो प्रमाण उपलब्ध हैं, उनके अनुसार वे अश्वघोष के समकालीन या उससे कुछ पूर्ववर्ती थे। चीनी आम्नाय के अनुसार अश्वघोष का सम्बन्ध विभाषा से भी था, किन्तु विद्वानों को इसमें सन्देह है।

अश्वघोष की काव्यशैली सिद्ध करती है कि वह कालिदास से कई शताब्दी पूर्व थे। भास उनका अनुसरण करते हैं। शब्द प्रयोग से लगता है कि वे कौटिल्य के निकटवर्ती थे। अश्वघोष अपने को 'साकेतक' कहते हैं और माता का नाम 'सुवर्णाक्षी' बताते हैं। रामायण का उनके ग्रन्थों पर विशेष प्रभाव है। उनका कहना है शाक्य इक्ष्वाकुवंशीय थे। अश्वघोष ब्राह्मण थे, उसी प्रकार उनकी शिक्षा भी हुई थी। बाद में वे बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए। उनके ग्रन्थों से सिद्ध होता है कि वे बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार में अत्यन्त व्यस्त थे। तिब्बती विवरण के अनुसार वे एक अच्छे संगीतज्ञ भी थे और गायकों की मण्डली के साथ भ्रमण करते थे तथा बौद्ध धर्म का प्रचार वे गानों के माध्यम से करते थे।

बुद्धचरित, सौन्दरनन्द और शारिपुत्रप्रकरण— ये तीनों ग्रन्थ उनकी रचनाएं हैं। बुद्धचरित में बुद्ध की कथा वर्णित है। इसमें २८ सर्ग हैं। बुद्ध कथा भगवान् के जन्म से प्रारम्भ होती है और संवेगोत्पत्ति, अभिनिष्क्रमण, मारविजय, संबोधि, धर्मचक्रप्रवर्तन, परिनिर्वाण आदि घटनाओं का वर्णन कर प्रथम संगीति और अशोक के राज्यकाल पर समाप्त होती है। सौन्दरनन्द में बुद्ध के भाई नन्द के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की कथा है। इस ग्रन्थ में १८ सर्ग हैं। समग्र ग्रन्थ सुरक्षित है। शारिपुत्रप्रकरण यह नाटक ग्रन्थ है। इसमें ९ अंक हैं। इसमें शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की कथा वर्णित है। यह खण्डित रूप में प्राप्य है। इसका उद्धार प्रोफेसर लुडर्स ने किया है। ये तीनों ग्रन्थ एक रचयिता द्वारा रचे हुए प्रतीत होते हैं। श्री जान्सटन ने बुद्धचरित का सम्पादन किया है। पूरा अविकल ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। प्रथम सर्ग और १४ वें सर्ग का कुछ अंश खण्डित है। २–१३ सर्ग ठीक हैं। १५ सर्ग से आगे मूल संस्कृत में अनुपलब्ध है।

तिब्बती और चीनी परम्परा अश्वघोष को अन्य ग्रन्थों का भी रचयिता मानती हैं। टामस ने उनकी सूची प्रकाशित की है, किन्तु वे संस्कृत में अप्राप्य हैं, इसलिए उनके बारे में कुछ कहना सम्भव नहीं है। प्रोफेसर लुडर्स को शारिपुत्रप्रकरण के साथ दो और नाटकों के अंश मिले हैं। एक के मात्र तीन पत्र मिले हैं, जिनमें बुद्ध के ऋद्धिबल का प्रदर्शन है। दूसरे में एक नवयुवक की कथा है, जिसने बौद्ध धर्म में दीक्षा ली। किन्तु इनके अश्वघोष की रचना होने में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है।

तीन और ग्रन्थ अश्वघोष के बताये जाते हैं— वज्रसूची, गण्डीस्तोत्र एवं सूत्रालङ्कार। चीनी अनुवादक सूत्रालंकार को अश्वघोष की कृति मानते हैं। बाद में प्रोफेसर लुडर्स को मध्य एशिया में इस ग्रन्थ के मूल संस्कृत में कुछ अंश मिले हैं, उन्होंने सिद्ध किया कि वहाँ ग्रन्थकार का नाम कुमारलात है और ग्रन्थ का नाम कल्पनामण्डितिका है। सामान्यतः विद्वान् इन्हें अश्वघोष की रचना नहीं मानते।

अपनी रचनाओं में अश्वघोष ने श्रद्धा की महिमा का जोरदार वर्णन किया है।

> श्रद्धाङ्कुरमिमं तस्मात् संवर्धयितुमर्हसि।
> तद्वृद्धौ वर्धते धर्मो मूलवृद्धौ यथा द्रुमः ॥
>
> (सौन्दरनन्द १२:)

विद्वानों का मानना है कि अश्वघोष बाहुश्रुतिक हैं। बाहुश्रुतिक महासांघिक की शाखा है। इसलिए ये महादेव की पाँच वस्तुओं को स्वीकारते हैं। इनमें से चतुर्थ के अनुसार अर्हत् परप्रत्यय से ज्ञानलाभ करते हैं। पर–प्रत्यय के लिए श्रद्धा आवश्यक है। जान्सटन के अनुसार अश्वघोष बाहुश्रुतिक या कौक्कुटिक या कौक्कुलिक हैं। तारानाथ के अनुसार मातृचेट अश्वघोष का दूसरा नाम है। मातृचेट का स्तोत्र अत्यन्त लोकप्रिय था। जातककमाला के रचयिता आर्यशूर अश्वघोष के ऋणी हैं। जातकमाला में ३४ जातककथाओं का संग्रह है, लगभग सभी कथाएं पालिजातक में पाई जाती हैं।

महायान के प्रमुख आचार्य और उनकी कृतियाँ

नागार्जुन— ह्वेनसांग के अनुसार अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव और कुमारलब्ध (=कुमारलात) समकालीन थे। राजतरंगिणी और तारानाथ के मतानुसार नागार्जुन कनिष्क के काल में पैदा हुए थे। नागार्जुन के काल के बारे में इतने मत–मतान्तर हैं कि कोई निश्चित समय सिद्ध कर पाना अत्यन्त कठिन है, फिर भी ई० पू० प्रथम शताब्दी से ईसवीय प्रथम–द्वितीय शताब्दीके बीच कहीं उनका समय होना चाहिए। कुमारजीव ने ४०५ ई० के लगभग चीनी भाषा में नागार्जुन की जीवनी का अनुवाद किया था। ये दक्षिण भारत के विदर्भ प्रदेश में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। वे ज्योतिष, आयुर्वेद, दर्शन एवं तन्त्र आदि विद्याओं में अत्यन्त निपुण थे और प्रसिद्ध तान्त्रिक सिद्ध थे।

प्रज्ञापारमितासूत्रों के आधार पर उन्होंने माध्यमिक दर्शन का प्रवर्तन किया था। कहा जाता है कि उनके काल में प्रज्ञापारमितासूत्र जम्बूद्वीप में अनुपलब्ध थे। उन्होंने नागलोक जाकर उन्हें प्राप्त किया तथा उन सूत्रों के दर्शन पक्ष को माध्यमिक दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया।

अस्तित्व का विश्लेषण दर्शनों का प्रमुख विषय रहा है। भारतवर्ष में इसी के विश्लेषण में दर्शनों का अभूतपूर्व विकास हुआ है। उपनिषद्–धारा में आचार्य शङ्कर का अद्वैत वेदान्त तथा बौद्ध–धारा में आचार्य नागार्जुन का शून्याद्वयवाद शिखरायमाण है। परस्पर के वाद–विवाद ने इन दोनों धाराओं के दर्शनों को उत्कर्ष की पराकाष्ठा तक पहुँचाया है। यद्यपि आचार्य शङ्कर का काल नागार्जुन से बहुत बाद का है, फिर भी नागार्जुन के समय औपनिषदिक धारा के अस्तित्व का अपलाप नहीं किया जा सकता, किन्तु उसकी व्याख्या आचार्य शङ्कर की व्याख्या से निश्चित ही भिन्न रही होगी। आचार्य नागार्जुन के आविर्भाव के बाद भारतीय दार्शनिक चिन्तन में नया मोड़ आया। उसमें नई गति एवं प्रखरता का प्रादुर्भाव हुआ। वस्तुतः नागार्जुन के बाद ही भारतवर्ष में यथार्थ दार्शनिक चिन्तन प्रारम्भ हुआ। नागार्जुन ने जो मत स्थापित किया, उसका प्रायः सभी बौद्ध–बौद्धेतर दर्शनों पर व्यापक प्रभाव पड़ा और उसी के खण्डन–मण्डन में अन्य दर्शनों ने अपने को चरितार्थ किया।

नागार्जुन के मतानुसार वस्तु की परमार्थतः सत्ता एक 'शाश्वत अन्त' है तथा व्यवहारतः असत्ता दूसरा 'उच्छेद अन्त' है। इन दोनों अन्तों का परिहार कर वे अपना अनूठा मध्यम मार्ग प्रकाशित करते हैं। उनके अनुसार परमार्थतः 'भाव' नहीं है तथा व्यवहारतः या संवृतितः 'अभाव' भी नहीं है। यही नागार्जुन का मध्यम मार्ग या माध्यमिक दर्शन है। इस मध्यम मार्ग की व्यवस्था उन्होंने अन्य बौद्धों की भाँति प्रतीत्यसमुत्पाद की अपनी विशिष्ट व्याख्या के आधार पर की है। वे 'प्रतीत्य' शब्द द्वारा शाश्वत अन्त का तथा 'समुत्पाद' शब्द द्वारा उच्छेद अन्त का परिहार करते हैं और शून्यता दर्शन की स्थापना करते हैं।

नागार्जुन के नाम पर अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, किन्तु उनमें मूलमाध्यमिककारिका, विग्रहव्यावर्तनी, युक्तिषष्टिका, शून्यतासप्तति, रत्नावली और वैदल्यसूत्र प्रमुख हैं। इनमें मूलमाध्यमिककारिका शरीरस्थानीय है तथा अन्य ग्रन्थ उसीके अवयव या पूरक के रूप में माने जाते हैं। कहा जाता है कि उन्होंने मूलमाध्यमिककारिका पर 'अकुतोभया' नाम की वृत्ति लिखी थी, किन्तु अन्य साक्ष्यों के प्रकाश में आने पर अब यह मत विद्वानों में मान्य नहीं है। इसके अतिरिक्त सुहल्लेख एवं सूत्रसमुच्चय आदि भी उनकी कृतियाँ हैं। भारतीय बौद्ध आचार्यों की कृतियों का तिब्बत के 'तन–ग्युर' नामक संग्रह में संकलन किया गया है, हम उसके आधार पर आचार्य नागार्जुन के ग्रन्थों की सूची वर्तमान परिच्छेद के अन्त में प्रस्तुत कर रहे हैं।

आर्यदेव— आर्यदेव आचार्य नागार्जुन के पट्ट शिष्यों में से अन्यतम हैं। इनके और नागार्जुन के दर्शन में कुछ भी अन्तर नहीं है। उन्होंने नागार्जुन के दर्शन को ही सरल भाषा में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। इनकी रचनाओं में चतुःशतक प्रमुख है, जिसे 'योगाचार चतुःशतक' भी कहते हैं। चन्द्रकीर्ति के ग्रन्थों में इसका 'शतक' या 'शतकशास्त्र' के नाम से भी उल्लेख है। ह्वेनसांग ने इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया था। संस्कृत में यह ग्रन्थ पूर्णतया उपलब्ध नहीं है। सातवें से सोलहवें प्रकरण तक भोट भाषा से संस्कृत में रूपान्तरित रूप में उपलब्ध होता है। यह रूपान्तरण भी शत–प्रतिशत ठीक नहीं है। प्रश्नोत्तर शैली में माध्यमिक सिद्धान्त बड़े ही रोचक ढंग से आर्यदेव ने प्रतिपादित किये हैं। कुछ प्रश्न तो ऐसे हैं, जिन्हें आज के विद्वान् भी उपस्थित करते हैं, जिनका आर्यदेव ने सुन्दर समाधान किया है।

ह्वेनसांग के अनुसार ये सिंहल देश से भारत आये थे । इनकी एक ही आंख थी, इसलिए इन्हें काणदेव भी कहा जाता था । इनके देव एवं नीलनेत्र नाम भी प्रसिद्ध थे । कुमारजीव ने ई० सन् ४०५ में इनकी जीवनी का अनुवाद चीनी भाषा में किया था । 'चित्तविशुद्धिप्रकरण' ग्रन्थ भी इनकी रचना है– ऐसा प्रसिद्ध है । हस्तवालप्रकरण या मुष्टिप्रकरण भी इनका ग्रन्थ माना जाता है ।

परम्परा में जितना नागार्जुन को प्रामाणिक माना जाता है, उतना ही आर्यदेव को भी । इन दोनों आचार्यों के ग्रन्थ माध्यमिक परम्परा में मूलशास्त्र या आगम के रूप में माने जाते हैं ।

बुद्धपालित– माध्यमिकों की आचार्य परम्परा में आर्यदेव के बाद बुद्धपालित ही ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने नागार्जुन की प्रमुख रचना मूलमाध्यमिककारिका पर एक प्रशस्त व्याख्या लिखी, जो 'बुद्धपालिती' के नाम से प्रसिद्ध है । यह संस्कृत में उपलब्ध नहीं है । भोटभाषा में इसका अनुवाद उपलब्ध है । यद्यपि इनके और नागार्जुन के बीच आर्यशूर और नागबोधि आदि आचार्य सम्भावित हैं, किन्तु उनकी कोई भी रचना उपलब्ध नहीं है, अतः उनके बारे में ठीक–ठीक निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।

विद्वानों की राय में बुद्धपालित के सिद्धान्त नागार्जुन से बिलकुल भिन्न नहीं है, फिर भी वे माध्यमिक परम्परा में अत्यधिक चर्चित हैं । मूलमाध्यमिककारिक की व्याख्या में उन्होंने सर्वत्र प्रसंग–वाक्यों का प्रयोग किया है, साधन वाक्यों का नहीं, जैसे कि बौद्ध नैयायिक साधनवाक्यों का प्रयोग करते हैं । इसी को लेकर भावविवेक ने उनका खण्डन किया और आचार्य चन्दद्रकीर्ति ने भावविवेक का खण्डन कर बुद्धपालित के विचारों का समर्थन किया । इस तरह हम देखते हैं कि आगे चलकर स्वातन्त्रितक माध्यमिक और प्रासङ्गिक माध्यमिक के रूप में जो माध्यमिकों का विकास हुआ, उसकी नींव आचार्य बुद्धपालित के समय ही पड़ जाती है ।

आचार्य नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित निःस्वभावता (शून्यता) को स्वतन्त्र हेतुओं से सिद्ध करना चाहिए, अथवा नहीं– इस विषय को लेकर माध्यमिकों में दो शाखाएं विकसित हो गई– स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं प्रासङ्गिक माध्यमिक । स्वातन्त्रिकों का कहना है कि निःस्वभावता को स्वतन्त्र हेतुओं से

सिद्ध करना चाहिए, जबकि प्रासङ्गिकों का कहना है कि ऐसा करना माध्यमिक के लिए उचित नहीं है, क्योंकि वे हेतु, पक्ष आदि किसी की भी सत्ता नहीं मानते । इसलिए जो लोग स्वभावसत्ता की हेतुओं द्वारा सिद्धि करते हैं, माध्यमिक को चाहिए कि उनके हेतुओं में दोष दिखलाकर यह सिद्ध करना चाहिए कि उनके हेतु किसी की भी स्वभावसत्ता सिद्ध करने में सक्षम नहीं है । इस प्रकार दोष दिखलाना ही 'प्रसङ्ग' का अर्थ है । केवल प्रसङ्ग का प्रयोग करने के कारण वे प्रासङ्गिक कहलाते हैं । आगे चलकर स्वातन्त्रिकों में भी दो शाखाएं विकसित हो गई– सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक । प्रथम शाखा के प्रवर्तक आचार्य भावविवेक एवं दूसरी के आचार्य शान्तरक्षित हैं ।

भावविवेक– माध्यमिक आचार्य–परम्परा में आचार्य भावविवेक या भव्य का विशिष्ट स्थान है । आचार्य चन्द्रकीर्ति ने इन्हें प्रकाण्ड पण्डित एवं महान् तार्किक कहा है । आचार्य नागार्जुन की मूलमाध्यमिककारिक की टीका प्रज्ञाप्रदीप, मध्यमकहृदय एवं उसकी वृत्ति तर्कज्वाला तथा मध्यमकार्थसंग्रह आदि इनकी प्रमुख रचनाएं हैं । तर्कज्वाला इनकी विशिष्ट रचना है, जो विद्वानों में अत्यधिक चर्चित है । इसमें उन्होंने बौद्ध एवं बौद्धेतर सभी दर्शनों की स्पष्ट एवं विस्तृत आलोचना की है । दुर्भाग्य से आज भावविवेक की कोई भी रचना संस्कृत में उपलब्ध नहीं है । भावविवेक परमार्थतः शून्यवादी होते हुए भी व्यवहार में बाह्यार्थवादी है– यह उनकी रचनाओं के अनुशीलन से स्पष्ट है ।

चन्द्रकीर्ति– आचार्य चन्द्रकीर्ति प्रासंगिक माध्यमिक मत के प्रबल समर्थक रहे हैं । आचार्य भावविवेक ने बुद्धपालित द्वारा केवल प्रसङ्गवाक्यों का ही प्रयोग किया जाने पर अनेक आक्षेप किये । उन (भावविवेक) का कहना है कि केवल प्रसङ्गवाक्यों के द्वारा परवादी को शून्यता का ज्ञान नहीं कराया जा सकता, अतः स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग नितान्त आवश्यक है । इस पर चन्द्रकीर्ति कहना है कि असली माध्यमिक को स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग नहीं ही करना चाहिए । स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग तभी सम्भव है, जबकि व्यवहार में वस्तु की स्वलक्षणसत्ता स्वीकार की जाए । चन्द्रकीर्ति के मतानुसार स्वलक्षणसत्ता व्यवहार में भी नहीं है । यही नागार्जुन का भी अभिप्राय है । उनका कहना है कि परमार्थतः शून्यता मानते हुए व्यवहार में स्वलक्षणसत्ता

मानकर भावविवेक ने नागार्जुन के अभिप्राय के विपरीत आचरण किया है। चन्द्रकीर्ति के अनुसार भावविवेक नागार्जुन के सही मन्तव्य को नहीं समझ सके।

चन्द्रकीर्ति प्रसङ्गवाक्यों का प्रयोजन परवादी को अनुमानविरोध दिखलाना मात्र मानते हैं। प्रतिवादी जब अपने मत में विरोध देखता है तो स्वयं उससे हट जाता है। यदि विरोध दिखलाने पर भी वह नहीं हटता है तो स्वतन्त्र हेतु के प्रयोग से भी उसे नहीं हटाया जा सकता, अतः स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग व्यर्थ है। स्वतन्त्र अनुमान नहीं मानने पर भी चन्द्रकीर्ति परप्रसिद्ध अनुमान मानते हैं, जिसके धर्मी, पक्षधर्मता आदि प्रतिपक्ष को मान्य होते हैं। न्यायपरम्परा के अनुसार पक्ष–प्रतिपक्ष दोनों द्वारा मान्य उभयप्रसिद्ध अनुमान का प्रयोग उचित माना जाता है। अर्थात् दृष्टान्त आदि वादी एवं प्रतिवादी दोनों को मान्य होना चाहिए। किन्तु चन्द्रकीर्ति यह आवश्यक नहीं मानते। उनका कहना है कि यह उभयप्रसिद्धि स्वतन्त्र हेतु मानने पर निर्भर है। स्वतन्त्र हेतु स्वलक्षणसत्ता मानने पर निर्भर है। स्वलक्षणसत्ता मानना ही सारी गड़बड़ी का मूल है। अतः चन्द्रकीर्ति के अनुसार भावविवेक ने स्वलक्षणसत्ता मानकर नागार्जुन के दर्शन को विकृत कर दिया है। केवल प्रसङ्ग का प्रयोग ही पर्याप्त है और उसीसे परप्रतिज्ञा का निषेध हो जाता है। विद्वानों की राय में चन्द्रकीर्ति ने आचार्य नागार्जुन के अभिप्राय को यथार्थरूप में प्रस्तुत किया है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति की अनेक रचनाएं हैं, जिनमें नागार्जुन–प्रणीत मूलमाध्यमिककारिका की टीका प्रसन्नपदा, आर्यदेव के चतुःशतक की टीका, मध्यमकावतार और उसकी स्ववृत्ति प्रमुख हैं। इन रचनाओं के द्वारा चन्द्रकीर्ति ने नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन की सही समझ पैदा की है।

असङ्ग– आर्य असङ्ग, वसुबन्धु एवं विरिञ्चिवत्स तीनों भाई थे। इनमें आर्य असङ्ग सबसे बड़े एवं विरिञ्चिवत्स सबसे छोटे थे। गान्धार प्रदेश के पुरुषपुर में इनका जन्म हुआ था। ये कौशिकगोत्रीय ब्राह्मण थे। एक अन्य परम्परा के अनुसार असङ्ग और वसुबन्धु की माँ एक थी, किन्तु पिता भिन्न–भिन्न थे। तारानाथ के अनुसार माता ब्राह्मणी थी और उनका नाम प्रकाशशीला था। असङ्ग के पिता क्षत्रिय थे तथा वसुबन्धु के पिता ब्राह्मण। इनके काल के बारे में अत्यधिक वाद–विवाद है, किन्तु सबका परिशीलन करने के अनन्तर इनका काल चतुर्थ शताब्दी मानना उचित है।

आचार्य असङ्ग बौद्ध दर्शन के योगाचार अर्थात् विज्ञानवाद प्रस्थान के प्रवर्तक हैं। परम्परा के अनुसार अनागत बुद्ध मैत्रेय बोधिसत्त्व ने तुषितलोक में आर्य असङ्ग को पाँच ग्रन्थ प्रकाशित किये थे, जिनका असङ्ग ने लोक में प्रसार किया। इधर विद्वानों की यह धारणा बनी है कि जिन ग्रन्थों के बारे में ऐसी प्रसिद्धि है, वे असङ्ग के गुरु किसी मानवरूपी मैत्रेयनाथ की रचनाएं हैं। अतः अब यह सम्भावना व्यक्त की जा रही है कि योगाचार प्रस्थान के प्रवर्तक वस्तुतः मैत्रेयनाथ हैं। जो कुछ हो, योगाचार (विज्ञानवाद) के विकास के इतिहास में असङ्ग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आचार्य हैं। मैत्रेयनाथ की समस्त रचनाएं विज्ञानवादविषयक ही हैं, यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता। उत्तरतन्त्र और अभिसमयालङ्कार तो निश्चय ही माध्यमिक ग्रन्थ हैं। असङ्ग के साहित्य में विज्ञानवाद का बहुल प्रतिपादन है। आचार्य असङ्ग की शैली आगमों की तरह है और उन्होंने युक्ति से अधिक आगमों का आश्रय लिया है। आचार्य असङ्ग की अनेक कृतियाँ हैं, जिनका संस्कृत मूल प्रायः अनुपलब्ध है। भोटभाषा में उनका अनुवाद उपलब्ध होता है। तथा वे वहाँ के 'तन–ग्युर' संग्रह में संकलित हैं। हम इस परिच्छेद के अन्त में 'तनग्युर' संग्रह के आधार पर उनके ग्रन्थों की सूची दे रहे हैं।

वसुबन्धु– बौद्ध जगत् में आचार्य वसुबन्धु की प्रतिमा, प्रखर पाण्डित्य एवं शास्त्रप्रणयनपटुता की बड़ी प्रतिष्ठा है। इनके ग्रन्थ अत्यन्त प्रमाणभूत माने जाते हैं। अपनी कृतियों से इन्होंने शास्ता भगवान् बुद्ध के अभिप्राय का लोक में प्रकाशन कर उस (लोक) का महान् कल्याण सिद्ध किया है। इनकी इस परार्थवृत्ति के कारण विद्वज्जन इन्हें आदर के साथ 'द्वितीय बुद्ध' कहते थे। ये बड़े शास्त्रार्थी भी थे। वैयाकरण वसुरात को इन्होंने शास्त्रार्थ में पराजित किया था। सुनते हैं एक बार सांख्याचार्य विन्ध्यवासी ने इनके गुरु बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया था। अपने गुरु की पराजय का बदला लेने के लिए ये विन्ध्यवासी से शास्त्रार्थ करने को उद्यत हुए, किन्तु तब तक वे (विन्ध्यवासी) शरीर छोड़ चुके थे। फलतः इन्होंने विन्ध्यवासी की 'सांख्यसप्तति' (ग्रन्थ) के खण्डन में 'परमार्थसप्तति' नामक ग्रन्थ की रचना की। आचार्य कमलशील ने अपनी तत्त्वसंग्रह–पञ्जिका में इसका सादर उल्लेख किया है।

ये योगाचार विज्ञानवाद दर्शनप्रस्थान के प्रवर्तक आर्य असङ्ग के छोटे भाई थे । अतः इनका भी काल उनके आस–पास ही अर्थात् चतुर्थ शताब्दी का उत्तरार्ध एवं पञ्चम शताब्दी का पूर्वार्ध मानना चाहिए । इनके गुरु के बारे में विभिन्न मत हैं । बुदोन के अनुसार काश्मीर में इन्होंने आचार्य संघभद्र से विद्याध्ययन किया था । परमार्थ के अनुसार उनके गुरु बुद्धमित्र थे तथा ह्वेनसांग के मतानुसार 'परमार्थ' थे । यह हो सकता है कि इन्होंने सभी से भिन्न–भिन्न विषयों का अध्ययन किया हो ।

अयोध्या उन दिनों विद्या का केन्द्र थी । कहा जाता है कि युवावस्था में ही ये अपने जन्मस्थान से अयोध्या चले आए थे । यहीं पर उन्होंने विभिन्न दर्शनशास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया तथा अभिधर्मकोश आदि महनीय ग्रन्थों की रचना की । इससे विद्वत्समाज में इनकी अपूर्व कीर्ति फैल गयी । इनके वैदुष्य से प्रभावित होकर अयोध्या के राजा विक्रमादित्य ने इन्हें आश्रय प्रदान किया । इतना ही नहीं, अपने पुत्र बालादित्य और रानी ध्रुवा को इनके निकट अध्ययनार्थ भेजा । विक्रमादित्य के अनन्तर जब बालादित्य राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त हुए तो उन्होंने इन्हें अपने दरबार में स्थान दिया तथा राजकीय सम्मान प्रदान किया । विक्रमादित्य सम्भवतः स्कन्दगुप्त हों और बालादित्य नरसिंगुप्त । अस्सी वर्ष की आयु तक ये जीवित रहे और यहीं (अयोध्या में) उनका देहावसान हुआ । तारानाथ के अनुसार वसुबन्धु अपने जीवन के अन्तिम काल में नेपाल गये और वहीं उनका शरीरपात हुआ । उन्होंने यह भी लिखा है कि वसुबन्धु लगभग सौ वर्ष तक जीवित रहे । महापण्डित राहुल के मतानुसार गान्धार में इन्होंने शरीर छोड़ा ।

ज्ञातव्य है कि जीवन के प्रारम्भिक काल में आचार्य वसुबन्धु सर्वास्तिवादी थे । काश्मीर में इन्होंने वैभाषिक आचार्य संघभद्र से अध्ययन किया था । जब वैभाषिक थे, तब इन्होंने अभिधर्मकोश और उसके ऊपर भाष्य की रचना की थी । सर्वास्तिवादियों के अभिधर्मपिटक और उसकी 'विभाषा' टीका को आधार बनाकर लिखे गये इनके अभिधर्मकोश की विद्वत्समाज में बड़ी ख्याति हुई तथा देश–विदेश में उसका बड़े आदर के साथ अध्ययन किया जाने लगा । वैभाषिक सिद्धान्तों को जानने के लिए उसी का जोरदार अध्ययन होने लगा और अन्य शास्त्र प्रायः गौण हो गए । अपनी गम्भीरता एवं व्यापकता के कारण यह कोश समस्त बौद्ध धर्म का मान्य एवं प्रमाणभूत ग्रन्थ है । वास्तव में

यह बौद्धदर्शन की रीढ़ है और आज भी सभी देशों एवं बौद्ध सम्प्रदायों में इसका प्रामाण्य एवं आदर असन्दिग्ध है । बाणभट्ट ने तो यहाँ तक लिखा है कि शाक्य भिक्षु दिवाकर मित्र के आश्रम में शाक्य शासन में कुशल सुग्गे (तोते) भी 'कोश' का उपदेश देते थे । यहाँ 'कोश' का तात्पर्य आचार्य वसुबन्धु के अभिधर्मकोश से ही है ।

कोश और भाष्य के अध्ययन से लगता है कि वसुबन्धु एक स्वतन्त्र विचारक पण्डित थे । उनका झुकाव सौत्रान्त्रिक मतवाद की ओर परिलक्षित होता है । विशेषतः भाष्य में उसकी सौत्रान्तिक प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट होती है । यही कारण है कि आचार्य संघभद्र ने अपने न्यायानुसार नामक अभिधर्मशास्त्र का प्रणयन प्रधानतः वसुबन्धु के अभिधर्मकोश का खण्डन करने के लिए ही किया था । उसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि वसुबन्धु कहाँ–कहाँ वैभाषिक मत से दूर हट गये हैं । जहाँ–जहाँ वसुबन्धु का भाष्य वैभाषिक मत का विरोध करता है, वहाँ–वहाँ न्यायानुसार उसका खण्डन करता है । अपनी वृद्धावस्था के कारण वसुबन्धु ने आचार्य संघभद्र के साथ वाद–विवाद करने से इन्कार कर दिया था । अभिधर्मकोश पर कई टीकाएं लिखी गई, किन्तु उनमें से आज यशोमित्र की 'स्फुटार्था' ही अपने मूल रूप (संस्कृत) में उपलब्ध है । आचार्य दिङ्नाग, स्थिरमति, गुणमति आदि ने भी मर्मप्रदीप, तत्त्वार्थटीका एवं लक्षणानुसारिणी आदि टीकाओं का प्रणयन किया था ।

अपनी वृद्धावस्था में आचार्य वसुबन्धु ने अपने बड़े भाई आर्य असङ्ग के प्रभाव में आकर महायान धर्म स्वीकार कर लिया और योगाचार दर्शनप्रस्थान को एक निश्चित दार्शनिक एवं शास्त्रीय स्वरूप प्रदान किया । विज्ञानवाद को परिपुष्ट करने की दृष्टि से उन्होंने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशिका और त्रिंशिका प्रकरणद्वय), त्रिस्भावनिर्देश, मध्यान्तविभागभाष्य आदि अनेक ग्रन्थ लिखे । बुदोन ने उन्हें पञ्चस्कन्धप्रकरण, व्याख्यायुक्ति एवं कर्मसिद्धिप्रकरण का रचयिता कहा है । इसके अतिरिक्त उनके सद्धर्मपुण्डरीकोपदेश, वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता एवं आर्यदेव के शतशास्त्र की व्याख्या आदि ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं । विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि पर वसुबन्धु ने स्वयं वृत्ति लिखी । त्रिंशिका पर अनेक टीकाएं थीं, किन्तु इनमें से आज केवल आचार्य स्थिरमति का भाष्य ही अपने मूलरूप (संस्कृत) में उपलब्ध है । ह्वेनसांग ने त्रिंशिका पर 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिशास्त्र' नामक टीका चीनी भाषा में लिखी थी । पूसें ने इसका फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित

किया है । यह ग्रन्थ बड़े महत्त्व का है, क्योंकि इसमें त्रिंशिका के समस्त टीकाकारों का मत उल्लिखित है और धर्मपाल की टीका भी समाविष्ट है । महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इस टीका के कुछ अंश का संस्कृत में रूपान्तरण किया है, जो 'बिहार एण्ड उड़ीसा रिर्सच सोसाइटी' के जनरल के १९ वें और २० वें खण्ड में प्रकाशित है । आचार्य की कृतियाँ अनेक हैं । उनका तिब्बती अनुवाद 'तन-ग्युर' संग्रह में सुरक्षित है । मूल संस्कृत में बहुत ही कम कृतियाँ उपलब्ध हैं । 'तन-ग्युर' संग्रह में उपलब्ध उनके ग्रन्थों की एक सूची हम इस परिच्छेद के अन्त में दे रहे हैं ।

स्थिरमति— आचार्य स्थिरमति आचार्य वसुबन्धु के चार प्रख्यात शिष्यों में से अन्यतम हैं । उनके चार शिष्य अत्यन्त प्रसिद्ध थे । ये अपने विषय में अपने गुरु से भी बढ़-चढ़ कर थे, यथा— अभिधर्म में स्थिरमति, प्रज्ञापारमिता में विमुक्तिसेन, विनय में गुणप्रभ तथा तथा न्यायशास्त्र में दिङ्नाग । आचार्य स्थिरमति का जन्म दण्डकारण्य में एक व्यापारी के घर हुआ था । अन्य विद्वानों के अनुसार वे मध्यभारत के ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे । परम्परा के अनुसार सात वर्ष की आयु में ही वे वसुबन्धु के पास पहुँच गये थे । तारानाथ के अनुसार तारादेवी उनकी इष्ट देवता थी । वसुबन्धु के समान ये भी दुर्घर्ष शास्त्रार्थी थे । वसुबन्धु के अनन्तर इन्होंने अनेक तैर्थिकों को शास्त्रार्थ करके पराजित किया था । तारानाथ ने लिखा है कि स्थिरमति ने आर्यरत्नकूट और मूलमाध्यमिककारिका की व्याख्या भी लिखी थी तथा उन्होंने मूलमाध्यमिककारिका का अभिप्राय विज्ञप्तिमात्रता के अर्थ में लिया था । तारानाथ ने आगे लिखा है कि अभिधर्मकोश पर टीका लिखने वाले स्थिरमति कौन स्थिरमति हैं ? यह अज्ञात है । इसका तात्पर्य यह है कि उन्हें अभिधर्मकोश एवं त्रिंशिका की टीका लिखने वाले स्थिरमति के एक होने में सन्देह है । इनका काल पाँचवी शताब्दी का उत्तरार्थ माना जाता है ।

कृतियाँ— तिब्बती भाषा में स्थिरमति की छह रचनाएं उपलब्ध हैं । ये सभी रचनाएं उच्चकोटि की हैं ।

(१) आर्यमहारत्नकूटधर्मपर्यायशतसाहस्रिकापरिवर्तकाश्यपपरिवर्तटीका।

यह आर्यमहारत्नकूट की टीका है, जिसका उल्लेख तारानाथ ने किया है । यह बहुत ही विस्तृत एवं स्थूलकाय ग्रन्थ है ।

(२) सूत्रालङ्कारवृत्तिभाष्य— यह वसुबन्धु की सूत्रालङ्कारवृत्ति पर भाष्य है ।

(३) पञ्चस्कन्धप्रकरण-वैभाष्य— यह वसुन्धु के पञ्चस्कन्धप्रकरण पर भाष्य है ।

(४) मध्यान्तविभङ्ग-टीका— यह मैत्रेयनाथ के मध्यान्तविभङ्ग की टीका है ।

(५) अभिधर्मकोशभाष्यटीका— यह अभिधर्मकोश भाष्य पर तत्त्वार्थ नाम की टीका है ।

(६) त्रिंशिकाभाष्य ।

इनके समस्त ग्रन्थ टीका या भाष्य के रूप में ही हैं । इनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । इनके माध्यम से आचार्य वसुबन्धु का अभिप्राय पूर्ण रूप से प्रकट हुआ है ।

दिङ्नाग— आचार्य दिङ्नाग का जन्म दक्षिणभारत के काञ्चीनगर के समीप सिंहवक्त्र नामक स्थान में विद्या और विनय से सम्पन्न एक ब्राह्मणकुल में हुआ था । उन्होंने बाल्यावस्था में ही परम्परागत समस्त तैर्थिक शास्त्रों का अध्ययन कर लिया था और उनमें परिनिष्ठित विद्वान् हो गये थे । तदनन्तर उन्होंने वात्सीपुत्रीय निकाय के महास्थविर से प्रव्रज्या ग्रहण की और भिक्षु हो गये । उनका 'दिङ्नाग' यह नाम प्रव्रज्या के समय दिया हुआ नाम है । महास्थविर नागदत्त से ही उन्होंने समस्त श्रावकपिटक और शास्त्रों का अध्ययन किया था और उनमें वे निष्णात हो गये थे ।

एक दिन नागदत्त ने शमथ और विपश्यना के आलम्बन के बारे में समझाते हुए उन्हें अनिर्वचनीय पुद्गल के बारे में उपदेश किया । दिङ्नाग अत्यन्त तीक्ष्णप्रज्ञ एवं स्वतन्त्र विचारक थे । उन्हें अनिर्वचनीय पुद्गल का सिद्धान्त थोड़ा भी रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ । उन्होंने अपने निवासस्थान पर जाकर दिन में सभी दरवाजों और खिड़कियों को खोलकर तथा रात्रि में चारों ओर दीपक जलाकर, सारे वस्त्रों को उतार कर सिर से पैर तक सभी अवयवों

का भीतर–बाहर सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए गुरु के द्वारा उपदिष्ट अनिर्वचनीय पुद्गल का अन्वेषण करना शुरु किया। ठीक तरह से देखने पर भी उन्हें कहीं अनिर्वचनीय पुद्गल का आभास नहीं हुआ। जब उनके सहपाठियों ने उनसे पूछा कि 'यह क्या कर रहे हो' तो उन्होंने कहा कि पुद्गल की खोज कर रहा हूँ। इस घटना को सुनकर उनके गुरु यह सोचकर कुपित हो गये कि दिङ्नाग हमारे सिद्धान्तों का अपमान एवं तिरस्कार कर रहा है। फलतः उन्होंने दिङ्नाग को संघ से निकाल दिया और उस स्थान से बाहर कर दिया। वहाँ से निकल कर दिङ्नाग चारिका करते हुए आचार्य वसुबन्धु के समीप उपस्थित हुए।

इस घटना से यह सिद्ध होता है कि आचार्य दिङ्नाग पहले वात्सीपुत्रीय निकाय से सम्बद्ध थे, किन्तु उन्हें उस निकाय के सिद्धान्त पसन्द नहीं आए। इसके बाद वे आचार्य वसुबन्धु के समीप गए और उनसे समस्त महायानपिटक और श्रावकपिटक का, सम्पूर्ण बौद्ध शास्त्रों का और विशेषकर प्रमाणविषयक शास्त्रों का गम्भीरता के साथ अध्ययन किया। सुना जाता है कि आचार्य वसुबन्धु के चार शिष्य अपने–अपने विषयों में अपने गुरु से भी अधिक जानकार और प्रसिद्ध थे। विनयशास्त्र में आचार्य गुणभद्र, अभिधर्मशास्त्र में आचार्य स्थिरमति, प्रज्ञापारमिता में आर्य विमुक्तिसेन तथा प्रमाणसास्त्रों में आचार्य दिङ्नाग। कुछ लोगों का मानना है कि आर्य विमुक्तिसेन दिङ्नाग के शिष्य थे, न कि वसुबन्धु के, किन्तु तिब्बती परम्परा उन्हें वसुबन्धु का शिष्य ही निश्चित करती है। तारानाथ के अनुसार संघदास और त्रिरत्नदास भी वसुबन्धु के ही शिष्य थे।

समय– दिङ्नाग के काल के विषय में अनेक मत पाए जाते हैं, किन्तु सब पर विचार करने के अनन्तर पाँचवी शताब्दी ही उनका काल समीचीन प्रतीत होता है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन और वैशेषिक भाष्यकार प्रशस्तपाद के मतों का दिङ्नाग ने युक्तिपूर्वक खण्डन किया था तथा न्यायवार्तिककार आचार्य उद्योतकर ने दिङ्नाग का। ईसवीय वर्ष ५५७–५६९ में दिङ्नाग की कृतियों का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। इन सब साक्ष्यों के आधार पर दिङ्नाग का काल पाँचवी शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित होता है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन उनका काल ईसवीय वर्ष ४२५ मानते हैं।

कृतियाँ– आचार्य दिङ्नाग द्वारा विरचित ग्रन्थों की निश्चित संख्या का ज्ञान सम्भव नहीं है। कुछ विद्वान् उनकी संख्या १०८ बताते हैं। तारानाथ उनकी संख्या १०० कहते हैं, किन्तु कहीं भी वे उतनी संख्या में उपलब्ध नहीं है। भोटभाषा तथा चीनी भाषा में उनके नाम से जो ग्रन्थसूची उपलब्ध है, उनके अनुसार दिङ्नाग के ग्रन्थों की सूची इस परिच्छेद के अन्त में प्रस्तुत की जा रही है। यह सूची भोटभाषा के देगे–संस्करण के 'तनग्युर' संग्रह का अनुसरण करती है।

धर्मकीर्ति– आचार्य दिङ्नाग ने जब प्रमाणसमुच्चय लिखकर बौद्ध प्रमाणशास्त्र का बीजवपन किया तो अन्य बौद्धेतर दार्शनिकों में उसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। तदनुसार न्यायदर्शन के व्याख्याकारों में उद्योतकर ने, मीमांसक मत के आचार्य कुमारिल ने, जैन आचार्यों में आचार्य मल्लवादी ने दिङ्नाग के मन्तव्यों की समालोचना की। फलस्वरूप बौद्ध विद्वानों को भी प्रमाणशास्त्र के विषय में अपने विचारों को सुव्यवस्थित करने का अवसर प्राप्त हुआ। ऐसे विद्वानों में आचार्य धर्मकीर्ति प्रमुख हैं, जिन्होंने दिङ्नाग के दार्शनिक मन्तव्यों का सुविशद विवेचन किया तथा उद्योतकर, कुमारिल आदि दार्शनिकों की जमकर समालोचना करके बौद्ध प्रमाणशास्त्र की भूमिका को सुदृढ़ बनाया। उन्होंने केवल बौद्धेतर विद्वानों की ही आलोचना नहीं की, अपि तु कुछ गौण विषयों में अपना मत दिङ्नाग से भिन्न रूप में भी प्रस्तुत किया। उन्होंने दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन की भी, जिन्होंने दिङ्नाग के मन्तव्यों की अपनी समझ के अनुसार व्याख्या की थी, उनकी भी समालोचना कर बौद्ध प्रमाणशास्त्र को परिपुष्ट किया।

आचार्य धर्मकीर्ति के प्रमाणशास्त्र विषयक सात ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ये सातों ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय की व्याख्या के रूप में ही हैं। प्रमाणसमुच्चय में प्रतिपादित विषयों का ही इन ग्रन्थों में विशेष विवरण है। किन्तु एक बात असन्दिग्ध है कि धर्मकीर्ति के ग्रन्थों के प्रकाश में आने के बाद दिङ्नाग के ग्रन्थों का अध्ययन गौण हो गया।

कृतियाँ– आचार्य धर्मकीर्ति के सात ग्रन्थ इस प्रकार हैं– १. प्रमाणवार्तिक, २. प्रमाणविनिश्चय, ३. न्यायबिन्दु, ४. हेतुबिन्दु, ५. वादन्याय, ६. सम्बन्धपरीक्षा एवं ७. सन्तानान्तरसिद्धि। इनके अतिरिक्त प्रमाणवार्तिक के

स्वार्थानुमान परिच्छेद की वृत्ति एवं सम्बन्धपरीक्षा की टीका भी स्वयं धर्मकीर्ति ने लिखी है।

आचार्य धर्मकीर्ति के इन ग्रन्थों का प्रधान और पूरक के रूप में भी विभाजन किया जाता है। तथा हि–न्यायबिन्दु की रचना तीक्ष्णबुद्धि पुरुषों के लिए, प्रमाणविनिश्चय की रचना मध्यबुद्धि पुरुषों के लिए तथा प्रमाणवार्तिक का निर्माण मन्दबुद्धि पुरुषों के लिए हैं– ये ही तीनों ग्रन्थ प्रधान हैं, जिनमें प्रमाणों से सम्बद्ध सभी वक्तव्यों का सुविशद निरूपण किया गया है। अवशिष्ट चार ग्रन्थ पूरक के रूप में हैं। तथा हि–स्वार्थानुमान से सम्बद्ध हेतुओं का निरूपण 'हेतुबिन्दु' में है। हेतुओं का अपने साध्य के साथ सम्बन्ध का निरूपण 'सम्बन्धपरीक्षा' में है। परार्थानुमान से सम्बद्ध विषयों का निरूपण 'वादन्याय' में है। अर्थात् इसमें परार्थानुमान के अवयवों का तथा जय–पराजय की व्यवस्था कैसे हो– इसका विशेष प्रतिपादन किया गया है।

आचार्य धर्मकीर्ति दक्षिण के त्रिमलय में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने प्रारम्भिक अध्ययन वैदिक दर्शनों का किया था। तदनन्तर वसुबन्धु के शिष्य धर्मपाल, जो उन दिनों अत्यन्त वृद्ध हो चुके थे, उनके पास विशेष रूप से बौद्धदर्शन का अध्ययन करने के लिए वे नालन्दा पहुँचे। उनको तर्कशास्त्र में विशेष रुचि थी, इसलिए दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन से उन्होंने प्रमाणशास्त्र का विशेष अध्ययन किया तथा अपनी प्रतिभा के बल से दिङ्नाग के प्रमाणशास्त्र में ईश्वरसेन से भी आगे बढ़ गये। तदनन्तर अपना अगला जीवन उन्होंने वाद–विवाद और प्रमाणवार्तिक आदि सप्त प्रमाणशास्त्रों की रचना में बिताया। अन्त में कलिङ्ग देश में उनकी मृत्यु हुई।

समय– तिब्बती परम्परा के अनुसार आचार्य कुमारिल और आचार्य धर्मकीर्ति समकालीन थे। कुमारिल ने दिङ्नाग का खण्डन तो किया है, किन्तु धर्मकीर्ति का नहीं, जबकि धर्मकीर्ति ने कुमारिल का खण्डन किया है। ऐसी स्थिति में कुमारिल आचार्य धर्मकीर्ति के वृद्ध समकालीन ही हो सकते हैं। आचार्य धर्मकीर्ति ने तर्कशास्त्र का अध्ययन ईश्वरसेन से किया था, किन्तु उनके दीक्षागुरु प्रसिद्ध विद्वान् एवं नालन्दा के आचार्य धर्मपाल थे। धर्मपाल को वसुबन्धु का शिष्य का गया है। वसुबन्धु का समय चौथी शताब्दी निश्चित किया गया है। धर्मपाल के शिष्य शीलभद्र ईसवीय वर्ष ६३५ में विद्यमान थे, जब

ह्वेनसांग नालन्दा पहुँचे थे। अतः यह मानना होगा कि जिस समय धर्मकीर्ति दीक्षित हुए, उस समय धर्मपाल मरणासन्न थे। इस दृष्टि से विचार करने पर धर्मकीर्ति का काल ५५०–६०० हो सकता है।

आचार्य धर्मकीर्ति के मन्तव्यों का खण्डन वैशेषिक दर्शन में व्योमशिव ने, मीमांसा दर्शन में शालिकनाथ ने, न्यायदर्शन में जयन्त और वाचस्पति मिश्र ने, वेदान्त में भी वाचस्पति मिश्र ने तथा जैन दर्शन में अकलङ्क आदि आचार्यों ने किया है। धर्मकीर्ति के टीकाकारों ने उन आक्षेपों का यथासम्भव निराकरण किया है। धर्मकीर्ति के टीकाकरों को तीन वर्ग में विभक्त किया जाता है। प्रथम वर्ग के पुरस्कर्ता देवेन्द्रबुद्धि माने जाते हैं, जो धर्मकीर्ति के साक्षात् शिष्य थे और जिन्होंने शब्दप्रधान व्याख्या की है। देवेन्द्रबुद्धि ने प्रमाणवार्तिक की दो बार व्याख्या लिखकर धर्मकीर्ति को दिखाई और दोनों ही बार धर्मकीर्ति ने उसे निरस्त कर दिया। अन्त में तीसरी बार असन्तुष्ट रहते हुए भी उसे स्वीकार कर लिया और मन में यह सोचकर निराश हुए कि वस्तुतः मेरा प्रमाण शास्त्र यथार्थ रूप में कोई समझ नहीं सकेगा। शाक्यबुद्धि एवं प्रभाबुद्धि आदि भी इसी प्रथम वर्ग के आचार्य हैं।

दूसरे वर्ग में ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने शब्दप्रधान व्याख्या का मार्ग छोड़कर धर्मकीर्ति के तत्त्वज्ञान को महत्त्व दिया। इस वर्ग के पुरस्कर्ता आचार्य धर्मोत्तर हैं। धर्मोत्तर का कार्यक्षेत्र कश्मीर रहा, अतः उनकी परम्परा को कश्मीर–परम्परा भी कहते हैं। वस्तुतः धर्मकीर्ति के मन्तव्यों का प्रकाशन धर्मोत्तर द्वारा ही हुआ है। ध्वन्यालोक के कर्ता आनन्दवर्धन ने भी धर्मोत्तर कृत प्रमाणविनिश्चय की टीका पर टीका लिखी है, किन्तु वह अनुपलब्ध है। इसी परम्परा में शङ्करानन्द ने भी प्रमाणवार्तिक पर एक विस्तृत व्याख्या लिखना शुरु किया, किन्तु वह अधूरी रही।

तीसरे वर्ग में धार्मिक दृष्टि को महत्त्व देने वाले धर्मकीर्ति के टीकाकार हैं। उनमें प्रज्ञाकर गुप्त प्रधान हैं। उन्होंने स्वार्थानुमान को छोड़कर शेष तीन परिच्छेदों पर 'अलङ्कार' नामक भाष्य लिखा, जिसे 'प्रमाणवार्तिकालङ्कारभाष्य' कहते हैं। इस श्रेणी के टीकाकारों में प्रमाणवार्तिक के प्रमाणपरिच्छेद का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि उसमें भगवान् बुद्ध की सर्वज्ञता तथा उनके धर्मकाय आदि की सिद्धि की गई है। प्रज्ञाकर गुप्त का अनुसरण करनेवाले अनेक आचार्य

हुए हैं । 'जिन' नामक आचार्य ने प्रज्ञाकर के विचारों की पुष्टि की है । रविगुप्त प्रज्ञाकर के साक्षात् शिष्य थे । ज्ञानश्रीमित्र भी इसी परम्परा के अनुयायी थे । ज्ञानश्री के शिष्य यमारि ने भी अलङ्कार की टीका की । कर्णगोमी ने स्वार्थानुमान परिच्छेद की ही टीका लिखी, अतः उन्हें धर्मोत्तर की परम्परा में रखना चाहिए । मनोरथनन्दी ने चारों परिच्छेदों पर टीका लिखी है, किन्तु उसे शब्दार्थपरक व्याख्या ही मानना चाहिए ।

धर्मकीर्ति के ग्रन्थों की टीका–परम्परा केवल संस्कृत में ही नहीं रही, अपितु जब बौद्धधर्म का प्रसार एवं विकास तिब्बत में हो गया तो वहाँ के अनेक भोट विद्वानां ने भी तिब्बती भाषा में स्वतन्त्र टीकाएं प्रमाणवार्तिक आदि ग्रन्थों पर लिखीं तथा उनका अध्ययन-अध्यापन आज भी तिब्बती–परम्परा में प्रचलित है । इस प्रकार हम देखते हैं कि दिङ्नाग के द्वारा जो बौद्ध प्रमाणशास्त्र का बीजवपन किया गया, वह धर्मकीर्ति और उनके अनुयायियों के प्रयासों से विशाल वटवृक्ष के रूप में परिणत हो गया ।

बोधिधर्म– बोधिधर्म एक भारतीय बौद्ध भिक्षु एवं विलक्षण योगी थे। इन्होंने ५२० या ५२६ ई० में चीन जाकर ध्यान–सम्प्रदाय (ज़ेन बुद्धिज्म) का प्रवर्तन किया । ये दक्षिणभारत के काँचीपुरम् के राजा सुगन्ध के तृतीय पुत्र थे । इन्होंने अपनी चीन–यात्रा समुद्री मार्ग से की । वे चीन के दक्षिणी समुद्री तट केन्टन् बन्दरगाह पर उतरे ।

प्रसिद्ध है कि भगवान् बुद्ध अद्भुत ध्यानयोगी थे । वे सर्वदा ध्यान में लीन रहते थे । कहा जाता है कि उन्होंने सत्य–सम्बन्धी परमगुह्य ज्ञान एक क्षण में महाकाश्यप में सम्प्रेषित किया और यही बौद्ध धर्म के ध्यान सम्प्रदाय की उत्पत्ति का क्षण था । महाकाश्यप से यह ज्ञान आनन्द में सम्प्रेषित हुआ । इस तरह यह ज्ञानधारा गुरु–शिष्य परम्परा से निरन्तर प्रवाहित होती रही । भारत में बोधिधर्म इस परम्परा के अट्ठाइसवें और अन्तिम गुरु हुए ।

एक बार उत्तरी चीन के तत्कालीन राजा बू–ति ने उनके दर्शन की इच्छा की । वे एक श्रद्धावान् बौद्ध उपासक थे । उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अनेक महनीय कार्य किये थे । अनेक स्तूप, विहार एवं मन्दिरों का निर्माण कराया था एवं संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद कराया था । राजा

के निमन्त्रणपर बोधिधर्म की उनसे नान्–किंग में भेंट हुई । उन दोनों में निम्नप्रकार से धर्मसंलाप हुआ ।

बू–ति– भन्ते, मैंने अनेक विहार आदि का निर्माण कराया है तथा अनेक बौद्ध धर्म के संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद कराया है तथा अनेक व्यक्तियों को बौद्ध भिक्षु बनने की अनुमति प्रदान की है । क्या इन कार्यों से मुझे पुण्य–लाभ हुआ है ?

बोधिधर्म – बिलकुल नहीं ।

बू–ति – वास्तविक पुण्य क्या है ?

बोधिधर्म – विशुद्ध प्रज्ञा, जो शून्य, सूक्ष्म, पूर्ण एवं शान्त है । किन्तु इस पुण्य की प्राप्ति संसार में संभव नहीं है ।

बू–ति – सबसे पवित्र धर्म सिद्धान्त कौन है ?

बोधिधर्म – जहाँ सब शून्यता है, वहाँ पवित्र कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।

बू–ति – तब मेरे सामने खड़ा कौन बात कर रहा है ?

बोधिधर्म – मैं नहीं जानता ।

उपर्युक्त संवाद के आधार पर बोधिधर्म एक रूक्ष स्वभाव के व्यक्ति सिद्ध होते हैं । उन्होंने सम्राट् के पुण्य कार्यों का अनुमोदन भी नहीं किया । बाहर से कठोर दिखाई देने पर भी उनके मन में करुणा थी । वस्तुतः उन्होंने राजा को बताया कि दान देना, विहार बनवाना आदि पुण्य कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, वे अनित्य हैं । इस प्रकार उन्होंने सम्राट् को अहंभाव से बचाया और शून्यता के उच्च सत्य का उपदेश किया, जो पुण्य–पाप, पवित्र–अपवित्र, सत्–असत् आदि द्वन्द्वों और प्रपञ्चों से अतीत है ।

उपर्युक्त भेंट के बाद बोधिधर्म वहाँ रहने में कोई लाभ न देखकर याङ्–त्सी नदी पार करके उत्तरी चीन के बेई नामक राज्य में चले गये । इसके बाद उनका अधिकतर समय उस राज्य की राजधानी लो–याङ् के समीप शुंग–शन पर्वत पर स्थित 'शाश्वत–शान्ति' (श्ला–लिन्) नामक विहार में बीता, जिसका निर्माण पाँचवीं शती के पूवार्द्ध में हुआ था । इस भव्य विहार का दर्शन

करते ही बोधिधर्म मन्त्रमुग्ध हो गए और हाथ जोड़े चार दिन तक विहार के सामने खड़े रहे । यहीं नौ वर्ष तक रहते हुए बोधिधर्म ने ध्यान–भावना की । वे दीवार की ओर मुख करके ध्यान किया करते थे । जिस मठ में बोधिधर्म ने ध्यान किया, वह आज भी भग्नावस्था में विद्यमान है ।

आचार्य बोधिधर्म ने चीन में ध्यान–सम्प्रदाय की स्थापना मौन रह कर चेतना के धरातल पर की । बड़ी कठोर परीक्षा के बाद उन्होंने कुछ अधिकारी व्यक्तियों को चुना और अपने मन से उनके मन को विना कुछ बोले शिक्षित किया । बाद में यही ध्यान–सम्प्रदाय कोरिया और जापान में जाकर विकसित हुआ ।

बोधिधर्म के प्रथम शिष्य और उत्तराधिकारी का नाम शैन–क्कांग था, जिसे शिष्य बनने के बाद उन्होंने हुइ–के नाम दिया । पहले वह कनफ्यूशस मत का अनुयायी था । बोधिधर्म की कीर्ति सुनकर वह उनका शिष्य बनने के लिए आया था । सात दिन और सात रात वह दरवाजे पर खड़ा रहा, किन्तु बोधिधर्म ने मिलने की अनुमति नहीं दी । जाड़े की रात में मैदान में खड़े रहने के कारण बर्फ उनके घुटनों तक जम गई, फिर भी गुरु ने कृपा नहीं की । तब शैन्–क्कांग् ने तलवार से अपनी बाईं बांह काट डाली और उसे लेकर गुरु के समीप उपस्थित हुआ और बोला कि उसे शिष्यत्व नहीं मिला तो वह अपने शरीर का भी बलिदान कर देगा । तब गुरु ने उसकी ओर ध्यान देकर पूछा कि तुम मुझसे क्या चाहते हो ? शैन्–क्कांग् ने बिलखते हुए कहा कि मुझे मन की शान्ति चाहिए । बोधिधर्म ने कठोरतापूर्वक कहा कि अपने मन को निकाल कर मेरे सामने रखो, मैं उसे शान्त कर दूँगा । तब शैन्–क्कांग ने रोते हुए कहा कि मैं मन को कैसे निकाल कर आप को दे सकता हूँ ? इस पर कुछ विनम्र होकर करुणा करते हुए बोधिधर्म ने कहा– मैं तुम्हारे मन को शान्त कर चुका हूँ । तत्काल शैन्–क्कांग् को शान्ति का अनुभव हुआ, उसके सारे संदेह दूर हो गए और बौद्धिक संघर्ष सदा के लिए मिट गए । शैन्–क्कांग् चीन में ध्यान–सम्प्रदाय के द्वितीय धर्मनायक हुए ।

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त बोधिधर्म के जीवन और व्यक्तित्व के बारे में अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं है । चीन से प्रस्थान करने से पूर्व उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाया और उनकी उपलब्धियों के बारे में पूछा । उनमें से एक

शिष्य ने कहा कि मेरी समझ में सत्य विधि और निषेध दोनों से परे हैं । सत्य के संचार का यही मार्ग है । बोधिधर्म ने कहा– तुम्हें मेरी त्वचा प्राप्त है । इनके बाद दूसरी भिक्षुणी शिष्या बोली कि सत्य का केवल एक बार दर्शन होता है, फिर कभी नहीं । बोधिधर्म ने कहा कि तुम्हें मेरा मांस प्राप्त है । इसके बाद तीसरे शिष्य ने कहा कि चारों महाभूत और पाँचों स्कन्ध शून्य हैं और असत् हैं । सत् रूप में ग्रहण करने योग्य कोई वस्तु नहीं है । बोधिधर्म ने कहा कि तुम्हें मेरी हड्डियाँ प्राप्त हैं । अन्त में हुइ–के ने आकर प्रणाम किया और कुछ बोले नहीं, चुपचाप अपने स्थान पर खड़े रहे । बोधिधर्म ने इस शिष्य से कहा कि तुम्हें मेरी चर्बी प्राप्त है ।

इसके बाद ही बोधिधर्म अन्तर्धान हो गए । अन्तिम बार जिन लोगों ने उन्हें देखा, उनका कहना है कि वे नंगे पैर त्सुग्–लिंग पर्वतश्रेणी में होकर पश्चिम की ओर जा रहे थे और अपना एक जूता हाथ में लिए थे । इन लोगों के कहने पर बाद में लोयांग् में बोधिधर्म की समाधि खोली गई, किन्तु उसमें एक जूते के अलावा और कुछ न मिला । कुछ लोगों का कहना है कि बोधिधर्म चीन से लौटकर भारत आए । जापान में कुछ लोगों का विश्वास है कि वे चीन से जापान गए और नारा के समीप कतयोग–यामा शहर में एक भिखारी के रूप में उन्हें देखा गया ।

बोधिधर्म ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, किन्तु ध्यान सम्प्रदाय के इतिहास ग्रन्थों में उनके कुछ वचनों या उपदेशों का उल्लेख मिलता है । जापान में एक पुस्तक 'शोशित्सु के छह निबन्ध' नाम की प्रचलित है, जिसमें उनके छह निबन्ध संगृहीत माने जाते हैं । सुजुकी की राय में इस पुस्तक में निश्चित ही कुछ वचन बोधिधर्म के हैं, किन्तु सब निबन्ध बोधिधर्म के नहीं हैं । चीन के तुन–हुआङ् नगर के 'सहस्र बुद्ध गुहा विहार' के ध्वंसावशेषों में हस्तलिखिति पुस्तकों का एक संग्रह उपलब्ध हुआ था, जिसमें एक प्रति बोधिधर्म द्वारा प्रदत्त प्रवचनों से सम्बन्धित है । इसमें शिष्यों के प्रश्न और बोधिधर्म के उत्तर खण्डित रूप में संगृहीत हैं । इसे बोधिधर्म के शिष्यों ने लिखा था । इस समय यह प्रति चीन के राष्ट्रीय पुस्तकालय में सुरक्षित है ।

ध्यान सम्प्रदाय में सत्य की अनुभूति में प्रकृति का महान् उपयोग है । प्रकृति ही ध्यानी सन्तों का शास्त्र है । ज्ञान की प्राप्ति की प्रक्रिया में वे प्रकृति

का सहारा लेते हैं और उसी के निगूढ प्रभाव के फलस्वरूप चेतना में सत्य का तत्क्षण अवतरण सम्भव मानते हैं ।

बोधिधर्म के विचारों के अनुसार वस्तुतत्त्व के ज्ञान के लिए प्रज्ञा की अन्तर्दृष्टि आवश्यक है, जो तथता तक सीधे प्रवेश कर जाती है । इसके लिए किसी तर्क या अनुमान की आवश्यकता नहीं है । इसमें न कोई विश्लेषण है, न तुलनात्मक चिन्तन, न अतीत एवं अनागत के बारे में सोचना है, न किसी निर्णय पर पहुँचना है, अपि तु प्रत्यक्ष देखना ही सब कुछ है । इसमें संकल्प–विकल्प और शब्दों के लिए भी कोई स्थान नहीं है । इसमें केवल 'ईक्षण' की आवश्यकता है । स्वानुभूति ही इसका लक्ष्य है, किन्तु 'स्व' का अर्थ नित्य आत्मा आदि नहीं है ।

ध्यान सम्प्रदाय एशिया की एक महान् उपलब्धि है । यह एक अनुभवमूलक साधना–पद्धति है । यह इतना मौलिक एवं विलक्षण है, जिसमें धर्म और दर्शन की रूढियों, परम्पराओं, विवेचन–पद्धतियों, तर्क एवं शब्द प्रणालियों से ऊबा एवं थका मानव विश्रान्ति एवं सान्त्वना का अनुभव करता है । इसकी साहित्यिक एवं कलात्मक अभिव्यक्तियाँ इतनी महान् एवं सर्जनशील हैं कि उसका किसी भाषा में आना उसके विचारात्मक पक्ष को पुष्ट करता है । इसने चीन, कोरिया और जापाना की भूमि को अपने ज्ञान और उदार चर्याओं द्वारा सींचा है तथा इन देशों के सांस्कृतिक अभ्युत्थान में अपूर्व योगदान किया है ।

शान्तरक्षित– आचार्य शान्तरक्षित सुप्रसिद्ध स्वातन्त्रिक माध्यमिक आचार्य हैं । उन्होंने 'योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक' दर्शनप्रस्थान की स्थापना की । उनका एक मात्र ग्रन्थ 'तत्त्वसंग्रह' संस्कृत में उपलब्ध है । उन्होंने 'मध्यमकालङ्कार कारिका' नामक माध्यमिक ग्रन्थ एवं उस पर स्ववृत्ति की भी रचना की है । इन्हीं में उन्होंने अपने विशिष्ट माध्यमिक दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है । किन्तु ये ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध नहीं हैं ।

आचार्य कमलशील और आचार्य हरिभद्र इनके प्रमुख शिष्य हैं । आचार्य हरिभद्र विरचित अभिसमयालङ्कार की टीका 'आलोक' संस्कृत में उपलब्ध है । यह अत्यन्त विस्तृत टीका है, जो अभिसमयालङ्कार के साथ

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता की भी टीका है । उन्होंने अभिसमयालङ्कार की स्फुटार्था टीका भी लिखी है, जो अत्यन्त प्रामाणिक मानी जाती है । तिब्बत में अभिसमय के अध्ययन के प्रसंग में उसी का पठन–पाठन प्रचलित है । उसका भोटभाषा से संस्कृत में रूपान्तरण हो गया है और वह केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ से प्रकाशित है ।

आचार्य शान्तरक्षित वङ्गभूमि (आधुनिक बंगलादेश) के ढाका मण्डल के अन्तर्गत विक्रमपुरा अनुमण्डल के 'जहोर' नामक स्थान में क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए थे । ये नालन्दा महाविद्या विहार के आचार्य पद पर आसीन थे । जीवन के अन्तिम काल में ये वहाँ के राजा के निमन्त्रण पर तिब्बत गये और उन्होंने बौद्ध धर्म की स्थापना की । अस्सी से अधिक वर्षों तक ये जीवित रहे और तिब्बत में ही उनका देहावसान हुआ । आठवीं शताब्दी प्रायः इनका काल माना जाता है ।

आचार्य शान्तरक्षित ने अपनी रचनाओं में बाह्यार्थों की सत्ता मानने वाले भावविवेक का खण्डन किया और व्यवहार में विज्ञप्तिमात्रता की स्थापना की है । उनकी राय में आर्य नागार्जुन का यही वास्तविक अभिप्राय है ।

यद्यपि आचार्य शान्तरक्षित बाह्यार्थ नहीं मानते, फिर भी बाह्यार्थशून्यता उनके मतानुसार परमार्थ सत्य नहीं है, जैसे कि विज्ञानवादी उसे परमार्थ सत्य मानते हैं, अपि तु वह संवृति सत्य या व्यवहार सत्य है । भावविवेक की भाँति वे भी 'परमार्थतः निःस्वभावता' को परमार्थ सत्य मानते हैं । व्यवहार में वे साकार विज्ञानवादी हैं । विज्ञानवाद का शान्तरक्षित पर अत्यधिक प्रभाव है । वे चन्द्रकीर्ति की निःस्वभावता को परमार्थ सत्य नहीं मानते । भावविवेक की भाँति वे स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग भी स्वीकार करते हैं । वे आलयविज्ञान को नहीं मानते । स्वसंवेदन का प्रतिपादन उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है, अतः वे स्वसंवेदन स्वीकार करते हैं ।

कृतियाँ– आचार्य शान्तरक्षित भारतीय दर्शनों के प्रकाण्डपण्डित थे । यह उनके 'तत्त्वसंग्रह' नामक ग्रन्थ से स्पष्ट होता है । इस ग्रन्थ में उन्होंने प्रायः बौद्धेतर भारतीय दर्शनों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर बौद्ध दृष्टि से उनका खण्डन किया है । इस ग्रन्थ के अनुशीलन से भारतीय दर्शनों के ऐसे–ऐसे पक्ष,

प्रकाशित होते हैं, जो इस समय प्रायः अपरिचित से हो गये हैं । वस्तुतः यह ग्रन्थ भारतीय दर्शनों का महाकोश है । इनकी अन्य रचनाओं में मध्यमका–लङ्कारकारिका एवं उसकी स्ववृत्ति है । इसके माध्यम से उन्होंने योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक शाखा का प्रवर्तन किया है । वे व्यावहारिक साधक और प्रसिद्ध तान्त्रिक भी थे । तत्त्वसिद्धि, वादन्याय की विपञ्चितार्था वृत्ति एवं हेतुचक्रडमरू भी उनके ग्रन्थ माने जाते हैं ।

कमलशील– आचार्य कमलशील आचार्य शान्तरक्षित के प्रमुख शिष्यों में अन्यतम थे । यद्यपि आचार्य के जन्म आदि के बारे में किसी निश्चित तिथि पर विद्वान् एकमत नहीं है, फिर भी भोट देश के नरेश ठिसोङ् देउचन (७४२–७९८) के शासनकाल में ७९२ ईसवीय वर्ष के आसपास तिब्बत पहुँचे थे । आचार्य नालन्दा के अग्रणी विद्वानों में से एक थे । उनकी विद्वत्ता का प्रमाण उनकी गम्भीर एवं विशाल कृतियाँ हैं ।

भोट देश में उनका पहुँचना तब होता है, जब समस्त भोट जनता चीनी भिक्षु ह्वशङ्ग के कुदर्शन से प्रभावित होकर दिग्भ्रमित हो रही थी और भारतीय बौद्ध धर्म के विलोप का खतरा उपस्थित हो गया था । मन की विचारहीनता की अवस्था को ह्वशङ्ग बुद्धत्व–प्राप्ति का उपाय बता रहे थे । उस समय शान्तरक्षित की मृत्यु हो चुकी थी और आचार्य पद्मसम्भव तिब्बत से अन्यत्र जा चुके थे । यद्यपि राजा ठिसोङ् देउचन भारतीय बौद्ध धर्म के पक्षपाती थे, किन्तु ह्वशङ्ग के नवीन अनुयायियों को समझा पाने में असमर्थ थे । तब आचार्य शान्तरक्षित के तिब्बती शिष्य ने उन्हें आचार्य शान्तरक्षित की भविष्यवाणी का स्मरण कराया, जिसमें कहा गया था कि जब तिब्बत में बौद्ध धर्म के अनुयायियों में आन्तरिक विवाद उत्पन्न होगा, उस समय आचार्य कमलशील को आमन्त्रित करके उनसे शास्त्रार्थ करवाना ।

तदनुसार राजा के द्वारा आचार्य कमलशील को तिब्बत बुलाया गया और वे वहाँ पहुँचे । उन्होंने चीनी भिक्षु ह्वशङ्ग को शास्त्रार्थ में पराजित किया और भारतीय बुद्धशासन की वहाँ पुनः प्रतिष्ठा की । भोट नरेश ने आचार्य कमलशील का सम्मान किया और उन्हें आध्यात्मिक विद्या के विभाग का प्रधान घोषित किया तथा चीनी भिक्षु ह्वशङ्ग को देश से निकाल दिया । इस तरह आचार्य ने वहाँ आर्य नागार्जुन के सिद्धान्त एवं सर्वास्तिवादी विनय की रक्षा की ।

कृतियाँ– उनकी प्रमुख कृतियाँ निम्नलिखित हैं, जिन्हें भोटदेशीय तन–ग्युर संग्रह के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है :

(१) आर्य सप्तशतिका प्रज्ञापारमिता टीका,
(२) आर्य वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता टीका,
(३) मध्यमकालङ्कारपञ्जिका,
(४) मध्यमकालोक,
(५) तत्त्वालोक प्रकरण,
(६) सर्वधर्मनिःस्वभावतासिद्धि,
(७) बोधिचित्तभावना,
(८) भावनाक्रम,
(९) भावनायोगावतार
(१०) आर्य अविकल्पप्रवेशधारणी–टीका,
(११) आर्यशालिस्तम्ब–टीका
(१२) श्रद्धोत्पादप्रदीप
(१३) न्यायबिन्दु पूर्वपक्षसंक्षेप
(१४) तत्त्वसंग्रहपञ्जिका
(१५) श्रमणपञ्चाशत्कारिकापदाभिस्मरण
(१६) ब्राह्मणीदक्षिणाम्बायै अष्टदुःखविशेषनिर्देश
(१७) प्रणिधानद्वयविधा ।

आचार्य पद्मसंभव– भारत के पश्चिम में ओड्डियान नामक एक स्थान है । इन्द्रभूति नामक राजा वहाँ राज्य करते थे । अनेक रानियों के होने पर भी उनके कोई सन्तान न थी । उन्होंने महादान किया । याचकों की इच्छाएँ पूर्ण करने के लिए स्वर्णद्वीप में स्थित नागकन्या से चिन्तामणि रत्न प्राप्त करने के लिए उन्होंने महासमुद्र की यात्रा की । लौटते समय उन्होंने एक द्वीप में कमल के भीतर स्थित लगभग अष्टवर्षीय एक बालक को देखा । उसे वे अपने साथ ले आए और उसका उन्होंने राज्याभिषेक किया । राजपुत्र का नाम सरोरुहवज्र रखा गया । राज्य के प्रति अरुचि के कारण उन्होंने त्रिशूल और खट्वाङ्ग लेकर, अस्थियों की माला धार कर नंगे वदन होकर व्रताचरण आरम्भ कर दिया । नृत्य करते समय उनके खट्वाङ्ग से एक मन्त्री के पुत्र की मृत्यु हो

गई । दण्डस्वरूप उन्हें वहाँ से निष्कासित कर दिया गया । वे ओड्डियान के दक्षिण में स्थित शीतवन नामक श्मशान में रहने लगे । वहाँ रहते हुए उन्होंने मन्त्रचर्या के बल से कर्म–डाकिनियों को अपने वश में कर लिया और लोगों ने उन्हें 'शान्तरक्षित' नाम दिया ।

वहाँ से वे जहोर प्रदेश के आनन्दवन नामक श्मशान में गए और विशिष्ट चर्या के कारण डाकिनी मारजिता द्वारा अभिषेक के साथ अधिष्ठित किये गए । तदनन्तर वहाँ से वे पुनः उस द्वीप में गये, जहाँ वे पद्म में उत्पन्न हुए थे । वहाँ उन्होंने डाकिनी के संकेतानुसार गुह्यतन्त्र की साधना की और वज्रवाराही का दर्शन किया । वहीं पर उन्होंने समुद्रीय डाकिनियों को वश में किया और आकाशीय ग्रहों पर अधिकार प्राप्त किया । डाकिनियों ने इनका नाम 'रौद्रवज्रविक्रम' रखा ।

एक बार उनके मन में भारतीय आचार्यों से बौद्ध एवं बौद्धेतर शास्त्रों के अध्ययन की इच्छा उत्पन्न हुई । तदनुसार जहोर प्रदेश के भिक्षु शाक्यमुनि के साथ आचार्य प्रहति के पास पहुँचे । वहाँ उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की और उनका नाम 'शाक्यसिंह' रखा गया ।

तदन्तर वे मलय पर्वत पर निवास करनेवाले आचार्य मञ्जुश्रीमित्र के पास गए । उन्होंने उन्हें भिक्षुणी आनन्दी के पास भेजा । भिक्षुणी आनन्दी ने उन्हें अनेक अभिषेक प्रदान किये । इनके सानिध्य में उन्हें आयुर्विद्या एवं महामुद्रा में अधिकार प्राप्त हुआ । तदनन्तर अन्य आचार्यों से उन्होंने वज्रकीलविधि, पद्मवाग्विधि, शान्त–क्रोध माया धर्म एवं उग्र मन्त्रों का श्रवण किया ।

तदनन्तर वे जहोर प्रदेश गये और वहाँ की राजकुमारी को वश में करके पोतलक पर्वत पर चले गए । उस पर्वत की गुफा में उन्होंने अपरिमितायु मण्डल का प्रत्यक्ष दर्शन करके आयुःसाधना की और तीन माह की साधना के अनन्तर वैरोचन अमितायु बुद्ध का साक्षात् दर्शन किया । इसके बाद वे जहोर और ओड्डियान गए और वहाँ के लोगों को सद्धर्म में प्रतिष्ठित किया । उन्होंने अनेक तैर्थिकों को शास्त्रार्थ में परास्त किया तथा नेपाल जाकर महामुद्रा की सिद्धि की ।

तिब्बत में बौद्धधर्म की स्थापना– भोट देश में बौद्ध धर्म को प्रतिष्ठित करने में आचार्य पद्मसंभव की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है । यद्यपि भारतीय आचार्य शान्तरक्षित ने तत्कालीन भोट–सम्राट् ठिसोङ् देचन की सहायता से भोट देश में बौद्ध धर्म का प्रचार किया, किन्तु पद्मसंभव की सहायता के बिना वे उसमें सफल नहीं हो सके । उनकी ऋद्धि के बल से राक्षस, पिशाच आदि दुष्ट शक्तियाँ तिब्बत छोड़कर चामर द्वीप चली गईं ।

तिब्बत में उनकी शिष्य परम्परा आज भी कायम है, जो समस्त हिमालयी क्षेत्र में भी फैले हुए हैं । पद्मसंभव का बीज मन्त्र 'ओं आः हूँ वज्रगुरु पद्म सिद्धि हूँ' का जप करने में बौद्ध धर्मावलम्बी अपना कल्याण समझते हैं । आर्य अवलोकितेश्वर के बीज मन्त्र 'ओं मणि पद्मे हूँ' के बाद इसी मन्त्र का जप तिब्बत में सर्वाधिक होता है । प्रत्येक दशमी के दिन गुरु पद्मसंभव की विशेष पूजा बौद्ध धर्म के अनेक सम्प्रदायों में आयोजित की जाती है, जिसके पीछे यह मान्यता निहित है कि दशमी के दिन गुरु पद्मसंभव साक्षात् दर्शन देते हैं ।

ज्ञात है कि आचार्य शान्तरक्षित ने ल्हासा में 'समयस्' नामक विहार बनाना प्रारम्भ किया, किन्तु दुष्ट शक्तियों ने उसमें पुनः–पुनः विघ्न उपस्थित किया । जो भी निर्माण कार्य दिन में होता था, उसे रात्रि में ध्वस्त कर दिया जाता था । अन्त में आचार्य शान्तरक्षित ने राजा से भारत से आचार्य पद्मसंभव को बुलाने के लिए कहा । राजा ने दूत भेजकर आचार्य को तिब्बत आने के लिए निमन्त्रित किया । आचार्य पद्मसंभव महान् तान्त्रिक थे । तिब्बत आकर उन्होंने अमानुषी दुष्ट शक्तियों का निग्रह किया और कार्य–योग्य वातावरण का निर्माण किया । फलतः उस महान् 'समयस्' विहार का निर्माण संभव हो सका, जहाँ से चारों दिशाओं में धर्म का प्रकाश फैला । उन्होंने तिब्बत में अनेक विनेयजनों को धर्ममार्ग पर आरूढ किया तथा प्रत्येक मास की दशमी तिथियों में प्रत्यक्ष दर्शन देने का वचन दिया । क्रूर लोगों को विनीत करने के लिए वे यावत्–संसार लोक में स्थित रहेंगे– ऐसी बौद्ध श्रद्धालुओं की मान्यता है ।

शान्तिदेव– माध्यमिक आचार्यों में आचार्य शान्तिदेव का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इनकी रचनाएं अत्यन्त प्राञ्जल एवं भावप्रवण हैं, जो पाठक के हृदय का स्पर्श करती हैं और उसे प्रभावित करती हैं । माध्यमिक दर्शन और महायान धर्म के प्रसार में इनका अपूर्व योगदान है ।

दार्शनिक मान्यता– माध्यमिको में भी सैद्धान्तिक दृष्टि से स्वातन्त्रिक एवं प्रासङ्गिक भेद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । स्वातन्त्रिक माध्यमिकों में भी सूत्राचार स्वातन्त्रिक और योगाचार स्वातन्त्रिक ये दो भेद हैं । आचार्य शान्तिदेव प्रासङ्गिक मत के प्रबल समर्थक हैं । विचारों और तर्कों में ये आचार्य चन्द्रकीर्ति का पूर्णतया अनुगमन करते हैं । उनकी रचनाओं में बोधिचर्यावतार प्रमुख है । इसमें दस परिच्छेद हैं । नौवें प्रज्ञापरिच्छेद में इनकी दार्शनिक मान्यताएं परिस्फुट हुई हैं । इस परिच्छेद में संवृति और परमार्थ इन दो सत्यों का इन्होंने सुस्पष्ट निरूपण किया है । इस निरूपण में इनका चन्द्रकीर्ति से कुछ भी अन्तर प्रतीत नहीं होता ।

मूल सैद्धान्तिक आधार पर ही माध्यमिकों के दो वर्ग हैं । प्रथम वर्ग में वे माध्यमिक दार्शनिक आते हैं, जो पदार्थों की स्वलक्षणसत्ता स्वीकार करते हैं और परमार्थतः उनकी निःस्वलक्षणता या निःस्वभावता मानते हैं, जिसे वे 'शून्यता' कहते हैं । दूसरे वर्ग में वे दार्शनिक परिगणित होते हैं, जो स्वलक्षणसत्ता कथमपि स्वीकार नहीं करते और उस निःस्वलक्षणता को ही 'शून्यता' कहते हैं । इनमें प्रथम वर्ग के माध्यमिक दार्शनिक स्वातन्त्रिक तथा दूसरे वर्ग के माध्यमिक प्रासङ्गिक कहलाते हैं । इन दोनों की मान्यताओं में यह आधारभूत अन्तर है, जिसकी ओर जिज्ञासुओं का ध्यान जाना चाहिए, अन्यथा माध्यमिक दर्शन का निगूढ अर्थ परिज्ञात नहीं होगा । व्यवहार में किसी धर्म का अस्तित्व या उसकी सत्ता को स्वीकार करना या न करना मूलभूत अन्तर नहीं है, अपि तु उस निषेध्य के स्वरूप में जो मूलभूत अन्तर है, वह महत्त्वपूर्ण है, जिस (निषेध्य) का निषेध शून्यता कहलाती है तथा जिसके निषेध से सारी व्यवस्थाएं सम्पन्न होती हैं । वस्तुतः स्वतन्त्र अनुमान या स्वतन्त्र हेतुओं का प्रयोग या अप्रयोग भी इसी निषेध्य पर आश्रित है । शून्यता के सम्यक् परिज्ञान के लिए उसके निषेध्य को सर्वप्रथम जानना परमावश्यक है, अन्यथा उस (शून्यता) का अभ्रान्त ज्ञान असम्भव है । बिना निषेध्य को ठीक से जाने शून्यता का विचार निरर्थक होगा और ऐसी स्थिति में शून्यता का अर्थ अत्यन्त तुच्छता या नितान्त अलीकता के अर्थ में ग्रहण करने की सम्भावना बन जाती है । इसलिए आचार्य नागार्जुन ने भी आगाह किया है ।

विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम् ।
सर्पो यथा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता ॥
(मूलमाध्यमिककारिका २४:११)

जब स्वभावसत्ता या स्वलक्षणसत्ता का निषेध किया जाता है तो उसका यह अर्थ कतई नहीं होता कि स्वलक्षण सत्ता कहीं हो और सामने स्थित किसी धर्म में, यथा–घट या पट में उसका निषेध किया जाता हो । अथवा शश (खरगोश) कहीं हो और शृङ्ग (सींग) भी कहीं हो, किन्तु उन दोनों की किसी एक स्थान में विद्यमानता का निषेध किया जाता हो, अपि तु सभी धर्मों अर्थात् वस्तुमात्र में स्वलक्षणसत्ता का निषेध किया जाता है । कहने का आशय यह है कि घट स्वयं (स्वतः) या पट स्वयं स्वलक्षणसत्तावान् नहीं है । इसी तरह कोई भी धर्म स्वभावतः सत् या स्वतः सत् नहीं है । इसका यह भी अर्थ नहीं है कि वस्तु किसी भी रूप में नहीं है । स्वभावतः सत् नहीं होने पर भी वस्तु का अपलाप नहीं किया जाता, अपितु इसका सापेक्ष या निःस्वभाव अस्तित्व स्वीकार किया जाता है और उसी के आधार पर कार्य–कारण, बन्ध–मोक्ष आदि सारी व्यवस्थाएं सुचारुतया सम्पन्न होती हैं । यद्यपि सभी धर्म स्वलक्षणतः या स्वभावतः सत् नहीं हैं, फिर भी वे अविद्या के कारण स्वभावतः सत् के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं और स्वभावतः सत् के रूप में उनके प्रति अभिनिवेश भी होता है । धर्म जैसे प्रतीत होते हैं, वस्तुतः उनका वैसा अस्तित्व नहीं होता । उनके यथादर्शन या प्रतीति के अनुरूप अस्तित्व में तार्थिक बाधाएं हैं, अतः अविद्या के विषय को बाधित करना ही निषेध का तात्पर्य है ।

इस तरह निःस्वभावता के आधार पर आचार्य शान्तिदेव ने जन्म–मरण, पाप–पुण्य, पूर्वापर जन्म आदि की व्यावहारिक सत्ता का प्रतिपादन किया है । इसी तरह अत्यन्त सरल एवं प्रसाद गुणयुक्त भाषा में उन्होंने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के बिना स्मरण की उपपत्ति, व्यवहतार्थ का अन्वेषण करने पर उसकी अनुपलब्धि तथा अविचारित रमणीय लोकप्रसिद्धि के आधार पर सारी व्यवस्थाओं का सुन्दर निरूपण किया है । व्यावहारिक सत्ता पर उनका सर्वाधिक जोर इसलिए भी है कि जागतिक व्यवस्थाएं सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकें ।

जीवनपरिचय– आचार्य शान्तिदेव सातवीं शताब्दी के माने जाते हैं । ये सौराष्ट्र के निवासी थे । बुस्तोन के अनुसार ये वहाँ के राजा कल्याणवर्मा के

पुत्र थे। इनके बचपन का नाम शान्ति वर्मा था। यद्यपि वे युवराज थे, किन्तु भगवती तारा की प्रेरणा से उन्होंने राज्य का परित्याग कर दिया। कहा जाता है कि स्वयं बोधिसत्त्व मञ्जुश्री ने योगी के रूप में उन्हें दीक्षा दी थी और वे भिक्षु बन गए।

रचनाएँ– प्रसिद्ध इतिहासकार लामा तारानाथ के अनुसार उनकी तीन रचनाएं प्रसिद्ध हैं, यथा– बोधिचर्यावतार, शिक्षासमुच्चय एवं सूत्रसमुच्चय। बोधिचर्यावतार सम्भवतः उनकी अन्तिम रचना है, क्योंकि अन्य दो ग्रन्थों का उल्लेख स्वयं उन्होंने बोधिचर्यावतार में किया है।

सर्वप्रथम बोधिचर्यावतार का प्रकाशन रूसी विद्वान् आई० पी० मिनायेव ने किया। तदनन्तर म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसाइटी के जनरल में इसे प्रकाशित किया। फ्रेंच अनुवाद के साथ प्रज्ञाकर मति की टीका 'ला वली पूँसें' ने बिब्लि ओथिका इण्डिका में सन् १९०२ में प्रकाशित की। नांजियो के कैटलाग में बोधिचर्यावतार की एक भिन्न व्याख्या है, उसमें तीन तालपत्र उपलब्ध हुए, जिनमें शान्तिदेव का जीवन चरित दिया हुआ है। इसके अनुसार शान्तिदेव किसी राजा के पुत्र थे। राजा का नाम मञ्जुवर्मा लिखा हुआ है, किन्तु तारानाथ के अनुसार वे सौराष्ट्र के राजा के पुत्र थे। भोट भाषा में बोधिचर्यावतार का प्राञ्जल एवं हृदयावर्जक अनुवाद है।

आचार्य शान्तिदेव पारमितायान के साथ–साथ मन्त्रनय के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। इतना ही नहीं, वे महान् साधक भी थे। चौरासी सिद्धों में इनकी गणना की जाती है। तन्त्रशास्त्र पर इनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। हमेशा सोते एवं खाते रहने के कारण इनका नाम 'भुसुकु' पड़ गया था। वस्तुतः 'भुसुकु' नामक समाधि में सर्वदा समापन्न रहने के कारण ये 'भुसुकु' कहलाते थे। संस्कृत में इनके 'श्री गुह्यसमाजमहायोगतन्त्र–बलिविधि' नामक तन्त्रग्रन्थ की सूचना है। चर्याचर्यविनिश्चय से ज्ञात होता है कि भुसुकु ने वज्रयान के कई ग्रन्थ लिखे। बंगाली या अपभ्रंश में इनके कई गान भी पाए जाते हैं। ये गीत बौद्ध धर्म के सहजिया सम्प्रदाय में प्रचलित हैं।

शान्त, मौन एवं विनोदी स्वभाव के कारण लोग उनकी विद्वत्ता से कम परिचित थे। नालन्दा की स्थानीय परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष में प्रतिवर्ष धर्मचर्चा का आयोजन होता था। नालन्दा के अध्येता युवकों ने

एक बार उनके ज्ञान की परीक्षा करने का कार्यक्रम बनाया। उनका ख्याल था कि आचार्य शान्तिदेव कुछ भी बोल नहीं पाएंगे और अच्छा मजा आएगा। वे आचार्य के पास गए और धर्मासन पर बैठकर धर्मोपदेश करने का उनसे आग्रह किया। आचार्य ने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। नालन्दा महाविहार के उत्तर–पूर्व में एक धर्मागार था। उसमें पण्डित एकत्र हुए और शान्तिदेव एक ऊँचे सिंहासन पर बैठाए गए। उन्होंने तत्काल पूछा–"मैं आर्ष (भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट) का पाठ करूँ या अर्थार्ष (आचार्यों द्वारा व्याख्यायित) का पाठ करूँ ? पण्डित लोग आश्चर्यचकित हुए और उन्होंने अर्थार्ष का पाठ सुनाने को कहा। उन्होंने (शान्तिदेव ने) सोचा कि स्वरचित तीन ग्रन्थों में से किसका पाठ करूँ ? अन्त में उन्होंने बोधिचर्यावतार को पसन्द किया और पढ़ने लगे।

> सुगतान् ससुतान् सधर्मकायान्
> प्रणिपत्यादरतोऽखिलांश्च वन्द्यान्
>
> (बोधिचिर्यावतार १:१)

यहाँ से लेकर

> यदा न भावो नाभावो मतेः सन्तिष्ठते पुरः।
> तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति॥
>
> (बोधिचिर्यावतार ९:३५)

तक पहुँचे तब भगवान् सम्मुख प्रादुर्भूत हुए और शान्तिदेव को अपने लोक में ले गए। यह वर्णन उपर्युक्त तीन तालपत्रों से प्राप्त होता है। पण्डित लोग आश्चर्यचकित हुए। तदनन्तर उनकी पढु–कुटी ढंढी गई, जिसमें उन्हें उनके तीनों ग्रन्थ प्राप्त हुए।

दीपङ्कर श्रीज्ञान– अद्वितीय महान् आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान आर्यदेश के सभी निकायों तथा सभी यानों के प्रामाणिक विद्वान् एवं सिद्ध पुरुष थे। तिब्बत में विशुद्ध बौद्ध धर्म के विकास में उनका अपूर्व योगदान है। भोट देश में 'लङ् दरमा' के शासन काल में बौद्ध धर्म जब अत्यन्त अवनत परिस्थिति में पहुँच गया था, तब 'ङारीस' के 'ल्हा लामा खुबोन्' द्वारा प्राणों की परवाह किये बिना अनेक कष्टों के बावजूद उन्हें तिब्बत में आमन्त्रित किया गया। 'ङारीस' तथा 'वुइस् चङ्' प्रदेश के अनेक क्षेत्रों में निवास करते हुए उन्होंने बुद्धशासन

का अभूतपूर्व शुद्धीकरण किया। सूत्र तथा तन्त्र की समस्त धर्मविधि का एक पुद्गल के जीवन में कैसे युगपद् अनुष्ठान किया जाए– इसके स्वरूप को स्पष्ट करके उन्होंने हिमवत्–प्रदेश में विमल बुद्धशासनरत्न को पुनः सूर्यवत् प्रकाशित किया, जिनकी उपकारराशि महामहोपाध्याय बोधिसत्त्व आचार्य शान्तरक्षित के समान ही है।

जीवन परिचय– वर्तमान बंगला देश, जिसे 'जहोर' या 'सहोर' कहते हैं, प्राचीन समय में यह एक समृद्ध राष्ट्र था। यहाँ के राजा कल्याणश्री या शुभपाल थे। इनके अधिकारक्षेत्र में बहुत बड़ा भूभाग था। इनका महल स्वर्णध्वज कहलाता था। उनकी रानी श्रीप्रभावती थी। इन दोनों की तीन सन्तानें थीं। बड़े राजकुमार 'पद्मगर्भ', मझले राजकुमार 'चन्द्रगर्भ' तथा सबसे छोटे 'श्रीगर्भ' कहलाते थे। आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान मध्य के राजकुमार 'चन्द्रगर्भ' हैं, जिनका ईसवीय वर्ष ९८२ में जन्म हुआ था।

बोधगया स्थित मतिविहार के महासांघिक सम्प्रदाय के महास्थविर शीलरक्षित से २९ वर्ष की आयु में इन्होंने प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा ग्रहण की। ३१ वर्ष तक पहुँचते–पहुँचते इन्होंने लगभग चारों सम्प्रदायों के पिटकों का श्रवण एवं मनन कर लिया। साथ ही, विनय के विधानों में भी पारङ्गत हो गए। अपनी अद्वितीय विद्वत्ता के कारण वे अत्यन्त प्रसिद्ध हो गए और अनेक जिज्ञासु जन धर्म, दर्शन एवं विनय से सम्बद्ध प्रश्नों के समाधान के लिए उनके पास आने लगे।

तिब्बत में उनके अनेक शिष्य थे, किन्तु उनमें 'डोम' प्रमुख थे। अपने जीवन के अन्तिम समय में उन्होंने डोम से कहा कि अब बुद्ध शासन का भार तुम्हारे हाथों में सौपना चाहता हूँ। यह सुनकर डोम को आभास हो गया कि अब आचार्य बहुत दिन जीवित नहीं रहेंगे। उन्होंने आचार्य की बात भारी मन से मान ली। इस तरह अपना कार्यभार एक सुयोग्य शिष्य को सौंप कर वे महान् गुरु दीपङ्कर श्रीज्ञान १०५४ ईसवीय वर्ष में शरीर को त्याग कर तुषित लोक में चले गये।

रचनाएँ– तिब्बती क–ग्युर एवं तन–ग्युर के अवलोकन से आचार्य दीपङ्कर विरचित ग्रन्थों की सूची बहुत बड़ी है। लगभग १०३ ग्रन्थ उनसे सम्बद्ध हैं। संस्कृत में उनका एक भी ग्रन्थ उपलब्ध न था। किन्तु इधर केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ से भोट भाषा से संस्कृत में पुनरुद्धार कर कुछ ग्रन्थ प्रकाशित किये गये हैं। उनमें बोधिपथप्रदीप, एकादश लघुग्रन्थों का एक संग्रह तथा उनके पाँच लघुग्रन्थों का एक संग्रह उल्लेखनीय है। साथ ही त्रिस्कन्धसूत्रटीका के अन्तर्गत दीपङ्कर का कर्मावरणविशोधनभाष्य भी प्रकाश्यमान है।

आचार्य नागार्जुन की कृतियाँ

स्तुतिवर्ग

१. धर्मधातुस्तव
२. निरुपमस्तव
३. लोकातीतस्तव
४. चित्तवज्रस्तव
५. परमार्थस्तव
६. कायत्रयस्तोत्र
७. कायत्रयस्तोत्रविवरण
८. सत्त्वाराधनस्तव
९. प्रज्ञापारमितास्तव
१०. अचिन्त्यस्तव
११. अतिस्तवस्तव
१२. निरुत्तरस्तव
१३. आर्यभट्टारकमञ्जुश्रीपरमार्थस्तुति
१४. आर्यमञ्जुश्रीकरुणास्तोत्र
१५. अष्टमहास्थानचैत्यस्तोत्र (क)
१६. अष्टमहास्थानचैत्यस्तोत्र (ख)
१७. द्वादशकार्यस्तोत्र
१८. वन्दनास्तोत्र
१९. नरकोद्धारकस्तोत्र

तन्त्रवर्ग

२०. समाधिभाष्य टीका
२१. कक्ष्यपद
२२. सामान्य तारासाधन विधि
२३. तारासाधन
२४. संक्षिप्ततारासाधनाविधि
२५. सप्रज्ञ श्रीमहाकालसाधना
२६. श्री महाकालसाधना
२७. श्री महाकालाष्टमन्त्रस्तोत्र
२८. श्री महाकालाष्टमन्त्रस्तोत्र
२९. श्री गुह्यसमाजतन्त्रस्य तन्त्रटीका
३०. अष्टादशपटलविस्ताख्याख्या
३१. पिण्डीकृतसाधना
३२. स्वभावासिद्धिर्नामोपदेशः
३३. अभिषेकक्रमनिर्देश
३४. स्थूलपतित
३५. पापसप्ताङ्ग
३६. वज्रयानस्थूलपतित
३७. अष्टपतित
३८. आर्यनीलाम्बरवज्रपाणि–
कल्पविधि नाम धारणीटीका
३९. मञ्जुश्रीवज्रप्रज्ञावर्धन
४०. आर्यावलोकितेश्वरसहस्रभुजसाधन
४१. आर्यावलोकितेश्वरषडक्षरसाधन
४२. लोकेश्वरसाधन
४३. प्रायश्चितामृत

४४. श्री गुह्यसमाजमहायोग–
तन्त्रोत्पत्तिक्रमसाधनासूत्रमेलापक
४५. श्री गुह्यसमाजमण्डलविधि
४६. अभिषेकचतुः प्रकरण
४७. बोधिचित्तविवरण (क)
४८. बोधिचित्तविवरण (ख)
४९. पञ्चक्रम
५०. वज्रपाण्यष्टाङ्गमार्ग
५१. पञ्चचण्डवज्रक्रोधदेवमण्डलविधि
५२. तत्त्वप्रदीप नाम वज्रपाणि–
सर्वसाधनपूर्णलङ्कार
५३. आर्यवज्रपाणिनीलाम्बरधर–
मण्डलविधि
५४. मन्त्रालङ्कारसाधन
५५. प्रतिष्ठालङ्कार
५६. भवसङ्कर
५७. नागार्जुनगान
५८. वज्रपवित्र नाम कर्मसमूह
५९. सप्ताङ्गसाधन
६०. नीलाम्बरधारोपसिद्धि
६१. एकवीरसाधनाभाष्य
६२. महाविद्याप्रत्यनुगामिनी–
चक्रचित्तशोधन
६३. मुक्तकेन तारोद्भवकुरुकुल्लीसाधन
६४. कल्पोक्त कुरुकुल्लीसाधन
६५. वज्रतारासाधन (क)
६६. ,, ,, (ख)
६७. ,, ,, (ग)
६८. नागेश्वरराजसाधन
६९. खदिरवनतारासाधन
७०. निष्कामप्रदीप
७१. नानातन्त्रोद्धृत बलिविधि

सूत्रवर्ग

७२. प्रज्ञा नाम मूलमाध्यमिक–
कारिका
७३. युक्तिषष्टिका
७४. वैदल्यसूत्र
७५. शून्यतासप्तति
७६. विग्रहव्यावर्तनी.
७७. अकुतोभया मूलमाध्यमिक–
कारिका टीका
७८. वैदल्यप्रकरण
७९. शून्यतासप्ततिवृत्ति
८०. अबुद्धबोधक प्रकरण
८१. असूतरत्नकोश
८२. भवसङ्क्रान्ति
८३. स्वभावत्रयप्रवेशसाधन
८४. भावनाक्रम
८५. सूत्रसमुच्चय
८६. बोधिचित्तोत्पादविधि
८७. आर्यशालिस्तम्बकारिका

८८. विग्रहव्यावर्तनीवृत्ति
८९. महायानविंशिका
९०. अक्षरशतकम्
९१. अक्षरशतिका वृत्ति
९२. प्रतीत्यसमुत्पादहृदयकारिका
९३. प्रतीत्यसमुत्पादहृदयव्याख्यान
९४. आर्यशालिस्तम्बमहायानसूत्रटीका
९५. बोधिपतितदेशनावृत्ति
९६. आर्यभद्रचर्या प्रणिधानराजनिबन्धन
९७. आर्यधर्मधातुगर्भविवरण
९८. आर्यमूलसर्वास्तिवादि–श्रामणेरकारिका
९९. दश दीक्षाविधि

वार्तावर्ग

१००. राजपरिकथा रत्नावली
१०१. स्वप्नचिन्तामणिपरिकथा
१०२. दानपरिकथा
१०३. भवसङ्क्रान्तिपरिकथा
१०४. सुहृल्लेख

नानावर्ग

१०५. योगशतक
१०६. जीवसूत्र
१०७. अवौषधविधि
१०८. धूपसंयोजनौषधविधि
१०९. धूपसंयोजनाविधि
११०. प्रज्ञाशतिक प्रकरण
१११. प्रज्ञादण्ड नीतिशास्त्र
११२. पुरुषव्यसुजन्तु बिन्दु
११३. गुह्यगाम्भीर्य
११४. वज्रप्रणिधान
११५. बोधिसम्भवप्रणिधान
११६. प्रणिधान
११७. रत्नावल्यां विंशतिकप्रणिधान
११८. त्रिरत्नद्वादशकार्यसंगलगाथा
११९. मङ्गलचिह्न
१२०. रत्नराजप्रणिधान
१२१. महाकारुणिकार्यतारासाधन
१२२. समयसामान्यविधि
१२३. चतुर्मुद्रानिश्चय
१२४. धर्मगाथापञ्चक
१२५. प्रज्ञापारमितासाधन
१२६. सार्धपञ्चगाथा
१२७. वज्रपवित्रकर्मसन्धार
१२८. हयग्रीवसाधन
१२९. कल्याणकामधेनु

आचार्य असङ्ग की कृतियाँ

(१) धर्मकायाश्रयासामान्यगुणस्तोत्र
(२) प्रज्ञापारमितासाधन
(३) आर्यमैत्रेयसाधन
(४) आर्यसन्धिनिर्मोचनभाष्य
(५) बुद्धानुस्मृतिवृत्ति
(६) धर्मानुस्मृतिवृत्ति
(७) संघानुस्मृतिवृत्ति
(८) महायानोत्तरतन्त्रशास्त्रव्याख्या
(९) योगाचारभूमिशास्त्र
(१०) महायानसंग्रह
(११) अभिधर्मसमुच्चय

योगाचारभूमि आठ भागों में विभक्त है।

(क) योगचर्या भूमि
(ख) श्रावकभूमि
(ग) बोधिसत्त्वभूमि
(घ) निर्णयसंग्रह
(ङ) वस्तुसंग्रह
(च) विनयसंग्रह
(छ) पर्यायसंग्रह
(ज) विवरणसंग्रह

कुछ विद्वान् उपर्युक्त प्रत्येक भाग को स्वतन्त्र ग्रन्थ भी मानते हैं। भोट भाषा में आर्य असङ्ग के बीस से अधिक ग्रन्थ पाए जाते हैं। जो भी हो, इन शास्त्रों में धार्मिक एवं दर्शनिक समस्त ज्ञेयों का सुविशद विवेचन सविस्तर उपलब्ध होता है। इनके अतिरिक्त कुछ विद्वान् असङ्ग को प्रकरण–आर्यवाचा एवं वज्रच्छेदिका की व्याख्या का रचयिता भी मानते हैं। इन शास्त्रों के अध्ययन से असङ्ग की अलौकिक विद्वत्ता एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है। वस्तुतः उनके जैसे अद्वितीय विद्वान् लोक में विरल ही होते हैं।

आचार्य वसुबन्धु की कृतियाँ

आचार्य वसुबन्धु के नाम पर अनेक ग्रन्थ वर्णित हैं । चीनी और तिब्बती सूची में ग्रन्थसंख्या और ग्रन्थनाम में भेद दिखलाई पड़ता है । अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों की भी यही स्थिति है । हम यहां तिब्बती-स्रोत के आधार पर उनकी कृतियों का निरूपण कर रहे हैं ।

(१) महायानसूत्रालङ्कारभाष्य– यह आर्य मैत्रेयनाथ विरचित महायान-सूत्रालङ्कार की टीका है ।

(२) धर्मधर्मताविभङ्गवृत्ति– यह आर्य मैत्रेयनाथ कृत धर्मधर्मताविभङ्ग की टीका है ।

(३) मध्यान्तविभङ्गटीका– यह भी मैत्रेयनाथ के माध्यान्तविभङ्ग की टीका है ।

(४) महायानसंग्रहभाष्य– यह आर्य असङ्ग के महायानसंग्रह का भाष्य है ।

(५) विंशतिका कारिका
(६) विंशतिका वृत्ति
(७) त्रिंशिका कारिका
(८) कर्मसिद्धिप्रकरण
(९) व्याख्यायुक्ति
(१०) व्याख्यायुक्तिसूत्रखण्डशतक

उपर्युक्त दोनों में व्याख्या, शास्त्रार्थ एवं रचना आदि की विधि निर्दिष्ट की गई है ।

(११) प्रतीत्यसमुत्पादटीका– इसमें प्रतीत्यसमुत्पाद सूत्र की व्याख्या करते हुए आलयविज्ञान सिद्ध किया गया है ।

(१२) पञ्चस्कन्धप्रकरण
(१३) त्रिरत्नस्तोत्र– यह रचना पद्य में है । इसमें बारह पद हैं । इसके रचयिता के वसुबन्धु होने में सन्देह है ।

(१४) आर्यषण्मुखीधारणीव्याख्या

(१५) सप्तगुणपरिवर्णना– दीर्घायुष्य, निरोगता, रूपसौन्दर्य, सौभाग्य, कुलीनता, धन एवं प्रज्ञा– इन सात गुणों के होने पर लाभ एवं न होने पर दोष दिखलाया गया है । यह पद्यबद्ध रचना है ।

(१६) सम्भारपरिकथा– इसमें पुण्यसम्भार एवं ज्ञानसम्भार की आवश्यकता, दुर्गतियों (नरक, प्रेत एवं तिर्यक) के दुःख तथा बोधिचित्तोत्पाद द्वारा द्विविध सम्भारों के अर्जन की अनिवार्यता प्रदर्शित की गई है । यह रचना भी पद्यबद्ध है ।

(१७) शीलपरिकथा– इसमें शील के गुण-दोषों का विवेचन है ।

(१८) पञ्चविधकामगुणोपलम्भनिर्देश– इसमें चौंतीस पद्य हैं । मृग, हस्ती आदि पाँच उपमाओं द्वारा पाँच कामगुणों के आदीनव का कुशलतापूर्वक प्रतिपादन किया गया है ।

(१९) बुद्धानुस्मृतिटीका– यह बुद्धानुस्मृतिसूत्र की विस्तृत टीका है ।

(२०) आर्यचतुर्धर्मकव्याख्या

(२१) आर्यगयाशीर्षसूत्रटीका– गयाशीर्ष एक सूत्र है, जिसका भगवान् बुद्ध ने आर्यमञ्जुश्री को उपदेश किया था । इसमें बोधिसत्त्वों की चर्या, संवृति और परमार्थ सत्य आदि विषयों का प्रतिपादन हुआ है । वसुबन्धु ने इस सूत्र की टीका लिखी है । स्थविर शाक्यमति ने इस सूत्र पर एक वृत्ति भी लिखी है ।

(२२) आर्यभद्रचर्याप्रणिधानटीका– भद्रचर्याप्रणिधान एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है । इसमें बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों के गुण, चरित, स्वरूप आदि प्रदर्शित हैं । उक्त ग्रन्थ इस सूत्र की एक अच्छी टीका है ।

(२३) एकगाथाभाष्य– यह एकगाथासूत्र की टीका है ।
(२४) अभिधर्मकोशकारिका

(२५) अभिधर्मकोशभाष्य

(२६) त्रिस्वभावनिर्देश– तारानाथ के अनुसार यह ग्रन्थ असङ्ग का है। किन्तु आजकल तिब्बती और संस्कृत में जो त्रिस्वभावनिर्देश मिलता है, उसकी पुष्पिका में ''कृतिरियमाचार्यवसुबन्धुपादानाम्''– यह लिखा हुआ है। इस ग्रन्थ की रचनाशैली भी असङ्ग की शैली से नहीं मिलती। हमारे विचार में यह निश्चित रूप से वसुबन्धु की ही रचना है।

(२७) सप्तगुणवर्णनाकथा– इसमें बीस पद हैं। पूर्वोक्त सप्तगुणवर्णना और इसमें विषय समान ही है, फिर भी प्रतिपादन का प्रकार भिन्न है।

(२८) गाथासंग्रहशास्त्र– इसमें गाथाओं का संग्रह है तथा उनके विषय भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात् यह भिन्नविषयक फुटकर गाथाओं का संग्रह है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने वसुबन्धु के ग्रन्थों की सूची अभिधर्मकोश की भूमिका में दी है तथा दूसरे ग्रन्थों में जो सूची उपलब्ध होती है, उनमें उपर्युक्त ग्रन्थों में से कई के नाम नहीं हैं तथा अन्य अनेक नाम नए हैं। कोई भी सूची बिलकुल मिलती नहीं है। उनके अनुसार परमार्थसप्तति, वज्रच्छेदिकासूत्रशास्त्र, सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रटीका, दशभूमकसूत्रशास्त्र आदि अन्य अनेक ग्रन्थों के रचयिता भी आचार्य वसुबन्धु हैं। हमने तिब्बती स्रोत के आधार पर आचार्य की रचनाओं का निरूपण किया है।

आचार्य दिङ्नाग की कृतियाँ

	ग्रन्थ	विषय
(१)	प्रमाणसमुच्चय	प्रमाणमीमांसा, दर्शन
(२)	प्रमाणसमुच्चयवृत्ति	"
(३)	आलम्बनपरीक्षा	तत्त्वमीमांसा
(४)	आलम्बनपरीक्षावृत्ति	"
(५)	न्यायप्रवेश (प्रमाणशास्त्र)	प्रमाणमीमांसा
(६)	न्यायमुख	"
(७)	हेतुचक्रडमरू	"
(८)	कालपरीक्षा (त्रिकालपरीक्षा)	तत्त्वमीमांसा
(९)	आर्यभद्रचर्याप्रणिधानवृत्ति	धर्म
(१०)	वादप्रकरण	प्रमाणमीमांसा
(११)	आर्यमञ्जुश्रीस्तोत्र	धर्म
(१२)	योगाचार	धर्म
(१३)	प्रज्ञापारमितापिण्डार्थ	धर्म, दर्शन
(१४)	चर्याप्रणिधानार्थ	धर्म
(१५)	अभिधर्मकोशवृत्ति (मर्मप्रदीप)	अभिधर्म
(१६)	अप्रमेयगुणस्तोत्रवृत्ति	धर्म
(१७)	समन्तभद्रप्रणिधानपिण्डार्थप्रकाश	धर्म
(१८)	गुणापर्यन्तस्तोत्रकारिका (अपारगुणस्तोत्रकारिका)	धर्म

चीनी भाषा में उपलब्ध सूची में भी ये ही ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। किन्तु उसमें इन ग्रन्थों के अलावा दो अन्य अतिरिक्त ग्रन्थ भी दिङ्नाग के नाम पर उल्लिखित हैं– १. हस्तवालप्रकरण और २. हस्तवालप्रकरणवृत्ति। भोट भाषा में जिन ग्रन्थों का अनुवाद उपलब्ध है, उसमें ये दोनों ग्रन्थ आर्यदेव की रचना माने गये हैं। प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से ये दोनों ग्रन्थ माध्यमिक मत का अनुसरण करते हैं। अतः आर्यदेव ही इनके रचयिता हैं– ऐसा निश्चित रूप से प्रतीत होता है।

सत्तां निषेध्यते येन तेनासत्ता न गृह्यते ।
कृष्णं नास्तीति कथिते श्वेतस्याकथनं यथा ।।

(प्रज्ञाप्रदीप, मूलमाध्यमिककारिकाटीका)

परिशिष्ट

निर्भासते हि यद् रूपं नैव तत् प्रतिषिध्यते ।
वेद्यमानस्य नो युक्तं कस्यचित् प्रतिषेधनम् ।।

अभिसमयालङ्कारालोक, पृ० ३१४ (दरभङ्गा-संस्करण १९६०)

परिशिष्ट-१
सहायक ग्रन्थ अनुक्रमणिका

अक्षयमतिनिर्देशसूत्र
अंगुत्तरनिकाय पालि
अट्ठसालिनी धम्मसंगणि-अट्ठकथा
अनन्तद्वारधारणी
अनवतप्तनागराजपरिपृच्छासूत्र
अर्थविनिश्चय महायानसूत्र
अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र
अभिधर्मकोशभाष्य (आचार्य वसुबन्धु)
अभिधर्मकोशभाष्य (आचार्य वसुबन्धु)
अभिधर्मकोशभाष्य-टीका (आचार्य यशोमित्र)
अभिधर्मकोशभूमिका (महापण्डित राहुल सांकृत्यायन)
अभिधर्मदीप
अभिसमयालङ्कारकारिका (आर्य मैत्रेयनाथ)
अभिधर्मसमुच्चय (आचार्य असङ्ग)
अभिधर्मसमुच्चय-टीका
अभिधर्मामृत
आर्यघनव्यूहसूत्र
उत्तरटीका (आचार्य असङ्गकृत भूमिशास्त्र की टीका)
कथावत्थुपालि
कथावत्थु-अट्ठकथा (आचार्य बुद्धघोष)
गूढार्थटीका (महायानसंग्रह की टीका)
चतु:शतकवृति (आचार्य चन्द्रकीर्ति)
जम् यङ् जद् पई डुब् था ।
तर्कज्वाला (आचार्य भावविवेककृत मध्यमकहृदयकारिका-टीका)
थोङ् कन् छोस् क्यि ञिमा डुब् था
दशभूमकसूत्र

टीपवंस
द्वादशायतनसूत्र
धर्मसंग्रहसूत्र
नागराजपरिपृच्छासूत्र
पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र
पञ्चस्कन्धप्रकरण (आचार्य वसुबन्धु)
पितापुत्रसमागमसूत्र
प्रज्ञाप्रदीप, मूलमाध्यमिककारिका टीका, (आचार्य भावविवेक)
प्रतीत्यसमुत्पादसूत्रटीका (आचार्य वसुबन्धु)
प्रमाणयुक्तिनिधि (साक्या पण्डित कुनगा ग्यल् छन्)
प्रमाणवार्तिक (आचार्य धर्मकीर्ति)
प्रमाणवार्तिकालङ्कारभाष्य (आचार्य प्रज्ञाकर गुप्त)
प्रमाणविनिश्चय (आचार्य धर्मकीर्ति)
प्रमाणसमुच्चय (आचार्य दिङ्नाग)
प्रमाणशास्त्रन्यायालङ्कार (भोटदेशीय आचार्य गेदुन् डुब्)
प्रसन्नपदा, मूलमाध्यमिककारिकाटीका (आचार्य चन्द्रकीर्ति)
बाह्यार्थसिद्धिकारिका (आचार्य शुभगुप्त)
बुद्धपालिती मूलमाध्यमिककारिकाटीका (आचार्य बुद्धपालित)
बोधिचर्यावतार (आचार्य शान्तिदेव)
बोधिसत्त्वभूमि (आचार्य असङ्ग)
ब्राह्मणवर्ग
भगवती प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र
भद्रचर्याप्रणिधानसूत्र
भारतयात्रा का विवरण (चीनी यात्री ह्वेनसांग)
भारहारसूत्र
भेदोपरचनचक्र (आचार्य वसुमित्र)
मध्यमकहृदयकारिका (आचार्य भावविवेक)
मध्यमकालङ्कार (आचार्य शान्तरक्षित)
मध्यमकालङ्कारभाष्य (आचार्य शान्तरक्षित)
मध्यमकालोक (आचार्य कमलशील)
मध्यमकावतार (आचार्य चन्द्रकीर्ति)

मध्यमकावतारभाष्य (आचार्य चन्द्रकीर्ति)
महायानसंग्रह (आचार्य असङ्ग)
महायानसूत्रालङ्कार (आर्य मैत्रेयनाथ)
महावंस-टीका
मुनिशासनसुमेरु (भोटदेशीय आचार्य चङ् क्या रोल पई दोर्जे)
मूलमाध्यमिककारिका (आचार्य नागार्जुन)
मैत्रेयपरिपृच्छापरिवर्त (पञ्चविंशति साहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र)
युक्तिषष्टिका (आचार्य नागार्जुन)
युक्तिषष्टिकावृत्ति (आचार्य चन्द्रकीर्ति)
रत्नावली (आचार्य नागार्जुन)
लङ्कावतारसूत्र
लमरिम छेनमो (भोटदेशीय महापण्डित आचार्य चोङ्खा-पा सुमतिकीर्ति)
विग्रहव्यावर्तनी (आचार्य नागार्जुन)
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि प्रकरणद्वय (विंशिका एवं त्रिंशिका, आचार्य वसुबन्धु)
विनिश्चयकोश शास्त्र
विभाषाप्रभावृत्ति (अभिधर्मदीपटीका)
षडायतनसूत्र
शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र
श्रावकभूमि (आचार्य असङ्ग)
सत्यद्वयविभङ्गशास्त्रा (आचार्य ज्ञानगर्भ)
सन्धिनिर्मोचनसूत्रड्ड
सप्तप्रमाणशास्त्रप्रवेशद्वार (भोटदेशीय महापण्डित आचार्य चोंखापा सुमतिकीर्ति)
सप्तप्रमाणशास्त्रालङ्कार (भोटदेशीय आचार्य खेडुब् जे)
समाधिराजसूत्र की प्रस्तावना (डॉ० पी० एल० वैद्य)
सुवर्णप्रभाससूत्र
सौत्रान्तिकदर्शनम् (प्रो० रामशंकर त्रिपाठी, तिब्बती संस्थान, सारनाथ)

•

शून्यमध्यात्मकं पश्य शून्यं पश्य बहिर्गतम् ।
न लभ्यते सोऽपि कश्चिद् यो भावयति शून्यताम् ।।

(अभिधर्मकोश, नवम कोशस्थान)

परिशिष्ट–२

उद्धृत ग्रन्थ अनुक्रमणिका

अंगुत्तरनिकाय पालि

- आलयरामा भिक्खवे, पजा आलयरता, आलयसमुदिता, सा तथागतेन अनालये धम्मे देसियमाने सुस्सूसति सोतं ओदहति अञ्ञा चित्तं उपट्ठपेति । पृ० १५६
- चेतनाहं भिक्खवे, कम्मं वदामि । पृ० १३

अट्ठसालिनी धम्मसंगणि–अट्ठकथा

- अत्थानं सुवुत्ततो सवनतो थ सूदनतो ।
  सुत्ताणा सुत्तसभागतो च सुत्तं सुत्तं ति अक्खातं ।। पृ० ६२

अद्वयवज्रसंग्रह (कुदृष्टिनिर्घात प्रकरण)

- बुद्धो भवेयं जगतो हिताय । पृ० xiv

अध्याशयसंचोदनसूत्र

- यत् किञ्चिद् मैत्रेय, सुभाषितं सर्वं तद् बुद्धभाषितम् । पृ० xxii (भूमिका)
- यदर्थवद् धमापदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेशनिबर्हणं वचः ।
  भवेच्च यच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तदुक्तमार्षं विपरीतमन्यथा ।। पृ० xxii (भूमिका)

अभिधर्मकोश (पुद्गलविनिश्चय)

- ये केचिद् भिक्षवः, श्रमणा वा ब्राह्मणा वा आत्मेति समनुपश्यन्तः समनुपश्यन्ति, त इमानेव पञ्चोपादानस्कन्धान् । पृ० २२३

अभिधर्मकोशभाष्य

- तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादा इष्टाः । पृ० ३६

अभिधर्मकोशभाष्य-टीका स्फुटार्था

- क: सौत्रान्तिकार्थ: ? ये सूत्रप्रामाणिका:, न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिका: । पृ० ६३

अभिसमयालङ्कारकारिका

- इति कारित्रवैपुल्याद् बुद्धो व्यापी निरुच्यते ।
  अक्षयत्वाच्च तस्यैव नित्य इत्यभिधीयते ।। पृ० xxiii (भूमिका)

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता

- अविकारा आयुष्मन्, अविकल्पाऽचित्तता । पृ० २९६
- न हि ते शारीपुत्र, धर्मास्तथा संविद्यन्ते, यथा बालपृथग्जना अश्रुतवन्तोऽभिनिविष्टा: । पृ० २९७

- यथा शारीपुत्र, न संविद्यन्ते, एवमविद्यमाना:, तेनोच्यन्ते अविद्येति ...... तैरसंविद्यमाना: सर्वधर्मा: कल्पिता: । ते तान् कल्पयित्वा द्वयोरन्तयो: सक्ता: । तान धर्मान् न जानन्ति न पश्यन्ति । पृ० २९७

- रूपमेव भगवन्, माया मायैव रूपम् । पृ० २९८
- अपदार्थ: सुभूते, बोधिसत्त्वपदार्थ: । पृ० २९८

- बुद्ध इति भगवन्, नामधेयमात्रमेतत् । बोधिसत्त्व इति भगवन्, नामधेयमात्रमेतत् । तच्च नामधेयमनभिनिर्वृत्तम् । पृ० ३००

चतु:शतक

- सदसत्सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते ।
  उपालम्भश्चिरेणापि तस्य वक्तुं न शक्यते ।। पृ० १५६

चूलवग्ग पालि

- अनुजानाभि भिक्खवे, सकायनिरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं ति । पृ० ९

तथागतगुह्यकसूत्र

- ये मे मृतस्य कालगतस्य मांसं परिभुञ्जीरन्, स एव तेषां हेतुर्भवेत् स्वर्गोपपत्तये यावत् परिनिर्वाणाय तस्य शीलवत: । पृ० २८५

- तद्यथापि नाम शान्तमते, वृक्षस्य मूलच्छिन्नस्य सर्वशाखापत्रपलाशा: शुष्यन्ति, एवमेव शान्तमते, सत्कायदृष्ट्युपशमात् सर्वक्लेशा उपशाम्यन्तीति । पृ० २८५

- चत्वार इमें महाराज, धर्मा महायानसम्प्रस्थितानां विशेषगामितायै संवर्तन्तेऽपरिहाणाय च । कतमे चत्वार: ? श्रद्धा महाराज, विशेषगामितायै संवर्तन्तेऽपरिहाणाय .... गौरवं .... निर्मानता .... वीर्यं महाराज, विशेषगामितायै संवर्तन्तेऽपरिहाणाय च । पृ० २८५

- कतमोऽप्रमाद: ? यदिन्द्रियसंवर: । स चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा न निमित्तग्राही भवति, नानुव्यञ्जनग्राही । .... सर्वधर्मेष्वास्वादं चादीनवं नि:सरणं च यथाभूतं प्रजानाति । पृ० २८६

- अप्रमादो यत् स्वचित्तस्य दमनम्, परचित्तस्यारक्षा, क्लेशरतेपरिकर्मणा, धर्मरतेरनुवर्तनम्, यावदयमुच्यतेऽप्रमाद: । पृ० २८६

- योनिश: प्रयुक्तो हि गुह्यकाधिपते, बोधिसत्त्वो यदस्ति तदस्तीति प्रजानाति, यन्नास्ति तन्नास्तीति प्रजानाति । पृ० २८६

- यां च शान्तमते, रात्रिं तथागतोऽनुत्तरां सम्यक्संबोधिमभिसंबुद्ध:, यां च रात्रिमुपादाय परिनिर्वास्यति, अस्मिन्नन्तरे तथागतेन एकाक्षरमपि नोदाहृतं न प्रव्याहृतं न प्रव्याहरिष्यति । कथं तर्हि भगवता .... विनेयजनेभ्यो विविधप्रकारेभ्यो धर्मदेशना देशिता ? एकक्षणवागुदाहारेणैव .... तत्तज्जनमनस्तमोहरणी .... शरदरुणमहाप्रभेति ।

तदेवं सूत्रे :

यथा यन्त्रकृतं तूर्यं वाद्यते पवनेरितम् ।
न चात्र वादक: कश्चिन्निश्चरन्त्यथ च स्वरा: ।।
एवं पूर्वसुशुद्धत्वात् सर्वसत्त्वाशयेरिता ।
वाग्निश्चरति बुद्धस्य न चास्यास्तीह कल्पना ।। पृ० २८७

• अथ च यथाधिमुक्ताः सर्वसत्त्वा नानधात्वाशयास्तां तां विविधां तथागतवाचं निश्चरन्तीं संजानन्ति । तेषामिदं पृथक् पृथग् भवति—अयं भगवान् अस्मभ्यमिमं धर्मं देशयति, वयं च तथागतस्य धर्मदेशनां शृणुमः । तथागतो न कल्पयति न विकल्पयति सर्वविकल्पजालवासनाप्रपञ्चविगतो हि शान्तमते, तथागतः । पृ० २८७

दशभूमकसूत्र

• चित्तमात्रं भो जिनपुत्राः, यदुत त्रैधातुकम् ।
भूमिका, पृ० xxviii, २३४

धम्मपद

• दूरङ्गमं एकचरं असरीरं गुहासयं ।
ये चित्तं सञ्ञमेस्सन्ति मोक्खन्ति मारबन्धना ।। पृ १७०

• चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं । पृ० २२१

प्रमाणवार्तिक

• मानं द्विविधं मेयद्वैविध्यात् । भूमिका, पृ० xliv

• व्यापारोपाधिकं सर्वं स्कन्धादीनां विशेषतः ।
लक्षणं स च तत्त्वं न तेनाप्येते विलक्षणाः ।। पृ० ६८

प्रमाणवार्तिकवृत्ति (मनोरथनन्दि-कृता (उद्धृत)

• सञ्चितालम्बना पञ्चविज्ञानकायाः । पृ० १९३

प्रसन्नपदा मूलमाध्यमिककारिका-टीका

• न च माध्यमिकस्य सतः स्वतन्त्रमनुमानं कर्तुं युक्तम्, पक्षान्तराभ्युपगमा-भावात् । पृ० २४८

• न परमार्थत आध्यात्मिकान्यायतनानि स्वत उत्पन्नानि विद्यमानत्वात्, चैतन्यवदिति । पृ० २४९

• एतद्धि भिक्षवः परमं सत्यं यदुत अमोघधर्मं निर्वाणम्, सर्वसंस्काराश्च मृषा मोषधर्माण इति । तथा च नास्त्यत्र तथता वा अवितथता वा । मोषधर्मकमप्येतत्, प्रलोपधर्मकमप्येतत्, मृषाप्येतत्, मायेयं बाललापिनी इति । पृ० २१८

महाबलतन्त्र

• बुद्धो भवेयं जगतो हिताय । भूमिका, पृ० १४

बोधिचर्यावतार

• नन्वसिद्धं महायानं कथं सिद्धस्त्वदागमः ।
यस्मादुभयसिद्धऽसौ न सिद्धोऽसौ तवादितः ।। भूमिका, पृ० xxii

• यथा गारुडिकः स्तम्भं साधयित्वा विनश्यति ।
स तस्मिंश्चिरनष्टेऽपि विषादीनुपशामयेत् ।। भूमिका, पृ० xxiv

• सुगतान् ससुतान् सधर्मकायान् प्रणिपत्यादरतोऽखिलांश्च वन्द्यान् ।

• यदा न भावो नाभावो मतेः सन्तिष्ठते पुरः ।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति ।। पृ० ३३७

मध्यमकावतार

• यस्मात् स्वभावेन न तन्निरुद्धं
विनालयं शक्तिरियं हि तस्मात् ।
चिरान्निरुद्धादपि कर्मणस्तत्
क्वचित् फलं सम्भवतीति विद्धि ।। पृ० ३३६

• लोको यतोवक्ति च बीजमात्र-
मुप्त्वा मयोत्पादित एष सूनुः ।
वृक्षोऽपि विन्यस्त इति ह्यवैति
जनिः परस्मान्न च तेन लोके ।। पृ० ३३१

महायानसूत्रालङ्कार

• आलम्बनमहत्त्वं च प्रतिपत्तेर्द्वयोस्तथा ।

ज्ञानस्य वीर्यारम्भस्य उपाये कौशलस्य च ।।
उदागममहत्त्वं च महत्त्वं बुद्धकर्मणः ।
एतन्महत्त्वयोगाद्धि महायानं निरुच्यते ।। भूमिका, पृ० viii

- स्वकेऽवतारात् स्वस्यैव विनये दर्शनादपि ।
औदार्यादपि गाम्भीर्याददविरुद्धैव धर्मता ।। भूमिका, पृ० xxi

- आदावव्याकरणात् समप्रवृत्तेरगोचरात् सिद्धेः ।
भावाभावेऽभावात्–प्रतिपक्षत्वाद् रुतान्यत्वात् ।। भूमिका, पृ० xxi

- यत्सूत्रेऽवतरति, विनये सन्दृश्यते, धर्मतां च न विलोमयति बुद्धवचनस्येदं लक्षणम् । भूमिका, पृ० xxi

महावस्तु

- आर्यमहासांघिकानां लोकोत्तरवादिनां मध्यदेशिकानां पाठेन विनयपिटकस्य महावस्तुनो .... ।
पृ० ३०७

मूलमाध्यमिककारिका

- कात्यायनाववादे च अस्ति नास्तीति चोभयम् ।
प्रतिषिद्धं भगवता भावाभावविभाविना ।। भूमिका, पृ० xx, २१९

- यद्यशून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः ।
चतुर्णामार्यसत्यानामभावस्ते प्रसज्यते ।। भूमिका, पृ० xxvi

- अप्रतीत्यसमुत्पन्नो धर्मः कश्चिन्न विद्यते ।
यस्मात्तस्मादशून्यो हि धर्मः कश्चिन्न विद्यते ।। भूमिका, पृ० xxvi

- तन्मृषा मोषधर्मं यद् भगवानित्यभाषत ।
सर्वे च मोषधर्माणः संस्कारास्तेन ते मृषा ।। पृ० २२०

- अग्नीन्धनाभ्यां व्याख्यात आत्मोपादनायोः क्रमः ।
सर्वो निरवशेषेण सार्धं घटपटादिभिः ।। पृ० २२५

- यदिन्धनं स चेदग्निरेकत्वं कर्तृकर्मणोः । पृ० २२५

- एवं विद्यादुपादानम् । पृ० २२५

- न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ।। पृ० २२८, २६८

- विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम् ।
सर्पो यथा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता ।। पृ० ३३५

- सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते । पृ० २४६

- व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते ।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ।। पृ० २५८

युक्तिषष्टिका

- न चैवास्तितया मोक्षो भवादस्मान्न नास्तितः ।
भावाभावपरिज्ञानान्महात्मा हि विमुच्यते ।। पृ० २२९

- महाभूतादि विज्ञाने प्रोक्तं समवरुध्यते ।
तज्ज्ञाने विगमं याति ननु मिथ्या विकल्पितम् ।। पृ० १९८, २३५

रत्नावली

- बोधिसत्त्वस्य सम्भारो महायाने तथागतैः ।
निर्दिष्टः स तु संमूढैः प्रद्विष्टैश्चैव निन्द्यते ।।
पुण्यज्ञानमयो यत्र बुद्धैर्बोधेर्महापथः ।
देशितस्तन्महायानमज्ञानाद् वै न दृश्यते ।। पृ० xx (भूमिका)

- मरीचिप्रतिमं लोकमेवमस्तीति गृह्णतः ।
नास्तीति चापि मोहोऽयं सति मोहे न मुच्यते ।।
नास्तिको दुर्गतिं याति सुगतिं याति चास्तिकः ।
यथाभूतपरिज्ञानान्मोक्षमद्वयनिश्रितः ।। पृ० २२९

राष्ट्रपालपरिपृच्छासूत्र

- यत्रात्म नास्ति न च जीवो देशित पुद्गलोऽपि न कथञ्चित् ।
व्यर्थः श्रमोऽत्र घटते यः शीलप्रयोग संवरक्रिया च ।।
यद्यस्ति चैव महायानं नात्र हि आत्म सत्त्व मनुजो वा ।
व्यर्थः श्रमोऽत्र हि कृतो मे यत्र न चात्म सत्त्व उपलब्धिः ।। पृ० ३०३

लङ्कावतारसूत्र

- चित्तं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते ।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम् ।।
पृ० xxviii (भूमिका), १९२, १९८, २५१, २७८

- आतुरे आतुरे यद्वद् भिषग् द्रव्यं प्रयच्छति ।
बुद्धा हि तद्वत् सत्त्वानां चित्तमात्रं वदन्ति वै ।। पृ० २५९

- यस्यां च रात्र्यां धिगमो यस्यां च परिनिर्वृत्तः ।
एतस्मिन्नन्तरे नास्ति मया किञ्चित् प्रकाशितम् ।। पृ० २७९

- तथागतगर्भ आलयविज्ञानसंशब्दितः सप्तभिर्विज्ञानैः सह । पृ० २६०

- एतस्मात् कारणान्महामते, तीर्थकरात्मवादतुल्यस्तथागतगर्भोपदेशो न भवति । एवं हि महामते, तथागतगर्भोपदेशमात्मवादाभिनिविष्टानां तीर्थकराणामाकर्षणार्थं तथागतगर्भोपदेशेन निर्दिशन्ति । कथं वताभूतात्मविकल्पदृष्टिपतिताशया विमोक्षत्रयगोचरपतिताशयोपेताः क्षिप्रमनुत्तरां सम्यक्संबोधिमभिसंबुध्येरन्निति । एतदर्थं महामते, तथागता अर्हन्तः सम्यक्संबुद्धास्तथागतगर्भोपदेशं कुर्वन्ति । अत एतन्न भवति तीर्थकरात्मवादतुल्यम् । तस्मात्तर्हि महामते, तीर्थकरदृष्टिविनिवृत्त्यर्थं तथागतनैरात्म्यगर्भानुसारिणा च ते भवितव्यम् । पृ० २६१

- तस्मात्तर्हि महामते, अर्थानुसारिणा भवितव्यम्, न देशनाभिलापाभिनिविष्टेन । पृ० २६२

- बालानां स्वविकल्पसन्तोषणं न तु सा तत्त्वार्यज्ञानव्यवस्थानकथा । पृ० २६२

- एतद्धि महामते, शून्यतानुत्पादाद्वयनिःस्वभावतालक्षणं सर्वबुद्धानां सर्वसूत्रान्तगतम् । पृ० २६३

- यत्र क्वचित् सूत्रान्तेऽयमेवार्थो विभावयितव्यः । पृ० २६३

विग्रहव्यावर्तनी

- यदि काचन प्रतिज्ञा तत्र स्यादेष मे भवेद् दोषः ।
नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मन्नैवास्ति मे दोषः ।। पृ० २४६

- यदि च स्वतः प्रमाणसिद्धिरनपेक्ष्य ते प्रमेयाणि ।
भवति प्रमाणसिद्धिर्न परापेक्षा हि सिद्धिरिति ।। पृ० २३९

सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र

- एकं हि यानं द्वितीयं न विद्यते ।
तृतियं हि नैवास्ति कदाचि लोके ।। पृ० २७४

सन्धिनिर्मोचनसूत्र

- आदानविज्ञानगभीरसूक्ष्मो ओघो यथा वर्तति सर्वबीजो ।
बालान एषो मयि न प्रकाशितो मा हैव आत्मा परिकल्पयेयुः ।। पृ० १५७

संयुत्तनिकाय पालि

- फेनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदोपमा ।
मरीचिसदृशी संज्ञा संस्काराः कदलीनिभाः ।
मायोपमं च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना ।। पृ० २१८

- यथा पि अङ्गसम्भारा होति सद्दो रथो इति ।
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तो ति सम्मुति ।। पृ० २२१

समाधिराजराजसूत्र

- समस्तसुगतोद्गीर्णसर्वसूत्राधिराजतः ।
आर्यचन्द्रप्रदीपाद्धि यथालब्धं ब्रवीम्यहम् ।। पृ० २८७

- एकधर्मेण कुमार, समन्वागतो बोधिसत्त्वो महासत्त्व एतान् गुणान् प्रतिलभते, क्षिप्रं चानुत्तरां सम्यक्संबोधिभिसंबुध्यते । कतमेनैकधर्मेण ? इह कुमार, बोधिसत्त्वो महासत्त्वः सर्वसत्त्वेषु समचित्तो भवति हितचित्तोऽप्रतिहतचित्तोऽविषमचित्तः । पृ० २८८

- तत्र कुमार, सर्वसत्त्वेषु समचित्तो बोधिसत्त्वो महासत्त्वो हितचित्तोऽप्रतिहत-चित्तोऽविषमचित्त इमं सर्वधर्मस्वभावसमताविपञ्चितं नाम समाधिं प्रतिलभते । कतमश्च स कुमार, सर्वधर्मस्वभावसमताविपञ्चितो नाम समाधिः ? यदुत कायसंवरः वाक्संवरः मनःसंवरः । पृ० २८९

सुवर्णप्रभाससूत्र

- यदाशशविषाणेन निःश्रेणी सुकृता भवेत् ।
  स्वर्गस्यारोहणार्थाय तदा धातुर्भविष्यति ।। पृ० २८०

- अनस्थिरुधिरे काये कुतोधातुर्भविष्यति । पृ० २८१

- न बुद्धः परिनिर्वाति न धर्मः परिहीयते ।
  सत्त्वानां परिपाकाय परिनिर्वाणं निदर्श्यते ।।
  अचिन्त्यो भगवान् बुद्धो नित्यकायस्तथागतः ।
  देशेति विविधान् व्यूहान् सत्त्वानां हितकारणात् ।। पृ० २८१

सौन्दरनन्दमहाकाव्य

- श्रद्धाङ्कुरमिमं तस्मात् संवर्धयितुमर्हसि ।
  तद्वृद्धौ वर्धते धर्मो मूलवृद्धौ यथा द्रुमः ।। पृ० ३०९

शून्यतासप्तति

- उत्पादस्थितिभङ्गास्तिनास्तिहीनसमोत्तमम् ।
  लौकिकव्यवहारात्तु बुद्धेनोक्तं न तत्त्वतः ।। पृ० २२८

- हेतुप्रत्ययजा भावाः कल्प्यन्ते ये च तत्त्वतः ।
  प्रोक्ता शास्त्रा ह्यविद्या सा द्वादशाङ्गं ततो भवेत् ।। पृ० २३०

●

परिशिष्ट-३

सामान्य शब्द अनुक्रमणिका

[अ]

[क]

[य]

[र]

[ल]

[व]

[श]

[ष]

[स]

[ह]

ज्ञान के कारण: सौत्रान्तिक मतानुसार (Epistemology of Sautrantika)
आलम्बन object
समनन्तर mind (preceding)
अधिपति Sense
सहकारी प्रत्यय Auxiliary/cooperative cause/conditions